हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

१९३५

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

वार्षिक मूल्य पाँच रुपए

हिंदुस्तानी, १९३५

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

(१) प्राचीन भारत में वास्तुविद्या और मानसार शिल्पशास्त्र—लेखक, श्रीयुत सत्यजीवन वर्मा, एम्० ए० ... ... १, १३१

(२) 'रामचरितमानस' की सब से प्राचीन प्रति—लेखक, श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए० ... ... २५

(३) राजपूताने में मुग़लों का शासन—लेखक, डाक्टर मथुरालाल शर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्०. . ... ४९

(४) कालिदास के ग्रंथों में वर्णित भारतीय शासनपद्धति—लेखक, श्रीयुत भगवत शरण उपाध्याय, एम्० ए० ... ... ६३, १६१

(५) चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता—लेखक, श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (आक्सन), बैरिस्टर-एट्-ला ... १०१, २८७, ३९१

(६) महामहोपाध्याय कवि पंडितमुख्य उमापति उपाध्याय—लेखक, श्रीयुत डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्० (इलाहाबाद) ... ११३

(७) वयणसगाई—लेखक, श्रीयुत सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० ... १५३

(८) संस्कृत के अलंकार-शास्त्र में कवि और काव्य का आदर्श—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० ... ... १८७

(९) राजपूत जाति—लेखक, पंडित विश्वेश्वर नाथ रेउ ... २०१

(१०) हिन्दी का गद्य-साहित्य—लेखक, श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी, एम्० ए० २२५

(११) वेद और उनका रचना-काल—लेखक, पंडित गणेश प्रसाद द्विवेदी, एम्० ए०, एल-एल० बी० ... ... २६५

(१२) बाबू राधाकृष्णदास की अप्रकाशित कविता ... ३०७

(१३) स्वर्गीय 'रियाज़' ख़ैराबादी—लेखक, श्रीयुत इकबाल वर्मा 'सेहर' ... ३१९

(१४) कृत्रिम डिंगल—लेखक, श्रीयुत सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० . . ३३९

(१५) हिंदी की सब से प्राचीन आत्मकथा—'अर्द्ध-कथा'—लेखक, श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ... ... ३४५

(१६) महाराजा अजितसिंहजी के नाम का महाराना सग्रामसिंह जी द्वितीय का एक पत्र—लेखक श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ ३७५

(१७) कविवर नंददास और उनकी रचनाएँ—लेखक श्रीयुत बलभद्रप्रसाद मिश्र, एम्० ए० ३७९

(१८) देवनागरी लिपि-सुधार—लेखक डाक्टर बाबूराम सक्सेना एम्० ए० डी० लिट्० ४१५

(१९) मैथिलकविकुलचूडामणि महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर—लेखक डाक्टर उमेश मिश्र एम्० ए०, डी० लिट्० . ४२५

समालोचना १११, २१७, ३३५

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय प० गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरख प्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य ३।।) सजिल्द, ३) बिना जिल्द।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य सजिल्द १।।), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लैसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफज्ल। मूल्य १)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०। मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३।।)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य सजिल्द ५।।), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य ४।।) सजिल्द, ४) बिना जिल्द।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५।।), बिना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य बिना जिल्द ६), सजिल्द ६।।)

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहले चार वर्ष की कुछ फाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं। मूल्य पहले वर्ष का ८) तथा अन्य वर्षों का ५)

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

// हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ५ } जनवरी, १९३५ { अंक १

प्राचीन भारत में वास्तुविद्या और मानसार शिल्पशास्त्र

[लेखक—श्रीयुत सत्यजीवन वर्मा, एम्० ए०]

प्राक्कथन

प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष डाक्टर प्रसन्नकुमार आचार्य आई० ई० एस्, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्० महोदय ने जिस योग्यता और परिश्रम से पाँच जिल्दो में प्राचीन भारतीय वास्तुविद्या-संबंधी विषयो पर प्रकाश डाला है, उस के लिए वे हमारे धन्यवाद के पात्र है। प्रस्तुत पाँच जिल्दो का प्रकाशन कर हमारे प्रांत की सरकार ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन में भारतीय इतिहास के जिज्ञासुओ के लिए एक अत्यंत उपयोगी सामग्री उपस्थित कर अपनी उदारता और ज्ञानाश्रय का परिचय दिया है। इतिहास के मननशील विद्याव्यसनी सरकार की इस नीति पर अवश्य संतोष प्रकट करेंगे। यह आशा करना अनुचित नही कि इन ग्रंथो के अध्ययन से भविष्य में भारतीय इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड सकेगा और हमारा 'अज्ञात-विगत' बहुत कुछ प्रकाशमय हो कर हमारे *सामने उपस्थित होगा और हमें अपनी प्राचीन संस्कृति और विगत उन्नत अवस्था का* परिचय करा सकेगा। उल्लिखित ग्रंथो के आधार पर ही हम हिंदी पाठको के लिए यह लेख लिख रहे है। एतदर्थ हम श्रीयुत आचार्य के आभारी है।

हमारे देश का प्राचीन इतिहास बहुत कुछ अज्ञात-सा है। यद्यपि निरतर विद्वानो के प्रयत्न से 'अज्ञान-काल' पर प्रकाश पड रहा है, परतु अभी हमारे देश के प्राचीन इतिहास को शृंखलाबद्ध होने में बहुत समय लगेगा। पता नही कितनी सामग्री लुप्त हो गई और अभी कितनी भूगर्भ वा अधकार में पडी है। वास्तुविद्या वा निर्माण-कला हमारे देश के लिए नई नही। प्राचीन नगरो के ध्वंसावशेष में हमें नित्य इस के प्रमाण मिलते है, जिस से यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि किसी समय में हमारे देश की वास्तुविद्या उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। ऐतिहासिक दृष्टि से जब हम वास्तुविद्या की खोज करते है, तो हमें ज्ञात होता है कि 'सूत्र-काल' के पूर्व हमें इस कला पर कोई शास्त्र नही मिलता। वैदिक साहित्य में यत्रतत्र उल्लेख मिलते है जिन के आधार पर हम कह सकते है कि उस समय अर्थात् वैदिक-युग में भी भवन निर्माणकला का विकास हो चला था। वेदो का यद्यपि एक निश्चित काल नही माना जा सकता, फिर भी उस में आए हुए 'धाम', 'धामन', 'गृह', 'हर्म्य', 'वस्त्य', 'द्वार' आदि शब्दो से निश्चय होता है, कि उस समय लोग मकानो में रहने लग गए थे, और उन के निर्माण की विधि भी आविष्कृत हो चुकी थी। अथर्ववेद में आए हुए उल्लेखो से यह कहना कठिन है कि उस समय वास्तुविद्या की क्या दशा थी परतु जिमर के मतानुसार 'चतुश्शाल' वा चौसाल की रचना होती थी। चार स्तभो (उपमित) पर चार 'परिमित' रख कर उन्हे सबद्ध करते थे। फिर 'प्रतिमित' रख कर उस पर 'वश' डाल कर छाजन बनाते थे। दीवाल के स्थान पर टट्टियाँ होती थी। इस म 'पल्द' वा घास की 'पूरियाँ' रक्खी जाती थी। छाजन में काम आने वाली ग्रथियो क भिन्न-भिन्न नाम भी मिलते है, जैसे—नहन, प्राणाह, सदश, परिश्वजल्य आदि। इन चौसालो में कई कोठरियाँ वा कक्ष होते थे।

वैदिक साहित्य

ऋग्वेद में एक स्थान पर सौ द्वार वाले मत्रालय का उल्लेख है। वशिष्ठ 'त्रिधातु शरण' में रहने की अभिलाषा प्रकट करते है। महल स्तभा आदि के लवे-चौडे 'शाला' वाले मकानो का भी उल्लेख आया है। यद्यपि इन उक्तियो में कविकल्पना भी मिली कही जा सकती है, परतु यह तो मानना ही पडेगा कि ये सब केवल निर्मूल कल्पना मात्र नहीं थीं।

'शुल्वसूत्र' और 'तैत्तिरीय सहिता' आदि में यज्ञ-मण्डप और यज्ञ-वेदि का विषय-

वर्णन आया है, जिस में ईंटो से बनाई जानेवाली अग्निशाला और अग्निकुण्डो का विस्तृत वर्णन है। इस से तो निश्चय होता है कि ईंट आदि उस समय बना करती थी। हरप्पा और महेंजोदडो की खोदाई से यदि उस का स्थिति-काल निश्चय हो सका, तो भारत में किस समय से पक्के मकान बनने आरभ हुए, यह भली भाँति जाना जा सकेगा।

वैदिक साहित्य मे 'ग्राम', 'नगर', 'दुर्ग' आदि के उल्लेख भी आए है जिन से हम कह सकते है कि वास्तुविद्या-सबधी ज्ञान उस समय अवश्य विकास को प्राप्त हो चुका था। पत्थरो के दुर्ग, अलकृत हर्म्य, ईंटो के प्रासाद, प्राचीर सुरक्षित ग्रामादि उस समय की अवस्था का अच्छा परिचय देते है।

बौद्धकालीन भारत में अनेक छोटी-मोटी कलाओ और विद्याओं की उन्नति के साथ-साथ वास्तुविद्या भी अच्छी उन्नति कर चुकी थी। बौद्धकालीन नगरो के ध्वसावशेषो की खोदाई से इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड रहा है। ग्रामो, नगरो, आदि का निर्माण वैज्ञानिक दृष्टि से होता था। उन की रक्षा और स्वास्थ्य-सबधी आवश्यकताओ पर ध्यान रक्खा जाता था। 'विहार', 'अर्धयोग', 'प्रासाद', 'हर्म्य', और 'गुहा' आदि पाँच भवनो के भेद स्वय भगवान बुद्ध ने कहे थे। इन के ध्वसावशेष आजकल भी मिलते हैं जिन से उन के निर्माण-कौशल का अच्छा प्रमाण मिलता है। उस समय ऊँचे से ऊँचे स्तूपो का निर्माण होता था। 'आरामो' और 'सघारामो' में अनेक कक्ष होते थे। एक, दो, तीन तल्ले के मकानो का प्रचार था। 'सोपान', 'गवाक्ष', 'अलिंद', 'वातायन' आदि सभी इस के प्रमाण है कि उस समय वास्तुविद्या उन्नत अवस्था मे थी।

बौद्धकालीन साहित्य

राइस डेविड्स का मत है कि बौद्धकालीन इमारतो का ढाँचा ईंटो और लकडियो का होता था, परतु दीवालो पर चूने का पलस्तर होता था, और उस पर चित्रकारी, वेलबूटे आदि अनेक रगो में बनाए जाते थे। 'चित्रागार' शब्द इस का द्योतक है कि उस समय इस की प्रथा थी। फर्निचर का 'पर्य्यंक' उस समय अच्छे बनते थे। एक से तीन व्यक्तियो के बैठने योग्य बेंच, पलग, कोच (आसदि) तिपाई आदि की भी चलन थी। पलग पर 'वितान' होते थे। कुर्सियो के अनेक भेद मिलते हैं—'आसदको' (चतुष्कोण), 'सत्तगो' (बाँहवाली कुर्सी), 'भद्दपीठ' (सोफा), 'पीठिका' (गद्देदार), ऊँचे स्थान पर

बनी कुर्सी (जैसे प्रधान के लिए), बेंत से बुनी कुर्सी (कोच्छम्), पालकी आदि। इन के अतिरिक्त कंबल, शाल, तकिये, गलीचे, चँवर आदि अनेक सामान बनते थे, जिन का उपयोग धनी-मानी लोग करते थे। दरी, मच्छरदानी, परदे, रूमाल, पीकदान आदि का भी उल्लेख बौद्ध-ग्रंथों में आता है, जिस से निश्चय होता है कि उस समय वास्तुविद्या का प्रचार यथेष्ट था।

वाल्मीकि-रामायण में अयोध्या नगरी का वर्णन इतना विशद है, जिस से तत्कालीन नगर निर्माणकला का अच्छा परिचय मिलता है। ऊँचे-ऊँचे गगनचुंबी मकानों की चोटियाँ, शिखर, पताके, देवालय, विमान (बारादरी), के विषय में अच्छी झलक मिलती है। महाभारत में 'मय'-निर्मित अद्भुत प्रासाद का उल्लेख मिलता है। पुराणों में 'मत्स्यपुराण' में आठ अध्याय केवल वास्तु-संबंधी हैं। 'स्कंदपुराण' के चार अध्याय इसी विषय पर हैं। 'गरुड-पुराण' में चार अध्यायों में हर्म्य अर्थात् रहने के मकान, दुर्ग, देवालय आदि सभी प्रकार की इमारतों का विशद वर्णन दिया है। 'अग्निपुराण' में सोलह अध्यायों में वास्तु-संबंधी विषय पर लिखा गया है। 'नारदपुराण' में एक अध्याय में वापी, कूप, तडाग आदि के निर्माण का वर्णन है। इसी प्रकार 'लिंग', 'वायु', 'ब्रह्मांड', 'भविष्य', आदि सभी ने वास्तु-संबंधी विशद वर्णन किया है।

ऐतिहासिक काव्य

'बृहत्संहिता' में पाँच अध्याय वास्तुविद्या से संबंध रखने वाले हैं। जिन में स्थान का चुनाव, नींव, मकान की माप आदि का पूरा वर्णन है।

आगमों में भी (जिन का संबंध अधिकतर शैव-पूजा से है) शिल्पशास्त्र-संबंधी बातें मिलती हैं। कुछ आगमों में वास्तुविद्या से संबंध रखने वाली बातें विशेष-रूप से दी गई हैं। 'कामिकागम' में ६० अध्याय इसी से संबंध रखते हैं और उन की प्रतिपादन शैली ऐसी है जिस से उसे शिल्प-शास्त्र-संबंधी ग्रंथ कहना अनुचित न होगा। 'करणागम' में भी शिल्प पर विशद-रूपेण लिखा गया है। उपरोक्त दोनों आगमों की तुलना 'मानसार शिल्पशास्त्र' से की जाय तो बहुत कुछ असमानता दिखाई पड़ेगा। 'सुप्रभेदागम' में पंद्रह अध्याय शिल्प से संबंध रखते हैं। इसी प्रकार 'वैखानसागम', 'अंशुमद्-भेदागम' में भी 'मानसार' के अनुरूप विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

आगम

'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' में कई अध्याय वास्तु से सबध रखते है, जैसे जनपद-निवेश, भूमि-छिद्रविधान, दुर्गविधान, दुर्गनिवेश, वास्तुक या गृहवास्तुक, वास्तु-विक्रय, सीमा-विवाद, मर्यादा-स्थापन आदि। 'शुक्रनीति' में भी दुर्ग आदि के निर्माण का विधान दिया है। 'हर्षचरित्र' में भी तत्कालीन भारत में प्रचलित वास्तुज्ञान के विषय में उल्लेख मिलता है। 'राजतरंगिणी' मे बाणशाला, चैत्य, विहार आदि का उल्लेख है। 'गर्गसहिता' में वास्तु-सबधी कुछ विधानो का वर्णन है। 'सूर्यसिद्धात', 'सिद्धातशिरोमणि' और 'लीलावती' में भी शकुस्थापन तथा नाप-जोख-सबधी बातो का वर्णन है। काव्यग्रथो में आए हुए उल्लेखो से भी वास्तुविद्या के प्रचार के विषय में आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त होती है। कालिदासकृत 'विक्रमोर्वशी' में 'गगातरंगस्फटिकसोपान' से उस समय के सोपान-निर्माण-विधि का साक्षात् होता है। भवभूति ने अपने 'उत्तररामचरित' में 'वज्रलेप' का व्यवहार किया है, जिस का अर्थ एक प्रकार का कठोर पलस्तर ही होगा। उसी नाटक में चित्रशाला का भी उल्लेख है, जिस से उस समय के भित्तिचित्र और 'चित्रागार' का आभास मिलता है। 'मृच्छकटिक' मे 'गृहदेहली', 'पक्षद्वारक,' 'चतु शाला', 'प्रासार', 'वालाग्र-कपोत', 'पालिका', 'श्रेष्ठिचत्वार', 'वहिर्द्वारशाला', 'पक्वेष्टक', 'आमेष्टक', 'प्रावार', 'प्रतोलीद्वार', 'व्यवहारमडप', 'अधिकरणमडप', 'दुर्गचत्वर' आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है, जिस से पता चलता है कि वास्तुशास्त्र के अनुसार इन वस्तुओ का निर्माण होता था। ये सब एक प्रकार के शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है जो नाटक में व्यवहृत हुए है। इसी भाति कोष में भी अनेक शब्द मिलते है जिन से निर्माणकला का ज्ञान होता है। 'भास्कर' (शिल्पी) 'इष्टक', 'स्तभ', 'अट्टालिका' आदि शब्दो की व्युत्पत्ति पर पाणिनि ने भी विचार किया है। इन बातो से यह निश्चय हो जाता है कि प्राचीनकाल ही से भारत में वास्तुकला का यथेष्ट प्रचार रहा है और बहुत प्राचीन समय से ही इस विद्या की उन्नति होती रही है।

अन्य ग्रथ

सस्कृत में शिल्प का अर्थ कला-कौशल तथा यत्र-सबधी ज्ञान है। इस व्यापक शब्द से ६४ कलाओ का भी बोध होता है। भवन निर्माण-सबधी विषयो में 'शिल्प' शब्द से तात्पर्य वास्तुकला से होता है। परतु 'वास्तु' शब्द से केवल भवन निर्माण-कला का बोध होता है, और वास्तु-

शिल्प और वास्तु

विद्या-सबधी शास्त्रो मे केवल भवन-निर्माण ही का वर्णन नही है, वरन् 'मानसार' के अनुसार इसके अनेक अग है, जैसे—धरा (भू-परीक्षा), हर्म्य (भवन-निर्माण), यान (रथ, यत्री आदि की रचना) और पर्यंक (शयन, पीठ, आदि अनेक आवश्यक वस्तुओ के बनाने की विधि)। अत वास्तु-शास्त्र वस्तुत शिल्प-शास्त्र है।

वास्तु-शास्त्र वा शिल्पशास्त्र पर अनेक ग्रथ उपलब्ध है, यद्यपि उन सब में 'मानसार' की ही प्रधानता है। 'मानसार' में वास्तु-सबधी विषयो का विशद वर्णन है और

ग्रंथ

एक प्रकार से यह ग्रथ सर्वांगपूर्ण कहा जा सकता है। इस के विषय में विस्तृत-रूप से आगे कहा जायगा। 'मानसार' के अतिरिक्त अन्य ग्रथो का सक्षेप में परिचय दे देना आवश्यक है। ये समस्त ग्रथ सस्कृत में है।

१—मयमत शिल्पशास्त्र—इस के रचयिता मयमाचार्य माने जाते है। इस ग्रथ में ३६ अध्याय है। 'मानसार' से तुलना करने पर यह निश्चय हो जाता है कि ग्रथकार ने अवश्य अपने ग्रंथ के प्रणयन में 'मानसार' से सहायता ली है। इस ग्रथ की एक अप्रकाशित प्रति ओरियटल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास में है, जिस के विषय में डाक्टर आचार्य का अनुमान है कि वह 'मानसार' का सक्षिप्त सकलन है।

२—अंशुमद्‌भेद—यह ग्रथ 'मानसार' ही के बराबर है। इस के प्रणेता कश्यप माने जाते है। इस में ८६ अध्याय है। इस में शिल्प वा नक्काशी के विषय में सविस्तर वर्णन है। शेष 'मानसार' की शैली पर है, जिस में 'मानसार' की छाया स्पष्ट है।

३—विश्वकर्म-शिल्प—इस ग्रथ के अनेक नाम मिलते है—विश्वकर्म-प्रकाश; विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र, विश्वकर्मीय-शिल्पशास्त्र। विश्वकर्म-प्रकाश अथवा विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र में मकान, मडक, तालाव आदि की निर्माण-विधि दी है। ये समस्त ग्रथ 'मयमत' के पश्चात् लिखे गए है और 'मयमत'-द्वारा 'मानसार' की छाप उन पर पडी है।

४—अगस्त्य-सकलाधिकार—अगस्त्य-रचित इस ग्रथ की पूरी प्रति प्राप्त नही हुई है। परन्तु एक प्रति में २४ अध्याय मिले है। 'अगस्त्य' और 'मानसार' में स्पष्ट समता दिखाई पडती है। 'मानसार' में 'अगस्त्य' का उल्लेख भी है।

५—सनत्कुमार-वास्तुशास्त्र—इस ग्रथ की अधूरी प्रतियाँ मिली है। एक

प्रति में आठ अध्याय मिले है। आतरिक प्रमाणो से यह निश्चय होता है कि 'सनत्कुमार' ने 'मानसार' से सहायता ली है।

६—**मंडनकृत शिल्पशास्त्र**—मडन के नाम के साथ अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए है—जैसे राजवल्लभ, सूत्रधार, भूपतिवल्लभ। कहा जाता है कि मडन मेद-पथ के राजा कुभकर्ण के आश्रित थे। जिन की पत्नी का नाम मीराबाई था। टाड के अनुसार कुभ ने मेवाड पर सन् १४१९ से १४६९ तक राज किया। मडन के ग्रथ का नाम—शिल्प-शास्त्र, वास्तुशास्त्र और प्रासाद-मडन-वास्तु-शास्त्र मिलता है। इस म चौदह अध्याय है। इन मे भवन, प्रासाद और देवालया के निर्माण की विधि दी है। एक दूसरी प्रति म आठ अध्याय मिलते है, जिन में सात उपरोक्त चौदह अध्याया के अतिरिक्त जान पडते है। इस प्रकार कुल इक्कीस अध्याय होते है। इस समस्त ग्रथ के अध्ययन से पता चलता है कि ग्रथकार ने अपने पूर्व के अनेक ग्रथो से सहायता ली है, जिन मे 'मानसार' एक अवश्य था।

७—**संग्रह**—इस का दूसरा नाम शिल्प-सग्रह भी मिलता है। इस में 'मानसार', मयमत, कश्यप, विश्वकर्म, अगस्त्य, भृगु, पौलस्त्य, नारद, नारायण, मौघल्य, शेषभाष्य, चित्रसार, सारस्वत, विश्वसार, चित्र ज्ञान, कपिजल-सहिता, कौमुदी, ब्रह्मशिल्प, ब्रह्मयामल, दीप्त-तत्र, और दीप्ति-सार—२१ ग्रथो से सकलन किया गया है। इन में से पहले पाँच का तो पता लग चुका है, परतु शेष १६ का अभी कही पता नही लग सका है।

इन प्राप्त शिल्पशास्त्रो की परीक्षा करने पर दो सिद्धात निश्चित होते है एक तो यह कि इन मे से अधिकतर केवल 'सकलन' है। दूसरे यह कि इन सब म 'मानसार' ही सब से सपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टि से लिखा हुआ प्रतीत होता है। अधिक संभव है कि 'मानसार' सब से प्राचीन और प्रामाणिक ग्रथ भी हो। 'मानसार' मौलिक रचना नही है, वरन् यह भी पूर्व-ग्रथकारो के ग्रथो के आधार पर लिखा गया है। ग्रथकार ने स्वय अपने पूर्ववर्ती ३२ आचार्यो का उल्लेख किया है। परतु यह सब होते हुए भी 'मानसार' की महत्ता इस समय सर्व प्रधान मानी जा सकती है।

नाम

इस ग्रथ का 'मानसार' नामकरण क्यो हुआ अथवा इस नाम से यह वास्तु-शास्त्र क्यो प्रसिद्ध हुआ यह विषय विचारणीय तथा चित्य है। ग्रथ मे ७१ अध्याय है। प्रत्येक के अत में—'मानसारे

वास्तु शास्त्रे' लिखा मिलता है। इस के दोनों अर्थ हो सकते है—मानसारकृत वास्तु-शास्त्र, अथवा मानसारनाम वास्तुशास्त्र। अत मानसार से तात्पर्य ग्रथकार या ग्रथ दोनो का हो सकता है। एक स्थान पर ग्रथकार ने स्वय लिखा है —

कृतमिति अखिलमुक्त मानसारपुराणे

पिता महेद्रप्रमुखं समस्तेर्देवैरिद शास्त्रवर

पुरोदितम्। तस्मात्समुद्धृत्य हि मानसारम्

शास्त्र कृत लोकहितार्थमेतत्। (३०-११४-११-८)

उपर्युक्त उद्धरण में 'मानसार' दो अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। (१) वास्तुकार के अर्थ में, और (२) वास्तुशास्त्र के अर्थ में। एक और स्थान पर भी ग्रथकार 'मानाना सार सगृह्य शास्त्रे सक्षेपत क्रमात्' लिखा है, जिस से यह ध्वनि निकलती है कि नाप-जोख के गूढ तत्व से सबध रखनेवाले ग्रथ का नाम 'मानसार' समझा गया। अन्यत्र 'मानसार-र्षिणा कृत शास्त्र मानसारमुनिनामकमासीत्' मिलता है। एक स्थान पर 'मानसारो बहु श्रुत', और फिर 'सकल मुनिवरैर्मानसारादिमुख्यैं' आता है। आतरिक प्रमाण भ्रमात्मक है। परतु वाह्य प्रमाणो से यह निश्चय होता है कि 'मानसार' किसी व्यक्ति-विशेष का नाम था। दडीकृत 'दशकुमारचरित में मालवा का राजा 'मानसार' कहा गया है। यद्यपि यह केवल कल्पित कथा के प्रसग में आया है परतु कथा का आधार ऐतिहासिक हो सकता है और कम से कम यह निश्चय है कि 'मानसार' किसी व्यक्ति का नाम हो सकता है। दो शिलालेखो में भी 'मानसार' नाम आया है जिस से तात्पर्य किसी वास्तु-कार ही स है। ऐसी दशा में यही मानना उचित है कि मानसार-कृत ग्रथ का नाम 'मानसार' पडा और यह वास्तुकार था।

प्रस्तुत सस्करण

मानसार का प्रस्तुत सस्करण जो हमें उपलब्ध है इस के लिए डाक्टर प्रसन्न-कुमार आचार्य हमारे धन्यवाद के पात्र है। यह आप के १७ वर्षों के अहर्निश निरतर प्रयत्न और परिश्रम का फल है जो आज 'मानसार' का उद्धार हो सका है। आप ने बडे परिश्रम और खोज से 'मानसार' की अनेक हस्तलिखित प्रतियो की परीक्षा कर उन के आधार पर अपना सस्करण तैयार किया है। आप के परिश्रम और विद्वत्तापूर्ण गवेषणा की जितनी प्रशसा की जाय उचित है। 'मानसार' का अग्रेजी अनुवाद, उस के आधार पर उपयोगी मानचित्र आदि भी,

आप ने तीन भिन्न भिन्न पोथियो मे प्रकाशित किया है। इस के अतिरिक्त एक जिल्द में आप ने 'भारतीय वास्तुकला' पर विचार किया है और अनेक शोधपूर्ण प्रमाणो और तर्कों से 'मानसार' तथा अन्य शिल्प-शास्त्रो पर प्रकाश डाला है। ये सारे प्रयत्न आप ने केवल 'मानसार' के अध्ययन में सुविधा उपस्थित करने के हेतु किए हैं। 'मानसार' के प्रस्तुत सस्करण को इन की सहायता से अध्ययन करने पर, निकट भविष्य मे प्राचीन भारत की सस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडने की आशा की जा सकती है।

'मानसार' म कुल ७० अध्याय है। आरभ में ग्रथकार ब्रह्मा की वदना करता है और ग्रथ के विषय में कहता है कि मानसार ऋषि ने शिव, ब्रह्मा, और विष्णु तथा इद्र, बृहस्पति, नारद और अन्य मुनियों द्वारा कहे हुए वास्तुशास्त्र को सविस्तर वर्णन करने के लिए यह ग्रथ रचा है।

विषय-सूची

'मानसार' में वस्तुसूची का क्रम इस प्रकार है। प्रथम-मानोपकरण-विधान (नाप-परिमाण), शिल्पी के गुण धर्म, पश्चात्, वास्तुभेद, भू-परीक्षा, भूमि-सग्रह (स्थान-निर्णय), शकुस्थापन (दिशा-निर्णय और दागवेल लगाना), पदविन्यास (स्थान निश्चय करना) भूमि-पूजा, गाँव बसाना, नगर-निर्माण, भूमिलब विधान (ऊँचाई निश्चय करना), गर्भन्यासविधान (नीव रखना), उपपीठविधान (कुर्सी बनाना), अधिष्ठान-विधान (स्तभ की आधार-रचना), पादमान (स्तभ का माप), प्रस्तार-विधान (पाटन-क्रिया), सधिकर्म (जोडाई विशेषत लकडी), विमान-विधान (पक्के मकानो के भेद)। इस के बाद एक से १२ तल्ले के मकानो की माप, रचना विधि आदि का सविस्तर वर्णन है फिर प्राकार, सभा-रचना, देवालयो के बनाने की विधि, गोपुर-विधान (फाटक-रचना) मडप-विधान, शाला (बडा कमरा), बडी जगह मे मकान के भिन्न भागो का स्थान निश्चय करना, गृह-प्रवेश-विधि, द्वारस्थान निश्चय, दरवाज़ो की नाप, राजा के महल की रचनाविधि, रथ, शयन (पर्यंक), सिंहासन, तोरण, मध्यरग (नाटचशाला), कल्पवृक्ष (बेल बूटे) आदि बनाने की विधि, नाप आदि दी है। अत में मुकुट, किरीट, आभूषण, मूर्ति-रचना, लिंग (मूर्ति)-रचना, पीठ, शक्तियो (देवियो) की मूर्ति, उन के वाहन, उन की नाप आदि दी है और उन के अगो की दोष-परीक्षा, उन की मोम की मूर्ति बनाना, उन की आँखें खोलना आदि वर्णित है। प्रसगवश 'मानसार' में राजाओ और भूपतियो के लक्षण और उन के

अभिषेक के विधान का भी उल्लेख सविस्तर मिलता है। इन शीर्षकों से 'मानसार' की सर्वांगपूर्णता का अच्छा आभास मिलता है, परतु सक्षेप में उस के 'वस्तु' के विषय में थोडा और प्रकाश डालना युक्तिसगत होगा।

उस महाविश्वकर्मा (ईश्वर) ने ब्रह्माड की रचना की। इस के चार मुख हैं। पूर्व-मुख का नाम विश्वभू, दक्षिण का विश्वविद्, पश्चिम का विश्व-स्रष्टा और उत्तर का विश्वस्थ है। इन्ही चारो से विश्वकर्मा (कारीगर, वास्तुकार) की उत्पत्ति हुई। पूर्व मुख से विश्वकर्मा, दक्षिण से मय, उत्तर से त्वष्टा और पश्चिम से मनु उत्पन्न हुए। विश्वकर्मा ने इद्र की पुत्री से विवाह किया, मय ने सुरेंद्र-तनया से, त्वष्टा ने वैश्रवण-सुता से, और मनु ने नलकन्या से विवाह किया। विश्वकर्मा से स्थापति उत्पन्न हुए, मय से सूत्रग्रह, त्वष्टा से वर्धकी और मनु से तक्षक उत्पन्न हुए।

आरभ

स्थापति सर्व प्रधान हैं। ये सर्वशास्त्रो के ज्ञाता होते हैं। इन के अधीन शेष तीनो, कार्य-सपादन करते हैं। वास्तुकला-सबधी समस्त ज्ञान इन्हें रहता है, और इन की निगरानी में वास्तु निर्माण होता है। सूत्रग्रह का काम नापना-जोखना और मानचित्र बनाना है। इस के अधीन वर्धकी और तक्षक काम करते हैं। वर्धकी का धर्म चित्रकर्म (रग भरना, बेल-बूटे बनाना) और तक्षक का काम काटना जोडना आदि है। इन चारो के परस्पर सहयोग और मजूरो की सहायता से काम होता है।

मुनियो की आँखो से जो दिखाई पडे उसे 'परमाणु' कहते हैं। 'मानसार' में माप परमाणु से आरभ होता है। सक्षेप में वह इस प्रकार है।

माप

८ परमाणु	बराबर	१ रथधूलि
८ रथधूलि	,,	१ वालाग्र (बाल की नोक)
८ वालाग्र	,,	१ लिक्ष (लीख)
८ लिक्ष	,,	१ यूक (जूँ)
८ यूक	,,	१ यव (जौ)
८ यव	,,	१ अगुल (मोटाई)

अंगुल तीन प्रकार के होंगे। यह ६ जौ, ७ जौ और ८ जौ के भी होंगे। परन्तु स्थायी अंगुल ८ जौ का माना गया है। और—

१२ अंगुल	बराबर	१ वितस्ति (बीता)
२ वितस्ति वा २४ अंगुल	,,	१ विष्णु हस्त
२५ अंगुल	,,	१ प्राजापति हस्त
२६ अंगुल	,,	१ धनुर्मुष्टि हस्त
२७ अंगुल	,,	१ धनुर्ग्रह हस्त
४० हस्त	,,	१ धनु या दंड (लट्ठा)
८ दंड	,,	१ रज्जू (जरीब)

यान (रथादि), शयन (फर्नीचर) की नाप विष्णु हस्त से, विमान (बारादरी) प्राजापत्य हस्त से और वास्तु (मकान, नगर, ग्राम आदि) धनुर्मुष्टि हस्त से होंगे। यों साधारणतया विष्णु हस्त (२४ अंगुल) से सभी नापे जा सकते हैं।

मानदंड अथवा नापने का दंड एक हाथ लंबा होना चाहिए। मानदंड शमी, शाक, चाप, खदिर, तमालक, क्षीरणी, तिन्त्रिणी आदि लकड़ी का बनाना चाहिए।

मानदंड

कर्मुक और बाँस भी काम में आ सकते हैं, परन्तु उस में गाँठ न हो। लकड़ी गीली वा टेढ़ी मेढ़ी न हो। मानदंड की चौड़ाई एक अंगुल, मोटाई आधी अंगुल होनी चाहिए। मानदंड के लिए लकड़ी को तीन मास तक पानी में भिगो कर सिझाना, फिर 'तक्षक' वा बढ़ई से बनवाना चाहिए। दंड के अतिरिक्त रज्जू भी नापने के काम में आती थी। इस के लिए नारियल की जटा, कुश, बरगद की छाल, कपास, किंशुक (सेंभल), ताड़ की छाल, वा केतकी की छाल काम में लाई जाती थी। इस की मोटाई उँगली के इतनी होती थी। बिना गाँठ की एक से तीन 'लर' की होती थी। ब्राह्मणों, देवताओं और क्षत्रियों के मकान के लिए तीन 'लर' की, वैश्यों के काम के लिए दो 'लर' की और शूद्रों के लिए एक 'लर' की रज्जू ही काम में आती थी।

वास्तु के चार प्रकार माने गए हैं। धरा (पृथ्वी, भूमि), हर्म्य (इमारत), यान

वास्तु भेद

(रथादि) और पर्यंक (शय्यादि)। धरा अथवा भूमि मुख्य है, क्योंकि इसी पर हर्म्य आदि का निर्माण होता है। प्रासाद,

मडप, सभा, शाला, प्रपा (जलगृह), रगभूमि आदि को 'हर्म्य' कहते है। स्यदन, शिविका, रथ (तेज सवारी), आदि यान के अतर्गत माने जाते है । पिजडा, हिंडोला, मच (सिहासन), काकाष्ठ (काक के चोच सा आठ पैर का पलग), तख्त और बच्चो के पलग आदि पर्यंक श्रेणी में आते है।

धरा ही सब वस्तुओ का आधार है। इस हेतु चारो वर्णों के अनुसार उस का चुनाव होना चाहिए। 'मानसार' में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारो के लिए 'धरा' के लक्षण दिए है जिन के अनुसार भूमि का निर्वाचन करने से कल्याण होता है। 'भूमि-सग्रह विधान' नामक अध्याय में भूमि के चुनाव की विधि 'मानसार' ने दी है। इस के अनुसार देवताओ और मनुष्यो के हर्म्य के उपयुक्त पश्चिम और दक्षिण की ओर उन्नत चौकोर भूमि अच्छी होती है। मिट्टी मुलायम, चिकनी, छूने में सुखकर, उपजाऊ हो। धवल, रक्तवर्ण, सुनहली, काली वा हल्के नीले रग की हो। भूमि के दक्षिण जलाशय हो और दृश्य मनोहर हो। उस में दीमक, चूहे, हड्डियाँ, घोघे, बालू और बिल न हो। उस में राख, भूसी, रोडे न हो। भूमि में मधु, तैल वा घी की गध न हो । उस में दुर्गंध न हो। पक्षी, मछली, शव (मुर्दे) की बू न आती हो। वहाँ काँटेदार झाडियाँ न हो, शालवृक्ष न हो। वह कछुए की पीठ की भाँति गोलाकार वा त्रिकोण न हो अथवा मुगदर की भाँति आकार में न हो, वहाँ जहरीले साँप, वराह, बदर, शृगाल, उल्लू, जगली भैसे आदि भयानक दुखप्रद जतु न हो । ऐसे स्थान को हर्म्य के लिए उपयुक्त धरा समझना चाहिए। हर्म्य के लिए स्थान सर्व-प्रकार सुरक्षित होना चाहिए।

धरा

जिस स्थान में मकान बनाना हो उसे एक हाथ गहरा खोद कर उस में पानी भर दे। प्रात काल यदि उस में कुछ पानी शेष मिले तो समझना चाहिए कि भूमि अच्छी है, यदि बिल्कुल सूख जाय तो उस स्थान को निषिद्ध समझना चाहिए। यदि कुछ नमी रहे तो उस स्थान में बसने वाले को दु ख होगा। यदि गड्ढे से निकाली हुई मिट्टी फिर उस में भरपूर समा जाय तो वह स्थान साधारणतया अच्छा, परतु यदि मिट्टी बढ जाय तो अति उत्तम । यदि पूरी मिट्टी से गड्ढा न भरे, तो उस स्थान को वर्जित समझना चाहिए। भूमि की सर्वत्र परीक्षा करनी चाहिए । मकान के लिए चुनी भूमि को जुताना चाहिए। सारे काम शुभ

भूमि-परीक्षा

मुहूर्त और यथाविधि होते थे। इस संबंध में 'मानसार' ने उस समय प्रचलित विश्वास के अनुसार विधि लिखी है, जो वास्तुविद्या की दृष्टि से हमारे काम की नहीं।

'शंकुस्थापन' से तात्पर्य खूँटी लगा कर दिशा निर्णय तथा दागबेल लगाने से था। उस की क्रिया का सविस्तर वर्णन 'मानसार' में दिया है। शंकु एक प्रकार का खूँटा होता था। इस की लंबाई एक हाथ होती थी। नीचे का भाग छ अंगुल मोटा, ऊपर का भाग गोलाकार दो अंगुल मोटा होता था। प्रधान खूटे के अतिरिक्त छोटे खूटे भी होते थे, जिन की लंबाई एक हाथ, नीचे की मोटाई ४, वा ५ अंगुल, ऊपर की ½ वा एक अंगुल होती थी। ऊपर की ओर खूँटे का आकार छाते की भाँति होता था—अर्थात् मध्य का भाग कुछ ऊपर उठा हुआ। बड़े खूँटे को भूमि (धरा) के बीच गाड कर विदु-तत्वज्ञ (रेखागणित विशेषज्ञ) नाप-जोख कर दिशाएँ निश्चित करता था। दिशाओं के जानने का साधन केवल सूर्य माना जाता था। इस लिए खूँट की छाया से पूरब और पश्चिम निश्चय कर के शेष दिशा-कोण निश्चित किया जाता था। नाप-जोख की जो विधि 'मानसार' ने दी है उस से उस समय के ज्योतिष और रेखागणित के प्रचार का अच्छा परिचय मिलता है। इस प्रकार दिशाएँ और दिशा-कोण निश्चित कर सूत्रग्रह हर्म्य के माप के अनुसार दागबेल लगाता था। सूत या तो कपास या सन का बना होता था। दडमान का प्रयोग इतना अच्छा नहीं समझा जाता था। सूत ही अधिक उपयुक्त समझा जाता था। नींव के 'गर्भसूत्र' के बाहर और भीतर खूटे लगा कर दागबेल होता था। प्राय आजकल भी यही प्रथा है। खूट महुए, खैर वा अरिमेद काष्ट के होते थे। नींव की खोदाई के लिए खूटा लंबाई में २१, वा २५ अंगुल, मोटाई में मुट्ठी बराबर ऊपर से नीचे उतरता हुआ नुकीला होता था। शंकुस्थापन के समय विशेष प्रकार की पूजा आदि भी होती थी।

शंकुस्थापन

किसी नक्शे के बनाने के पूर्व पदविन्यास निर्णय की आवश्यकता होती थी। 'पद' एक टुकडे को कहते थे। इन्हीं टुकडों की गिनती और विन्यास के अनुसार 'वास्तु' का धराकार होता था। 'पद' चौकोर (समचतुर्भुज), समकोण, गोलाकार, अंडाकार, आदि अनेक आकार के होते थे। 'मानसार' में इन 'पदों' के अनुसार 'पदविन्यास' के ३२ भेद किए गए है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं –

पदविन्यास

नाम	पदसख्या	विशेष
१–सकल	१	देवताओ की पूजा, श्राद्ध, भोजन के योग्य मकान के लिए।
२–पैशाच (पेचक)	४	पूजा तथा स्नानगृह के लिए।
३–पीठ	९	
४–महापीठ	१६	इसका विन्यास कई आकार का होता था।
५–उपपीठ	२५	
६–उग्रपीठ	३६	
७–स्थंडिल	४९	
८–चंडित	६४	इस का विन्यास गोल और समकोण होगा।
९–परमशायिक	८१	चौकोर (समकोण), गोलाकार और त्रिकोण।
१०–आसन	१००	समकोण और गोलाकार।
११–स्थानीय	१२१	
१२–देश्य	१४४	
१३–उभय-चंडित	१६९	
१४–भद्र	१९६	
१५–महासन	२२५	
१६–पद्मगर्भ	२५६	
१७–त्रियुत	२८९	
१८–वर्णाष्टक	३२४	
१९–गणित	३६९	
२०–सूर्य्यविशालक	४००	
२१–सुसंहित	४४१	
२२–सुप्रतिकान्त	४८४	
२३–विशालक	५२९	
२४–विप्रगर्भ	५७६	
२५–विवेश	६२५	

नाम	पदसंख्या	विशेष
२६–विपुलभोग	६७६	
२७–विप्रकांत	७२९	
२८–विशालाक्ष	७८४	
२९–विप्रभक्ति	८४१	
३०–विश्वेशसार	९००	
३१–ईश्वरकांत	९६१	
३२–चंद्रकांत	१०२४	

उपरोक्त ३२ भेदों के अनुसार 'वास्तु' बनाया जाता था। प्रायः नगर, गाँव या मकान बनाने के पूर्व इस बात का निर्णय होता था कि उस का आकार क्या होगा—उस की लंबाई-चौड़ाई क्या होगी। फिर उसी के अनुसार पदविन्यास कर उस में स्थान निश्चित करते थे। 'मानसार' में प्रत्येक 'पदविन्यास' में विशेष विशेष देवताओं आदि के लिए स्थान निश्चित हैं, जिन के अनुसार 'पदों' का संख्या के अनुसार नाम दिया है। ये केवल धरातल के विभाग हैं।

ग्रामविन्यास या नगर-निर्माण पर 'मानसार' में विशद रूप से लिखा गया है। ग्रामविन्यास के आठ भेद दिए गए हैं —दंडक, सर्वतोभद्र, नंद्यावर्त, पद्मक, स्वस्तिक, प्रस्तर, कार्मुक और चतुर्मुख। गाँव बसाने के पूर्व पहले धरा की माप होती थी, फिर पदविन्यास निर्णय होता था, तदनतर पूजापाठ करते थे। इस के पश्चात् ग्रामविन्यास, फिर गृहविन्यास और गर्भविनिक्षेप क्रिया होती थी। अंत में पूजापाठ कर गृहप्रवेश होता था। गाँव के नापने के लिए धनुर्ग्रह दंड (२७ अंगुल) काम में लाते थे। इन आठ प्रकार के गाँवों के विषय में विशेष बात इस प्रकार है।

ग्राम-लक्षण

दंडक तीन प्रकार का, अर्थात् छोटा, मध्यम और बड़ा होता था। सब से छोटा चौड़ाई में २५ दंडक[1] और चौड़ाई में इस का दूना होगा। दो-दो दंडक वृद्धि कर के

---

[1] एक दंड=५ फुट १ इंच।

इसके ३९ भेद हो सकते हैं। मध्यम दडक ३१ दड चौडाई से १०७ दड तक हो सकता है। इस में लबाई चौडाई की दूनी होगी और दो-दो दड की वृद्धि करके इस में ४२ भेद हो सकते हैं। सब से बडा ४५ तरह का हो सकता है। इस की चौडाई ३७ से १२५ दड तक होती है और दो दो-की वृद्धि कर के उतने भेद किए जा सकते हैं। दडक ग्राम समान-कोण होगा। इस के चारो तरफ इसी के आकार (चतुश्र आयत) की प्राचीर होगी। इस में हो कर तीन वा पाँच रथ के योग्य पथ हों। इन की चौडाई १ से ५ दड तक हो सकती है। उस से मिली छोटी-छोटी वीथी (गली) हो। गाँव के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने वाली दो सडको के एक बगल पथ (पैदल के लिए) हो। परतु मुख्य वा प्रधान रथ-मार्ग को दो भाग में काटती हुई एक सडक हो और प्रधान मार्ग के दोनो बगल पटरियाँ हो। प्रधान मार्ग को काटने वाली सडक पर मकान ३, ४, ५ दड चौडे हो और लबाई दुगुनी वा तिगुनी हो। गाँव के चारो ओर प्राचीर और उस के चारो ओर परिखा हो। चारो दिशाओ में चार द्वार और उपद्वार हों। पश्चिम की ओर विष्णु वा मित्र की मूर्ति स्थापित हो। उत्तर-पूर्व कोण पर शिव की प्रतिमा हो। इस प्रकार का दडक ब्राह्मणो के बसने योग्य होता है।[1]

दडक

इस का माप चौडाई में ५० से २०० दड, लबाई में ६१ से ३१३ दड, और लबाई में और चौडाई में दो-दो जोड कर अनेक भेद होगे। परतु यह आवश्यक है कि लंबाई-चौडाई जूस-ताक (युग्म और अयुग्म) हो। सर्वतोभद्र ग्राम चारो ओर से बराबर (चतुरश्राकार, मुरब्बा) होना चाहिए। सर्वतोभद्र ग्राम के बीच में मदिर रहना था। इस में तपस्वी, योगी, यती, ब्रह्मचारी और पाखडी, श्रमण (बौद्ध और जैन) सभी रह सकते थे। इस में एक से पाँच तक रथमार्ग हो सकते है। ग्राम के चारो तरफ से वीथी होगी, इस के दोनो बगल पटरी होगी। गाँव के बीच से जाने वाले मार्ग के एक बगल (पद) पटरी होगी। गाँव से हट कर चारो तरफ कुछ भूमि और एक सडक रहेगी। गाँव चार खडो में विभाजित होगा और बीच

सर्वतोभद्र

[1] इस प्रकार दडक में १२ से ले कर ३०० ब्राह्मण रह सकते है। २४ पति यदि रहें तो इसे 'ग्राम' कहेंगे। नदी तट पर बसाया जाय तो 'पुर'। दीक्षित पचास ब्राह्मण रहें तो 'नगर', यदि ५८ घर हों तो 'मगलक'; यदि सौ घर हों तो 'कोष्टक' कहेंगे।

के चौराहे पर, ब्रह्मा का मदिर एक रहेगा। रक्षा के निमित्त प्राचीर और परिखा होगी। चार द्वार और कुछ उपद्वार (छोटे द्वार) होगे। चौराहे के चारो कोनो पर चार मठ होगे। गाँव के पैशाचभाग (बाहरी भाग) में उत्तर-पूर्व कोने मे क्षेत्रपाल का मदिर होगा। इस मे प्राय सभी वर्ण और पेशे के लोग बसेंगे। 'मानसार' ने उन के स्थान इस प्रकार नियत किए हैं—सब प्रकार के श्रमोपजीवी (मजूर) प्रधान मार्ग पर बसेंगे, दक्षिण ओर वैश्यो के घर और शूद्रो के आवास, पूरब और दक्षिण-पूर्व कोने में *गोपाल (ग्वाले)* और उन *की गायो के लिए गोशाला* हो। दक्षिण और पश्चिम वस्त्र-कर्म करने वाले (जोलाहे), फिर 'सूचिक' (दर्जी), चर्मकार (मोची), पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के बीच लोहारो के घर हो। इन से हट कर मत्स्य-मासोपजीवी (मछुए और कसाई) रहे। उत्तर और उत्तर-पश्चिम के बीच श्रीकर (कायस्थ) लोग, और वैद्य रहें। ग्राम के बाहरी ओर तेली और बल्कल का काम करने वाले (चमडा सिझाने वाले) बसे। गाँव के बाहर (परिखा के बाहर) दूर पर चामुडा का मदिर हो। इस से आगे चाडाल बसें। ग्राम के दक्षिण, पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम *तडाग हो, जिस में पीने और नहाने के योग्य जल* हो। गाँव के चारो कोनो पर अतिथिगृह हो, सत्र या पानीय-मडप, गाँव के दक्षिण-पूर्व हो। इसी प्रकार इच्छानुसार अन्य धर्मालय बनाए जायें।

नद्यावर्त

नद्यावर्त का परिमाण इस प्रकार होगा। चौडाई १५७ से ५६५ दड, लबाई—चौडाई की दूनी होगी। इस के तीन भाग माने गए हैं—दैव, मानुष, और पैशाच। इस का 'पदविन्यास' कई प्रकार का होता था, जैसे—चडित, परम-सायिक, स्थाडिल्य। आवश्यकतानुसार यह छोटा-बडा बनाया *जाता था*, परतु *इस में पैशाच भाग अवश्य होगा और वह नद्यावर्त की विशेषता है।* इस में सडके छोटी-बडी अनेक होती है और उन का प्रसार उत्तर-दक्षिण वा पूरब-पश्चिम होता है। गाँव के भीतर बाहर सडके होती है, मार्ग, क्षुद्रमार्ग, वीथी, आदि आवश्यकतानुसार होती हैं। महामार्ग ककड (कर्करी) से पिटा हुआ होता है। सडके चौडी और कही एक तरफ पटरी, कही दोनो तरफ पटरियाँ होती हैं। इस में सभी वर्ण के लोग बसते हैं। राजा का प्रासाद भी होता है। 'मानसार' ने प्रत्येक वर्ण और व्यवसाय के लोगो के लिए तथा प्रत्येक कार्य के लिए मकानो का स्थान निश्चित किया है। गाँव में वैश्य, ब्राह्मण, शूद्र, राजा, सामत, मत्री, स्वामिक (अमीर) सभी रहते हैं। गाने-बजाने वाले, द्वारपाल, रक्षक

(पुलिस), शिल्पिन, नेत्र-रत्न-कार,[1] शल्य बनाने वाले, कर्णीकार (कहार), मच्छुए, कसाई, धोबी, नाचने वाले, दर्जी, लोहार, पेटिकार (पेटारी बनाने वाले), शस्त्रकार, चर्मकार—सभी बसते थे। इस में देवताओं के अनेक मंदिर होते थे—प्राय विष्णु, शिव, लक्ष्मी, दुर्गा आदि सभी देवी-देवताओं के। गाँव से एक कोस पर चाडाल रहता था। प्राचीर और परिखा आवश्यक थी। चार बडे द्वार चारो दिशाओ में और आमने-सामने होते थे। कुछ छोटे द्वार पूरब और पश्चिम की ओर होते थे। छोटे-बडे जलद्वार या, नालियाँ भी रहती थी।

पद्मक ग्राम १०० दड से १००० दड तक चौडाई में होता था। इस के प्राचीर का आकार चौकोर, कोने पर गोलाकार, षट्कोण वा अष्टकोण होता था। बीच में चौक, सडके—आर-पार निकली हुई; चारो दिशाओं में चार फाटक होते थे। नगर के बीच में मडप होता था।

पद्मक

स्वस्तिक ग्राम चतुष्कोण ल्बाई चौडाई में २०१ दड से २००१ दड तक होता था। यह राजाओ के रहने योग्य होता था। इस का 'पदविन्यास' पद्मसायिक होगा। पैशाच-पद में रथ्य-मार्ग होंगे। इस का विन्यास स्वस्तिक चिन्ह की भाँति होगा। सडके वक्री (वक्ड) की होंगी। बीच की सडक में पैदल चलने वालों के लिए पटरी न रहे, वरन् यह ग्राम के चारो ओर बनी सडक में रहेगी। दरवाजे (फाटक) ऐसे होंगे जैसे हल (त्रिकोण ?), बाहर प्राचीर में आठ द्वार होंगे। कोने पर रक्षक के लिए मीनार हो। इस प्रकार के गाँव की रक्षा का अच्छा प्रबध रहता था। इस में राजा का मकान कई तल्ले का बनता था। सभी तरह के लोगो के लिए मंदिर आदि रहते थे।

स्वस्तिक

'प्रस्तर' आकार में समकोण वा सम-आयत होता था। एक ओर की ल्बाई ३०० से २००० दड तक होती थी। १०० दड बढा कर अनेक भेद हो सकते हैं। यह क्षत्रिया और वैश्यो के रहने योग्य होता था। गाँव के बाहरी भाग (पैशाच भाग) में चौडी सडक होगी, जिस के दोनो ओर पटरियाँ होंगी। भीतरी भाग में पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, सडके, रहेंगी। सडको

प्रस्तर

---

[1] सभवत चश्मा बनाने वाले।

की चौडाई ६ से १२ दड तक होगी। 'देव-भाग' मे राजकीय इमारत, 'वैश्य-सघ' के मकान आदि हो। 'पैशाच-भाग' में श्रमोपजीवी रह, शेष में और लोग।

कार्मुक ग्राम नदी वा समुद्र-तट पर बसाया जाता था। इस में विशेषता यह होती थी कि इस में प्राय वैश्य और उन के आश्रित शूद्र लोग ही रहते थे। यह वाणिज्य-प्रधान होना था। 'मानसार' के अनुसार इस की लबाई ६५ दड से ५०० दड तक होती थी। लबाई इस की दूनी हो सकती थी। इस में इच्छानुसार द्वार हो सकते थे—प्राचीर रहे वा न रह।

कार्मुक

चतुर्मुख की लबाई पूरब से पश्चिम की ओर होगी। माप ३० से १०० दड चौडा—इसी का दूना लबा। दो-दो दड कर के अनेक भेद कर सकते हैं। इस में बीच से हो कर अगल-बगल कोने को काटती हुई और 'मानुष्य' और 'पिशाच' भाग के बीच सडक रहती थी। बीच में ब्राह्मण, के घर फिर मैदान, सडक, दूकानें, वैश्यो के घर, फिर शूद्रो के घर होने थे। अधिकतर शूद्र 'पिशाच-पद' में रहते थे। गाँव के चारो ओर प्रदक्षिणा के लिए एक वीथी होती थी। इस की रक्षा के लिए प्राचीर और परिखा आवश्यक थी। और गाँवो की भाँति मदिर आदि रहते थे।

चतुर्मुख

'मानसार' ने राजाओ की आवश्यकता देखते हुए अनेक प्रकार के नगरो का माप दिया है। इस से पता चलता है कि राजाओ के अस्त्रग्राहिन, प्रहारक, पट्टभज, मडलेश, पट्टधार, पार्ष्णिक, नरेंद्र, महाराज, और चक्रवर्ती आदि भेद होते थे। इन में प्रथम पद में छोटा और क्रमश शेष पद में कुछ बडे होते थे। चक्रवर्ती सब से बडा होता था। इन के नगर आवश्यकतानुसार ४०० दड से ७२०० दड तक परिमाण में होते थे। साधारणतया चौडाई से लबाई सवाई, डेढी, वा दूनी होती थी। इस के अतिरिक्त रक्षित नगर आठ प्रकार के होते थे। (१) राजधानी, (२) नगर, (३) पुर, (४) नगरी, (५) खेट, (६) खर्वट, (७) कुब्जक और (८) पट्टन। राजधानी में राजा का महल होता था और लोग भी बसते थे। यह नदी-तट पर होता था। जिस में चार द्वार, चारो तरफ गोपुर (मीनार) रक्षा-गृह, सेनालय, हाट-बाजार, मदिर आदि होते थे। पुर में साधारणतया बाग-बगीचे, सट्टी (खरीदने बेचने का स्थान), और वैश्यो के घर होते थे। यदि इस में राजा का महल (राजनिलय) हो तो इसे 'नगरी' कहते थे। यदि नगर नदीतट वा पर्वत पर बसा

नगर

हो, सुरक्षित हो, उस में शूद्र रहते हो तो उसे 'खेट' कहते थे। ऊँचे स्थान (खर्वट) पर बसा हो, गोचर भूमि हो, उस में सब तरह (वर्ण) के लोग बसें, तो उसे 'खर्वट' कहते थे। खेट और खर्वट के बीच बसा हुआ नगर 'कुब्जक' होता था। इस में मिश्र जनसख्या होती थी। 'पट्टन' नदी के किनारे बसाया जाता था। यह लबा होता था, सुरक्षित (प्राचीर से) होता था। उस में प्राय व्यवसाय करने वाले रहते थे।

दुर्ग के अनेक भेद थे। (१) शिविर, (२) सेनामुख वा वाहिनीमुख, (३) द्रोणक, (४) सविद्ध, (५) स्थानीय, (६) निगम, (७) स्कधावार, और (८) कोलक। इन के अतिरिक्त गिरिदुर्ग, सलिलदुर्ग, बनदुर्ग, पकदुर्ग, रथदुर्ग, देवदुर्ग, मिश्रदुर्ग भी माने गए है। 'शिविर' सीमाप्रात पर होता था। इस में दस हजार सेना रहती थी। इसे छावनी कह सकते हैं। 'सेनामुख' में सेना के अतिरिक्त राजा भी रहता था। और लोग भी बसते थे। 'स्थानीय' दुर्ग नदीतट या पर्वत पर होता था। यह स्थान रक्षित होता था और इस मे राजा का मकान भी होता था। आजकल इन 'नाका' कह सकते है। 'द्रोण' प्राय नदीतट, विशेषत समुद्र से मिलने वाली नदी के दोनो किनारो पर, बसता था।[1] इस में व्यापारी और अन्य लोग भी रहते थ। 'सविद्ध' सुरक्षित माफी पाए हुए, विद्वान ब्राह्मणो के लिए होता था। इस के समीप एक छोटा गाँव और इस का सबध एक बडे गाँव से होता था। यदि इस में 'महाराज' श्रेणी के राजा का घर हो तो इसे 'कोलक' कहते थे। 'निगम' में चारो वर्ण और कारीगरों के मकान होते थे। 'स्कधावार' में प्राय क्षत्रिय रहते थे। रक्षा के साधन के अनुसार दुर्ग के, गिरि, सलिल (जल), वन, पक (जिस की दीवाल मिट्टी की हो) आदि भेद माने गए है। जहाँ वृक्ष आदि नहीं होते थे, ऐसे वीरान में चोरो आदि स रक्षा क लिए जो दुर्ग बनता था, उसे रथदुर्ग कहते थे। अनुमानत यह लकडी का होता था। 'मिश्र-दुर्ग' जो पहाडो और जगल मे मिला हो और 'देव-दुर्ग' वह था जहाँ से शत्रुओ पर पत्थर आदि फेंके जा सकें। सभवत यह ऊँचे पहाड आदि पर होता था।

साधारणतया सभी दुर्गों के चारो ओर प्राचीर और परिखा होती थी। दीवाले 'इष्टक' (ईंटा) की होती थीं, ऊँचाई १२ हाथ होती थी, बडे-बडे फाटक होता भी

---

[1] यदि इस में महाराज श्रेणी के राजा का घर हो तो इसे कोलक कहते थे।

आवश्यक था। गोपुर या फाटक भी होते थे।

भूमिलंब-विधान शीर्षक अध्याय में 'मानसार' ने हर्म्य (मकान) की लंबाई, चौडाई, और उँचाई का माप तथा उसे निश्चय करने की विधि सविस्तर वर्णन की है।

भूमिलंब 'मानसार' के अनुसार हर्म्य का पदविन्यास (ग्राउंड-प्लैन) चतुरश्रमायात (चौकोर) वर्तुलमायात (समानकोण, गोल), अष्टाश्रमायात (अष्टकोण), षट्कोण, और अंडाकार हो सकता है। 'हर्म्य' १ से १२ तल्ले तक का होता है। इन के भेद ये है—विमान, हर्म्य, गोपुर, शाला, मंडप और वेश्म। इन की चौडाई २ हाथ से ३५ हाथ तक, लंबाई ३ हाथ से ४५ हाथ तक हो सकती है। ऊँचाई एक-तल्ले के मकान से १२ तल्ले के मकान की नीचे लिखे भेदानुसार होती थी—

अद्भुत	—	चौडाई का दूना
धनद् वा सर्वकामिक	—	चौडाई का $1\frac{3}{4}$
पार्सणिक वा जयद्	—	चौडाई का $1\frac{1}{2}$
पौष्टिक	—	चौडाई का $1\frac{1}{4}$
सातिक	—	चौडाई के बराबर

माप के अनुसार हर्म्य के चार भेद माने गए है। जाति, छंद, विकल्प, और आभास। इस में जाति=१ हस्त; छंद=$\frac{3}{4}$ हस्त; विकल्प=$\frac{1}{2}$ हस्त, और आभास=$\frac{1}{4}$ हस्त के होंगे। प्रत्येक हर्म्य की लंबाई, चौडाई और उँचाई के अनुसार उस के तीन भेद माने गए है—कनिष्ठ, मध्यम, और विशाल। उदाहरणार्थ, पाँच तल्ले का मकान इस प्रकार होगा। प्रत्येक प्रकार में भी पाँच भेद माने गए है। जैसे—

पंच-तल हर्म्य

		१	२	३	४	५	
(क) कनिष्ठ—	चौडाई	११	१३	१५	१७	१९	हाथ
	लंबाई	१२	१४	१६	१८	२०	
	उँचाई	२१	२२	२३	२४	२५	
(ख) मध्यम—	चौडाई	१२	१४	१६	१८	२०	
	लंबाई	१३	१५	१७	१५	२१	
	उँचाई	२२	२३	२४	२५	२६	
(ग) विशाल—	चौडाई	१३	१५	१७	१९	२१	
	लंबाई	१४	१६	१८	२०	२२	
	उँचाई	२२	२३	२४	२५	२६	

उँचाई 'जयद्' के अनुसार है।

'मानसार' में एक-तल्ले मकान की निर्माण-विधि सविस्तर दी है। इस के अनुसार प्रथम माप के अनुसार हर्म्य के चार भेद हैं—जाति, छंद, विकल्प, और आभास। पुन हर्म्य के तीन प्रकार हैं—स्थानक, आसन और शयन। इन्हें क्रमशः सचित असचित और अयमचित भी कहते हैं। 'स्थानक' में ऊँचाई के अनुसार माप होता है, इस में प्रतिमा खडी रक्खी जाती है। 'आसन' में लंबाई प्रमाण है, इस में देवता की मूर्ति 'बैठी' रहती है। 'शयन' में चौड़ाई प्रमाण मानी जाती है; इस में प्रतिमा लेटी अवस्था में होती है। हर्म्य पुल्लिंग और स्त्रीलिंग भी माने गए हैं। पुल्लिंग (पुरुष), समाश्र, या समवृत (समान कोण या गोलाकार), और स्त्रीलिंग (वनिता) आयताकार (चौकोर)। पुरुष हर्म्य में पुरुष की प्रतिमा रक्खी जाय, वनिता हर्म्य में स्त्री (देवी) की। परंतु 'स्त्री' हर्म्य में पुरुष की प्रतिमा रक्खी जा सकती है। 'मानसार' ने एक-तल्ले मकान की ऊँचाई के अनेक भाग कर 'उत्सेध' का सविस्तर वर्णन किया है। संपूर्ण 'उत्सेध' के आठ भाग में दो 'मसूरक' (कुरसी) हों, 'अंघ्रि' (स्तंभ) दो भाग, 'प्रस्तर' एक भाग, 'शिखर' दो भाग, 'स्तूपिका' (गुंबद) एक भाग। लंबाई के आठ भाग यों हों—सात भाग वेदी के लिए और एक भाग का चार भाग कर 'ग्रीव' के लिए। वेदी, शिखर और आल्वन (कुरसी) तीनों एक सूत (सीध) में हों। इस प्रकार अनेक बातें 'मानसार' ने विशद रूप से लिखी है, जिन के लिए ग्रंथ विशेष का १९ अध्याय अध्ययन करना आवश्यक है। साधारणतया एक-तल्ले मकानों के कई भाग होते थे, जैसे—गर्भगृह, अंतराल्य मंडप। मकानों में 'गोपुर' (दरवाजे) प्राकार (फाटक, बारादरी), द्वारा, खिड़कियाँ, तोरण आदि भी होते थे। एक-तल्ले मकानों के आठ भेद माने गए हैं जिन का आधार उन की बनावट है। ये भेद यों हैं—वैजयंतिक, भोग, श्रीविशाल, स्वस्तिकबंध, श्रीकर, हस्तिपरिष्ठ, स्कंधतार और केसर। इन के लक्षण इस प्रकार हैं।

एकतल-विधान

(१) वैजयंतिक जिस का शिरस, शिखा और ग्रीव—गोलाकार या वृत्ताकार हो।
(२) भोग — जिस में 'कर्णकूट' ('एटिक पवेलियन') हो।
(३) श्रीविशाल— जिस में मंडप ('बरसाती') हो।
(४) स्वस्तिकबंध— जिस का शिरस अष्टकोण हो।
(५) श्रीकर — जिस की छत चौखड़ा (चतुष्कोण) हो।
(६) हस्तिपरिष्ठ— जिस का शिखर अडाकार हो।

(७) स्कंधन्तार — जिस के शिरष और ग्रीव षट्कोण हो।

(८) केशार — जिस में भद्र, वर्णकूट, शाला, नासि, शिरस, ग्रीव, वृत्ताकार या चौकोर हो।

मकानो के अलंकृत करने के ढग तथा उनके माप भी 'मानसार' ने दिए हैं। एक-तल्ले मकान के अनेक परिमाण 'मानसार' मे दिए हैं। अनेक प्रकार के मकानो के नाम ये हैं —विमान, हर्म्य, आलय, अधिपण्यव, प्रासाद, भवन, क्षेत्र, मदिर, आयतन, वेश्म, गृह, आवास, क्षय, धाम, वास, गेह, आगार, सदन, वसित, निल्य, तल, कोष्ठ और स्थान। विमान में गर्भगृह कुल का [illegible] होता है। हर्म्य में [illegible]। गेह में [illegible] नाली होती है। क्षय के ११ भागो में कोष्ठ ६ भाग होता है, [illegible] नालिक (नाली) गृह—७ भाग और [illegible] (कुल का) गर्भगृह होता है। चौडाई के दो भाग का एक हिस्सा 'तुग' (तहखाना) होता है। मकानो मे अलकृत द्वार, उस में मजबूती के लिए कील होना चाहिए, इत्यादि।

दो से बारह तल्ले के हर्म्य

आकार-प्रकार के अनुसार मकानो के अनेक भेद किए गए हैं। इन सब का सविस्तर 'वर्णन मानसार' ने अध्याय २० से ३० तक में किया है। सक्षेप में उन के भेद यो है —

दो तल्ले —श्रीकर, विजय, सिद्ध, पौष्टिक, कातिक, अद्भुत, स्वस्तिक और पुष्कल।

तीन तल्ले —श्रीकात, आसन, सुखाल्य, केशार, कमलाग, ब्रह्मकात, मेरुकात और कैलास।

चार तल्ले —विष्णुकात, चतुर्मुख, सदाशिव, रुद्रकात, ईश्वरकात, मचकात, वेदिकात और इद्रकात।

पाँच तल्ले —ऐरावत, भूत-कात, विश्वकात, मूर्तिकात, यमकात, गृहकात, यशकात, और ब्रह्मकात।

छ तल्ले —पद्मकात, कातार, सुदर, उपकात, कमल, रत्नकात, विपुलाक, ज्योतिषकात, सरोरुह, विपुलकीर्ति, स्वस्तिकात, नद्यावर्त, और इक्षुकात।

सात तल्ले —पुडरीक, श्रीकात, श्रीभोग, धारण, पजर, आश्रमागार, हर्म्यकात, और हिमकात।

आठ तल्ले —भूकात, भूपकात, स्वर्गकात, महाकात, जनकात, तपसकात, सत्यकात, और देवकात।

नौ तल्ले —सौरकात, रौरव, चडित, भूषण, विवृत, सुप्रतिकात, और विश्वकात।
दस तल्ले —भूकात, चद्रकात, भवनकात, अतरिक्षकात, मेघकात, और अब्जकात।
ग्यारह तल्ले—शभुकात, ईशकात, चक्रकात, यमकात, वज्रकात, और अर्क-कात।
बारह तल्ले— पाचाल, द्रविड, मध्यकात, कलिगकात, विरट्, केरल, वंशकात, मगध-
कात, जनक-कात और गुर्जर।

आकार वा निर्माणशैली के अनुसार हर्म्य के तीन भेद किए गए हैं। नागर, द्राविड और वेसर। इन तीनो की पहचान शिखर से होती थी। स्तूपि वा स्तूपिका का

निर्माण शैली

वर्णों के अनुसार छोटा-बड़ा माप रक्खा गया है। ब्राह्मण के मकान की स्तूपिक ३½ हस्त, देवताओ की ४ हस्त, क्षत्रियो की ३ हस्त, कुमार (युवराज) की २½ हस्त, वैश्यो की २ हस्त और शूद्रो की १ हस्त। स्तूप वा कुवद में एक कील लगती थी। यह 'जन्म' में चतुष्कोण, ऊपर (नितव में) अष्टकोण, 'ग्रीव' पर वृत्ताकार और 'शिखर' पर क्रमश घटता हुआ १ अगुल का हो जाता था। मकानो और मदिरो में अनक 'कक्ष' होते थे। इन में 'चल' और 'अचल' दो प्रकार के सोपान होते थे। शोभा के लिए 'तोरण' और 'भद्र' (बरसाती) बनते थे। इन के 'गोपान' (धरन वा धन्नी) म 'नासि अलकार के लिए होता था। 'प्रच्छादन'—या तो गोलाकार वा बराबर होता था। छत पत्थर, ईंटें, चूने आदि की बनती थी। चूने के साथ 'गुड' का व्यवहार भी होता था। बल्लियो वा 'गोपान के सिरे पर 'ग्राह आदि जानवरो के आकार बनाए जाते थे। दरवाजे लकडी के नक्काशीदार,उन में कपाट लगे हुए—बद करने को उसे 'अर्गल', 'कीलक' आदि लगते थे। खिडकियाँ (पजर) भी होती थी। इन में कभी-कभी 'जालक' वा झँझरी होती थी। मकानो के ऊपरी भाग में पानी के कुड होते थे। 'अलिंद', 'वेदिका', 'मच' आदि आराम के लिए बनते थे। मकानो में 'महाशाला', 'अर्धशाला', 'अनुशाला', 'कोष्टक', 'क्षुद्रशाला', 'शृगारमडप', आदि होते थे। इन में नालियाँ, 'प्रागण', 'वेरम' (मुख्यद्वार), 'गोपुर' (फाटक, दरवाज़े) 'वर्णकूट' (कँगूरे) आदि भी होते थे। हर्म्य को अलकृत करने की सविस्तर विधि 'मानसार' में दी है, जिस से पता चलता है कि उस समय भवन निर्माणकला अपनी उन्नति पर पहुँच चुकी थी।

(अपूर्ण)

'रामचरितमानस' की सब से प्राचीन प्रति

[लेखक—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए०]

'रामचरितमानस' की रचना के सौ वर्ष भीतर की उस की प्रतियाँ अभी तक तीन ही देखने में आई है—

१—'रामचरितमानस' का बालकाड[1]—स० १६६१, वैशाख शु० ६, बुधवार को समाप्त।

२—'रामचरितमानस' सपूर्ण[2]—स० १७०४ के माघ मास में समाप्त।

३—'रामचरितमानस' सपूर्ण[3]—स० १७२१ में किसी तिथि को समाप्त।

इन तीन के अतिरिक्त यदि हम राजापुर की अयोध्याकाड 'मानस' की प्रति को मान ले कि वह गोस्वामी तुलसीदास जी के हाथ की लिखी हुई है—यद्यपि यह अत्यन्त सदिग्ध है—फिर भी सख्या चार से आगे नही बढती। मलीहाबाद की जो प्रति गोस्वामी जी के हाथ की लिखी कही जाती है उसे उन महाशय के अतिरिक्त जिन के अधिकार में वह है कदाचित् किसी अन्य व्यक्ति ने अभी तक नही देखा है।

राजापुर वाली उपर्युक्त प्रति के सबध में कि वह गोस्वामी जी के हाथ की लिखी हुई है या नही इधर कुछ दिनो से विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है। प्रति के अत में न तो लिपिकार का नाम है और न उस की समाप्ति की तिथि दी हुई है। फलत उस के लिपिकार और तिथि के सबध में अनुमानो का ही आधार ग्रहण करना पडा है। स० १६३१ में कवि द्वारा 'रामचरितमानस' की जिस प्रति का लिखा जाना प्रारभ हुआ होगा

---

[1] 'सर्च आव हिंदी मैन्युस्क्रिप्ट्स—रिपोर्ट' (ना० प्र० स० काशी से प्रकाशित) सन् १९०१ ईस्वी, नोटिस २२

[2] वही, सन् १९०० ई०, नोटिस १

[3] 'रामचरितमानस' मूल (हिंदी पुस्तक एजसी, कलकत्ता से प्रकाशित), भूमिका, पृष्ठ २

उस का यह कोई अश नहीं हो सकती, क्योकि प्रथम प्रति होने के कारण उस में स्वतन्त्रतापूर्वक सशोधन किए गए रहे होगे और इस प्रकार का सशोधन-बाहुल्य राजापुर वाली उपर्युक्त प्रति में नहीं है। कहीं कहीं जो चौपाइयाँ छूट गई है उन के न रहने से आगे और पीछे वाली चौपाइयो की सगति ही नही लगती, जिस से यह निष्कर्ष निकलता है कि वह किसी प्रति की प्रतिलिपि मात्र है। प्रतिलिपि भी गोस्वामी जी के हाथ की की हुई नही है, इस में सदेह बहुत कम है, कारण यह है कि उस की लिखावट स० १६६९ में लिखे गए उस पचनामे से बहुत भिन्न जान पडती है जिस के शीर्ष की कतिपय पक्तियाँ निस्सदेह गोस्वामी जी के हाथ की लिखी हुई है। यह भिन्नता दोनो के मिलान करने पर स्पष्ट हो जाती है। 'वाल्मीकि-रामायण के उत्तरकाड की स० १६४१ में लिखी हुई एक प्रति काशी के सरस्वती भवन में सुरक्षित है। वह किसी तुलसीदास की लिखी हुई है, जैसा उस की पुष्पिका से ज्ञात होता है। कहा जाता है कि उस के लेखक तुलसीदास हमारे गोस्वामी तुलसीदास थे। उस के लेखक गोस्वामी तुलसीदास ही थे या अन्य कोई तुलसीदास यह एक अलग विचारणीय प्रश्न है। थोडी देर के लिए यदि हम उसे गोस्वामी तुलसीदास ही की लिखी मान ले तो भी उस की लिखावट इस राजापुर की प्रति की लिखावट से बहुत भिन्न है, यह दोनों के मिलान करने पर आप से आप जान पडता है।[१] फलत यह लगभग सिद्ध है कि राजापुर की अयोध्याकाड की प्रसिद्ध प्रति गोस्वामी जी के हाथ की लिखी हुई नही है। यह गोस्वामी जी के हाथ की शुद्ध की हुई भी नही है, यह भी साफ जान पडता है क्योकि अन्यथा उस में इतनी अधिक अशुद्धियाँ न मिलनी चाहिए थी।[२] प्रति प्राचीन अवश्य है किंतु वह 'मानस'-जन्म के सौ वर्ष के भीतर की है या नही यह जानने के लिए प्रस्तुत साक्ष्य अपर्याप्त है।

अत यह निर्विवाद है कि उपर्युक्त प्रथम प्रति ही 'रामचरितमानस' की ऐसी सब से अधिक प्राचीन प्रति है जो हमें उपलब्ध है। हमारे लिए यह और भी हर्ष की बात

---

[१] राजापुर की प्रति के पन्नों, पचनामे और 'वाल्मीकि-रामायण' उत्तरकांड की प्रति के पन्नों के छायाचित्र पाठकों को श्री रामदास गौड लिखित 'रामचरितमानस की भूमिका' या डा० श्यामसुंदरदास लिखित 'गोस्वामी तुलसीदास' में मिल सकते हैं।

[२] इस विषय पर एक अच्छा लेख श्री इंद्रदेवनारायण जी का है जो 'सुधा' वर्ष ६, खड २, स० ६, के पृ० ५६० पर प्रकाशित हुआ है।

है कि वह गोस्वामी जी के जीवन-काल की है। उस के लिखे जाने के लगभग २० वर्ष बाद गोस्वामी जी का गोलोकवास हुआ। वह और भी महत्त्वपूर्ण इस लिए है कि उस के लिपिकाल से कम से कम ४३ वर्ष पीछे तक की कोई अन्य प्रति हमें उपलब्ध नहीं है। किंतु यह अत्यंत खेद का विषय है कि हम ने उस प्रति का अभी तक जैसा उचित था वैसा उपयोग नहीं किया है।

अयोध्या में सरयू जी के तट पर वासुदेवघाट नाम का एक घाट है, उस से थोड़ी ही दूर पर वासुदेव भगवान का प्रसिद्ध मंदिर है। इस मंदिर से सरयू जी की ओर जाने पर दो ही तीन मंदिरों के बाद 'श्रावण-कुंज' नाम का एक अच्छा सा मंदिर पड़ता है। यह मधुर अली जी के स्थान के नाम से अयोध्या में प्रसिद्ध है। इस समय उसी गद्दी पर महंत श्री जनककिशोरीशरण जी महाराज हैं। इन के अतिरिक्त कुंज के दो और अधिकारी हैं, एक हैं सर्बराहकार श्री जानकीवल्लभशरण और दूसरे हैं पुजारी जी। तीनों सज्जन उदार प्रकृति के साधु हैं। इन्हीं के अधिकार में 'मानस' के बालकांड की उपर्युक्त प्रति रहती है। एक अन्य भी विशालकाय 'आदि रामायण' नामी संस्कृत ग्रंथ की प्रति इन महानुभावों के अधिकार में है। यह 'रामायण' ब्रह्म-भुशुंडि-संवाद के रूप में है और आकार में 'वाल्मीकि-रामायण' से कदाचित् ही छोटी होगी।

'रामचरितमानस' की जो प्रति इस कुंज में है उस के दो अंश हैं—एक प्राचीन और दूसरा अपेक्षाकृत अत्यंत नवीन। प्राचीन अंश केवल बालकांड है, यद्यपि उस में भी पाँच पत्रे दूसरी श्रेणी के हैं। प्राचीन अंश एक हाथ का लिखा हुआ है, और दूसरा अंश कुल एक दूसरे हाथ का। ऐसा जान पड़ता है कि बालकांड की प्रति को प्राप्त करने के अनंतर यह अधिक समीचीन समझा गया है कि उस के जो पत्रे खंडित हैं उन्हें किसी दूसरी प्रति से प्रतिलिपि कर के प्रति में रख दिया जावे जिस से कम से कम बालकांड पूरा हो जावे, और शेष कांड भी उसी के साथ किसी अन्य प्रति से प्रतिलिपि कर के साथ रख दिए जावें जिस से पाठ के लिए 'रामचरितमानस' की पुस्तक पूरी रहा करे। प्राचीन और नवीन दोनों अंशों के पत्रे एक ही आकार के हैं—लगभग ९३⁄४×३३⁄४ इंच—किंतु दोनों के कागजों में बहुत अंतर है। दूसरे अंश का कागज पहिले की अपेक्षा बहुत नवीन जान पड़ता है। दूसरे अंश का कागज हलकी पीली आभा लिए श्वेत है किंतु पहिले अंश का कागज भूरा हो चला है। बालकांड की समाप्ति पर लिखा हुआ है—

॥ सुभमस्तु ॥ सवन् १६६१ वैशाय शुदि ६ बुधे ॥

इस से प्राचीन अश का लिपिकाल स्पष्ट है—क्योकि यह पत्रा भी प्राचीन अश का ही है, किंतु दूसरे अश मे किसी काड की समाप्ति पर कोई पुष्पिका नही दी हुई है जिस से किसी भी निश्चित तिथि का अनुमान करना कठिन है। सन् १९०१ ईस्वी की 'सर्च ऑव हिंदी मैन्युस्क्रप्ट्स रिपोर्ट' में इस प्रति की जो नोटिस निकली थी[१] उस का आशय यह था कि इस प्रति के ऊपर के पाँच पृष्ठ पीछे से लिख कर लगाए गए है, शेष पुराने है, प्रथम पन्ने के ऊपर हिंदी में कुछ लिखा हुआ है, जो स्पष्ट पढा नही जाता पर उस में स० १८८९ कार्तिक कृष्ण ५ रविवार लिखा हुआ जान पडता है, जिस से ज्ञात होता है कि ये पृष्ठ स० १८८९ में बदले गए थे। पर लेखक के देखने में कोई ऐसी बात नही आई जिस से वह इस परिणाम पर पहुँचता। उस ने यह अवश्य देखा कि प्रति का पहिला पन्ना बहुत मोटा है और वह दो पन्नो को जोड कर बनाया गया है। फिर भी, सूर्य की ओर उठा कर देखने में उस के आरपार दिखाई पडता है। लेखक ने इस प्रकार जब उसे उठा कर देखा तो उसे पन्ने के निम्न भाग में यह पक्ति मिली, 'सुनाय के लोभाय वस में किया', जिस का आशय कदाचित् यह है कि किसी भक्त ने यह प्रति या कोई अन्य वस्तु अपने इष्ट देव को सुना कर उन्हे मुग्ध किया। इस के अतिरिक्त अन्य कोई लेख उसे पहिले पृष्ठ पर नही मिला।

उपर्युक्त बालकाड की प्रति में इस समय केवल पाँच पत्रे खडित है, जिन में से चार प्रारभिक है और पाँचवाँ बीच का है। 'मानस' के एक बडे प्रेमी काशी के प० विजयानद त्रिपाठी है। आपने भी वह प्रति देखी है। कुछ दिन हुए लेखक आप से मिला था। आप का अनुमान है कि बालकाड के प्रारभ में गुरु की वदना तुलसीदास जी ने जिस सोरठे मे की है[२] उस में 'हरि' के स्थान पर 'हर' पाठ होना चाहिए। प्रचलित पाठ है—

बदौं गुरु पद कज कृपासिधु नर रूप हरि।

आप का अनुमान है कि वस्तुत पाठ इस प्रकार होना चाहिए—

बदौं गुरु पद कज कृपासिधु नर रूप हर।

---

[१] नोटिस स० २२

[२] वदना के सोरठे, बालकाड, सोरठा ५

आप का यह कथन निराधार नहीं है। लेखक के संग्रह में भी 'मानस' की एक अत्यन्त सावधानता-पूर्वक लिखी हुई पुरानी प्रति है, जिस में 'हरि' के स्थान पर 'हर' पाठ मिलता है। पहिले का पाठ जो भी रहा हो इस समय हमें उस से विशेष संबंध नहीं है। किंतु, त्रिपाठी जी का यह भी अनुमान है कि संभवतः 'हर' पाठ को निकाल देने के उद्देश्य से वैरागियों ने प्रारंभ के पत्रे प्रति से गायब कर दिए और नए पत्रे लगा दिए। लेखक बड़े दुख के साथ आप के इस अनुमान से असहमत होने के लिए बाध्य है, क्योंकि यह बात उस की समझ में नहीं आती कि 'हर' पाठ निकाल देने के लिए प्रारंभ के चार पत्रों को गायब कर देने की क्या आवश्यकता थी, काम तो केवल पहिले पत्रे के गायब कर देने से ही चल सकता था।

प्रारंभ के इन चार पत्रों के अतिरिक्त बीच का भी एक पत्रा, जैसा ऊपर कहा गया है, उपर्युक्त प्रति में नहीं था और पीछे से लिख कर रक्खा गया है। जो पत्रा इस प्रकार खंडित है, उस में साधारणतः आना चाहिए था राम-जन्म-सूचक सुप्रसिद्ध छंद—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।[1]

इस छंद के तीसरे चरण का प्रचलित पाठ है—[2]

लोचन अभिरामं तनु घन स्यामं निज आयुध भुजचारी।

इस समय जो नवीन पत्रा खंडित पत्रे के स्थान पर लगाया गया है उस में पहिले पाठ था—

लोचन अभिरामं तनु घन श्यामं निज आयुध भुजधारी।

किंतु अब 'धारी' के 'ध' की गर्दन चाकू या किसी नोकदार वस्तु से रगड़ कर निकाल दी गई है और वह चारी की भाँति पढ़ा जाता है। कागज के छिलने का चिन्ह बहुत स्पष्ट है।

आगे वाले पत्रे पर, जो पुराना है, छंद का उत्तरार्द्ध पड़ता है। उस में यह पंक्ति आती है—

सो मर्महित लागी जन अनुरागी भएउ प्रगट श्रीकंता।

और 'श्रीकंता' की दाहिनी ओर हाशिए पर पीछे के किसी हाथ द्वारा लिखा हुआ है—

"श्रीकंता से चारि भुजा"

उपर्युक्त त्रिपाठी जी का अनुमान है कि असली पत्रे पर 'भुजचारी' पाठ रहा होगा जिस को

---

[1] 'रामचरितमानस', बालकांड, दो० १९२

[2] श्री रामदास गौड़ द्वारा संपादित 'रामचरितमानस' का पाठ।

बदलने के लिए और 'भुजचारी' पाठ रखने के लिए असली पत्रे को वैरागियों ने निकाल फेंका, क्योंकि वे द्विभुज राम के उपासक होते हैं। पहिले का पाठ 'भुजचारी' रहा होगा इस की संभावना बहुत अधिक है—'श्रीवत्स' से इस का संकेत मिलता ही है। 'अध्यात्म-रामायण' में भी जिस से रामजन्म का प्रसंग 'मानस' में लिया गया है चार भुजाओं के ही स्वरूप में रामावतार होता है।[1] किंतु वस्तुतः इस प्रति में क्या पाठ था और पत्रा किसी उद्देश्य से गायब किया गया या स्वतः खंडित हो गया था यह सब इतने ही साक्ष्य के आधार पर कहना कठिन है।

बालकांड की इस प्राचीन प्रति का लिपिकार कौन रहा होगा यह एक आवश्यक प्रश्न है। प्रति के अंत में लिपि-काल देते हुए भी उस ने अपना नाम नहीं दिया है। अंतिम पत्रे की एक ओर लिपि-काल दिया हुआ है और दूसरी ओर उस की पीठ पर एक बहुत मोटा कागज चिपकाया हुआ है। श्रावणकुंज के पड़ोस में ही तुलसीदास के एक बड़े प्रेमी श्री सीताप्रसाद जी रहा करते थे। इस प्रति को जीर्ण अवस्था में देख कर उन्हों ने प्रत्येक पत्रे के किनारे किनारे हाशिए पर पतला पतला कागज चिपका दिया, जिस से पत्रे और घिस कर शीघ्र नष्ट न हो जावें। उन्हीं ने अंतिम पत्रे की पीठ पर यह मोटा कागज भी चिपका दिया। उस मोटे कागज पर उन्होंने इस आशय का उल्लेख किया है कि प्रस्तुत प्रति उन भगवानदास की लिखी हुई है जिन की लिखी हुई 'विनयपत्रिका' की एक प्रति रामनगर, काशी के एक चौधरी साहब के पास है, और यह किसी भगवानदास ने इस अंतिम पत्रे की पीठ पर प्रस्तुत कागज़ के नीचे अपना नाम भी दिया है किंतु कागज अत्यंत प्राचीन होने के कारण पत्रा फटा जा रहा है इस लिए यह मोटा कागज उन्होंने चिपका दिया। लेखक ने पत्रे को उठा कर सूर्य की ओर उस के आर-पार देखने की बहुत चेष्टा की किंतु वह कागज की मोटाई के कारण बेकार हुई। रामनगर वाली 'विनयपत्रिका' की उपर्युक्त प्रति भी उस की देखी हुई है,[2] दोनों प्रतियों की लिखावट इतनी अधिक मिलती है कि दोनों एक ही व्यक्ति की लिखी हुई जान पड़ती है। रामनगर वाली प्रति की समाप्ति में लिखा हुआ है—

---

[1] 'अध्यात्म रामायण', ३ सर्ग, श्लोक १६–१८

[2] रामनगर की इस प्रति के संबंध में लेखक फिर कभी लिखेगा।

"लीषीतं भगवानर्ब्राह्मणेन॥"

जिस से यह स्पष्ट है कि वह भगवान नाम के किसी ब्राह्मण की लिखी हुई है। कुछ आश्चर्य नहीं कि बालकांड की प्रस्तुत प्रति भी उन्हीं भगवान ब्राह्मण की लिखी हुई हो। उपर्युक्त त्रिपाठी जी का अनुमान है कि यह 'भगवान' वही है जिस के पुत्र 'कृष्ण' नाम के व्यक्ति ने स० १६६९ में लिखे गए पचनामे पर साक्षी भरी है। पचनामे के शीर्ष की कुछ पंक्तियाँ तुलसीदास के हाथ की लिखी हुई मानी ही जाती है। 'कृष्ण' की साक्षी इस पचनामे में दाहिनी ओर नीचे से चौथी और पाँचवी पंक्ति मे[1] इस प्रकार है—

'साछी क्रीन्द दूब भगवन सुत।'

'क्रीन्द दूब' तो अवश्य ही 'कृष्न दूबे' के स्थान पर अशुद्ध लिखा गया है। निश्चय ही यह कृष्ण दूबे लगभग निरक्षर ब्राह्मण थे। सभव है उन्हो ने 'भगवान' के 'वा' की आकार की मात्रा भी पर्याप्त मात्रा-बोध न होने के कारण छोड दी हो। यह असभव नही है कि यही 'भगवन' जो कृष्ण दूबे के पिता थे उपर्युक्त रामनगर वाली प्रति के 'भगवान ब्राह्मण' भी हो, किंतु यह भी सभव है कि 'भगवान ब्राह्मण' कृष्ण दूबे के पिता 'भगवन' से भिन्न हो क्योकि 'भगवान' एक बहुत प्रचलित नाम है और कदाचित् उस समय भी इसी प्रकार प्रचलित था, क्योंकि उपर्युक्त पचनामे में ही हमें एक अन्य साक्षी, प्रारभ से सातवें, 'भगवान' मिलते है जो केशवदास के सुत है।[2] यदि त्रिपाठी जी का अनुमान सत्य हो तो ये दोनो प्रतियाँ और भी अधिक महत्त्वपूर्ण इस लिए सिद्ध होगी कि वे तुलसीदास के किसी पडोसी की ही लिखी हुई है। किंतु, यह स्पष्ट है कि किसी निश्चय पर पहुँचने के लिए प्रस्तुत साक्ष्य अपर्याप्त है।

तीन सौ से अधिक वर्षों की पुरानी प्रति कितने हाथो में गई होगी यह कौन कह सकता है, किंतु कई महानुभावो ने सशोधनो के रूप में उस पर अपनी छाप भी छोड दी है। यदि अधिक नही तो कम से कम आधे दर्जन हाथो द्वारा प्रति का सस्कार अवश्य हुआ है। पूर्व मुद्रण-काल में जब ग्रथो की पाडुलिपियाँ ही तैयार की जाती थी, प्रतिलिपि करने में बहुत सी अशुद्धियाँ हो जाया करती थी इस लिए यह एक नियम सा हो गया था

---

[1] देखिए श्री रामदास गौड कृत 'रामचरितमानस की भूमिका', पाँचवाँ खड, पृष्ठ ६१ के सामने।

[2] वही।

कि अधिकतर उस व्यक्ति से भिन्न जो प्रतिलिपि करता था एक व्यक्ति मूल प्रति से इस प्रति की जाँच कर के जहाँ जहाँ अशुद्धि मिलती थी हरताल लगा कर संशोधन कर देता था। तब वह उस व्यक्ति को दी जाती थी जो उस का 'लिपिकर्म' कराता था। अत यदि किसी प्रति मे हमें स्थान स्थान पर हरताल लगा हुआ दिखाई पडता है तो हम यह समझ लेते है कि प्रति शोधी हुई है और यदि हमें ऐसा नही मिलता तो साधारणत हम यह समझते है कि प्रति बिना शोधे हुए छोड दी गई थी। बिना हरताल लगाए भी, गलतियो को केवल काट कर सशोधन किया जा सकता था, किंतु प्रतियो का पाठ साफ सुथरा रखने के उद्देश्य से हरताल लगा कर ही अधिकतर सशोधन किया जाता था। उपर्युक्त बालकाड की प्रति मे हमें दोनो सशोधन विधियाँ मिलती हैं। कुछ स्थलो पर तो हरताल लगा कर सशोधन किया गया है और कुछ स्थलो पर केवल स्याही से काट कर। जिस से यह जान पडता है कि हरताल लगा कर जो सशोधन किया गया है वही मूलप्रति के अनुसार होगा, दूसरे प्रकार का सशोधन नही। दूसरे प्रकार का सशोधन मन-माना भी हो सकता है, और उसे उस का कर्ता प्रत्येक समय कर सकता था। ऐसे दूसरे श्रेणी के सशोधन भी प्रति भर में मिलते हैं। ये पिछले प्रकार के सशोधन पहिले प्रकार के सशोधनो के पीछे किए गए होगे ऐसा जान पडता है, क्योकि अन्यथा हरताल लगा कर उन का फूहडपन दूर कर दिया गया होता। शुद्ध पाठ के लिए हरताल वाले सशोधनो को मानना चाहिए। लेखक ने इसी धारणा से पहिले प्रति उठाई और वह उन पाठो को लेता गया जो हरताल लगा कर बनाए गए थे, किंतु कुछ दूर आगे बढने पर उसे ज्ञात हुआ कि इस प्रकार का सशोधन केवल भूलो को ठीक करने तक ही सीमित नही रक्खा गया है बल्कि उस का उपयोग कही कही कम उपयुक्त जान पडने वाले शब्दो को निकाल कर उन के स्थान पर उन के सशोधक को अधिक उपयुक्त जान पडने वाले शब्दो को स्थान देने के लिए भी किया गया है, जिस से यह सिद्ध होता है कि हरताल लगा कर किया हुआ संशोधन भी बहुत कुछ मनमाना है और उस का उद्देश्य, जैसा वस्तुत उसे होना चाहिए था, इतना ही नहीं है कि मूलप्रति का पाठ प्रतिलिपि में भी अक्षुण्ण रूप में रक्खा जावे। ऐसे कुछ सशोधनो का उल्लेख नीचे किया जाता है—

पूर्व का पाठ—जीव चराचर सब के राखे।
सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥२००॥

सशोधित पाठ—जीव चराचर बस के राखे।
सो माया प्रभु सो भय भाखे ॥२००॥

ऊपर की चौपाई में सभव है प्रतिलिपि में 'बस' के स्थान पर 'सब' पाठ हो गया हो, किंतु नीचे के दोहे में इस प्रकार की भूल हुई नही जान पडती—

पूर्व का पाठ—प्रेम मगन कौसल्या निसिदिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान ॥२००॥

सशोधित पाठ—प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।
सुत सनेह बस मात तब बाल चरित कर गान ॥२००॥

प्रतिलिपि करने में 'मात तब' के स्थान पर 'माता' कभी नही हो सकता था, यह स्वत स्पष्ट है। इसी प्रकार नीचे की चौपाई में भी परिवर्तन किया गया है—

पूर्व का पाठ—विधु बदनीं मृग बालक लोचनि।
निज स्वरूप रति मानु बिमोचनि ॥२९७॥

सशोधित पाठ—विधु बदनीं मृग सावक लोचनि।
निज स्वरूप रति मानु बिमोचनि ॥२९७॥

प्रतिलिपि करने में 'सावक' के स्थान में 'बालक' पाठ कभी नही हो सकता था। 'बालक' शब्द को कम उपयुक्त समझ कर ही 'सावक' पाठ बनाया हुआ जान पडता है। यह सतोष की बात है कि इस ढग के सशोधनो की सख्या अधिक नही है, और अधिकतर स्थलो पर जहाँ इस प्रकार के सशोधन है पूर्व का पाठ भी पढा जा सकता है।

एक दूसरे ढग का सशोधन हुआ है, अनुस्वार-सूचक बिंदु के नीचे चद्राकार रेखा बना कर उसे चद्रबिंदु में परिवर्तित करने में। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रतिलिपिकार ने स्वय प्रति भर मे कही भी चद्रबिंदु का प्रयोग नही किया था, सानुनासिक और अनुस्वरित दोनो प्रकार के वर्णो के उच्चारण के लिए उस ने केवल बिंदु से कार्य लिया था। किंतु, किन्ही महाशय ने कही कही पर बिंदु के नीचे चद्राकार रेखा बना दी है। यह रेखा पीछे की बनाई हुई है यह स्पष्ट जान पडता है, क्योकि वह बिंदु की अपेक्षा एक हलकी स्याही से बनाई हुई है। इस प्रकार का सशोधन भी अधिक नही हुआ है, और इस से कोई क्षति भी नही हुई है, क्योकि उच्चारण मे कोई अतर नही पडा है। उदाहरणार्थ—

पूर्व का पाठ—फिरत सनेहुं मगन सुप अपनें।
नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें ॥२५॥

मशोधित पाठ—फिरत सनेहुं मगन सुप अपनें।
नाम प्रमाद सोच नहि सपनें ॥२५॥

पूर्व का पाठ—भाय कुभांय अनप आलसहूं।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूं ॥२८॥

मशोधित पाठ—भाँय कुभाँय अनप आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥२८॥

इन दो प्रकार के संशोधनों के अतिरिक्त, तीन विशेष स्थलों के संशोधन ध्यान देने योग्य हैं। इन स्थलों पर प्रतिलिपि करते समय पूरी एक एक पंक्ति ही छूट गई थी। एक संशोधन प्रति के ४०वें पत्रे के अवरार्द्ध में है। पहिले नीचे लिखा दोहा आता है—

पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परीछा लेहु।
गिरिहि प्रेरि पठयेहु भवन दूरि करेहु संदेहु ॥७७॥

इस के बाद तुरत ही नीचे लिखी चौपाई आ जाती है—

रिषिन्ह गौरि देखी तह कैसी।
मूरतिमंत तपस्या जैसी ॥

और नीचे लिखी चौपाई जिसे उपर्युक्त दोहे और चौपाई के बीच में आना चाहिए था प्रतिलिपि करने में छूट जाती है—

तब ऋषि तुरत गौरि पहं गयऊ।
देखि दसा मुनि बिस्मै भयऊ ॥

संशोधन करने वाले व्यक्ति ने यह चौपाई ऊपर के हाशिए में लिख दी है और जिस स्थान पर इस को आना चाहिए था, वहाँ पर एक चिन्ह बना दिया है। कहा जाता है, यह संशोधन तुलसीदास जी का किया हुआ है।

ठीक इसी प्रकार का एक दूसरा संशोधन प्रति के १८६वें पत्रे के अवरार्द्ध में आता है। पहिले नीचे लिखा दोहा आता है—

तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहुं हरषि चढ़ाइ नरेसु।
आपु चढ़ेउ स्यंदन सुमिरि हर गुरु गौरि गनेसु ॥३०१॥

और उस के बाद ही यह चौपाई आ जाती है—

करि कुल रीति बेद बिधि राऊ।
देखि सबहि सब भाँति बनाऊ ॥

नीचे लिखी चौपाई, जिसे उपर्युक्त दोहे और चौपाई के बीच म आना चाहिए था, प्रतिलिपि करने में छूट जाती है—

सहित वशिष्ठ सोह नृप कैसे।
सुर गुर संग पुरंदर जैसे ॥

संशोधन में यह चौपाई ऊपरी हाशिए पर लिख दी गई है और जिस स्थान पर इसे होना चाहिए था वहाँ पर एक चिन्ह बना दिया गया है। कहा जाता है कि यह संशोधन भी गोस्वामी जी के हाथों का किया हुआ है।

उपर्युक्त श्री सीताप्रसाद जी ने प्रति के अंतिम पत्रे की पीठ पर मोटा कागज़ चिपका कर, ऊपर जो कहा गया है उस के अतिरिक्त, इस आशय का भी उल्लेख किया है कि प्रस्तुत प्रति गोस्वामी जी द्वारा संशोधित है क्योंकि इस के संशोधनों की लिखावट राजापुर की प्रति की लिखावट से मिलती-जुलती है। किंतु, लेखक का अनुमान है कि उन का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पहिले तो यही बहुत संदेह-पूर्ण है कि राजापुर वाली प्रति गोस्वामी जी के हाथ की लिखी है, दूसरे यदि उसे गोस्वामी जी की लिखी मान भी लिया जावे तब भी उस की लिखावट इन ऊपर के दोनों संशोधनों की लिखावट से भिन्न है। उदाहरणार्थ—

ऊ—राजापुर की प्रति का ऊ दीर्घ ई की तरह (उँ) उ और ॅ के संयोग से बना है, किंतु ऊपर के प्रथम संशोधन मे आए हुए 'गयऊ' और 'भयऊ' के ऊ साधारण छापे के ऊ की भाँति उ और एक दुम के संयोग से बने है।

ज—राजापुर की प्रति का ज ‿ ॰ — ा चार अंशों का बना हुआ है, किंतु ऊपर के दूसरे संशोधन में आए हुए ज में साधारण छापे वाले ज की भाँति ‿ — ा केवल तीन ही अंश मिलते हैं। राजापुर वाले ज का दूसरा अंश उस में नहीं है।

भ—राजापुर के भ में अंत की जो खड़ी पाई है उस के ऊपर एक आड़ी रेखा भी है (ा) किंतु ऊपर के दूसरे संशोधन में आने वाले 'भयऊ' के भ में वह आड़ी रेखा नहीं है, और अंतिम पाई मुड़ी छोड़ दी गई है।

र—राजापुर की प्रति का र। इन दो अशो की मिलावट से बना हुआ है, किंतु दूसरे सशोधन में आने वाले 'सुर गुर' के र साधारण छापे वाले र की भाँति । ̧ इन दो अशो के मेल से बने हैं।

ह—राजापुर का ह छपे हुए साधारण ह की भाँति । ̧ ̧ तीन अशो के सयोग से बना हुआ है किंतु ऊपर के दूसरे सशोधन में आने वाले 'सहित' और 'सोह' के ह में बीच का भाग ̧ नही है।

ु—उकार-सूचक चिन्ह में भी विशेष उल्लेख-योग्य अतर है। राजापुर की प्रति में यह चिन्ह ७ सात की भाँति लिखा हुआ मिलता है और इन सशोधनो में आए हुए 'सुरगुर' म वही ˇ रुपये की बिकारी की भाँति लिखा हुआ मिलता है।

ये थोड़े से भेद उदाहरण के लिए पर्याप्त होंगे। यदि ध्यान से देखा जाए तो इसी प्रकार का अतर अधिकतर अक्षरो की लिखावट में मिलेगा।

इन सशोधनो की लिखावट ऊपर कहे हुए पचनामे की लिखावट से भी मेल नही खाती। उदाहरण के लिए दोनो में आए हुए कुछ अक्षरो की लिखावटो की तुलना नीचे की जाती है—

क—पचनामे के क की दुम छोटी है किंतु सशोधनो मे आए हुए क की दुम लबी है।

ज—ऊपर राजापुर के ज के सबध में जो कहा गया है वही पचनामे के ज के सबध में भी समझना चाहिए।

त—पचनामे का त परिधि के एक टुकड़े और एक खड़ी पाई (ℸ।) के सयोग से बना हुआ है किंतु सशोधनो का त एक खड़ी रेखा फिर एक आड़ी रेखा और खड़ी पाई (।-।) के सयोग से बना हुआ है।

न—पचनामे का न शून्य और आड़ी रेखा (० –) के सयोग से बना हुआ है, किंतु सशोधनो का न एक त्रिकोण और आड़ी रेखा (▷ –) के सयोग से बना हुआ है।

भ—ऊपर राजापुर वाले भ के सबध में जो कहा गया है वही पचनामे के भ के सबध में भी समझना चाहिए, दोनो लगभग एक से है।

ह—राजापुर के ह के सबध में ऊपर जो कहा गया है लगभग वही पचनामे के ह के सबध में भी समझना चाहिए, दोनों में बहुत साम्य है।

ु—राजापुर की प्रति में आए हुए उकार की मात्रा के संबंध में ऊपर जो कहा गया है वही पचनामे की उकार की मात्रा के संबंध में भी समझना चाहिए, दोनो की लिखावट में बहुत कुछ साम्य है।

'वाल्मीकि-रामायण' उत्तरकांड की सं० १६४१ की प्रति जो गोस्वामी जी के हाथ की लिखी कही जाती है, उस की लिखावट भी इन संशोधनो की लिखावट से नहीं मिलती। उदाहरणार्थ—

ज—ऊपर पचनामे के ज के संबंध में जो कहा गया है वही 'वाल्मीकि-रामायण' के ज के संबंध में भी समझना चाहिए, दोनों में बहुत साम्य है।

ह—इसी प्रकार ऊपर राजापुर के ह के संबंध में जो कहा गया है वही 'वाल्मीकि-रामायण' के ह के संबंध में भी समझना चाहिए, दोनो के ह एक दूसरे से मिलते जुलते हैं।

प्रस्तुत लेख के साथ न तो पचनामे का चित्र दिया जा रहा है और न राजापुर की प्रति के पृष्ठो का ही, इस लिए इस संबंध में विस्तार व्यर्थ होगा। इतने ही से कदाचित् यह स्पष्ट हो गया होगा कि इन दोनो संशोधनो की लिखावट न तो राजापुर की प्रति की लिखावट से मेल खाती है और न पचनामे या 'वाल्मीकि-रामायण' की ही लिखावट से। फलतः यह मानना कदाचित् भूल होगी कि प्रस्तुत बालकांड की प्रति तुलसीदास जी के हाथ की संशोधित की हुई है।

एक और भूल जो संशोधन के पीछे भी इस प्रति में रह गई थी वह इस प्रकार है—प्रति के ४०वें पत्रे के अपरार्द्ध में ही, जिस पर की एक भूल का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, यह भूल भी पड़ती है। होना चाहिए था[1]—

केहि अवराधहु का तुम चहहू।
हम सन सत्य मरमु (किन कहहू॥
सुनत रिषिन्ह के बचन भवानी।
बोली गूढ़ मनोहर बानी॥
कहत) बचन मन अति सकुचाई।
हँसिहहु सुनि हमार जड़ताई॥

[1] श्री रामदास गौड़ द्वारा संपादित 'रामचरितमानस', दो० ७८

किंतु प्रतिलिपि करने में 'सत्य मरमु' के आगे 'बचन' तक का वह अंश जो कोष्टकों के भीतर रखा गया है छूट गया था। यह छूटा हुआ अंश लंबाई में एक पंक्ति के बराबर है, इस लिए ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रतिलिपिकार एक पूरी पंक्ति ही छोड़ कर आगे की पंक्ति पर चला गया। पीछे से, जो संशोधन पहिली बार हुआ उस में बाएँ हाशिए पर 'किन कहहु' और 'कहत' लिख कर पहिली और तीसरी चौपाई तो पूरी कर दी गई, फिर भी बीच वाली चौपाई नहीं लिखी गई। दूसरी बार जो संशोधन हुआ उस में ऊपर किए हुए संशोधन पर हरताल लगा कर फिर वे ही शब्द लिखे गए और फिर भी बीच वाली चौपाई नहीं लिखी गई। तीसरी बार के संशोधन में किसी महाशय ने यह छूटी हुई चौपाई पत्रे के नीचे के हाशिए में लिख दी, किंतु इस समय उस पर वह पतला पतंगी कागज चिपकाया हुआ है जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस भूल, और उस के संशोधन से दो बातों का पता चलता है, एक यह कि ४०वें पत्रे का अपरार्द्ध तुलसीदास जी का संशोधित किया हुआ नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यथा ऐसी भद्दी भूल संशोधन के बाद भी बनी न रह जाती, दूसरी बात यह कि मूल प्रति को सामने रख कर भी इस प्रति का संशोधन नहीं किया गया, क्योंकि अन्यथा दो दो बार के संशोधनों के पीछे भी इतनी मोटी भूल का रह जाना असंभव था।

ऊपर संशोधनों के जो उदाहरण दिए गए हैं और तीन विशेष स्थलों के संशोधनों पर जो विचार किया गया है उस से हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१—संशोधन कब कब और किन के द्वारा हुए यह कहा नहीं जा सकता।

२—यह स्पष्ट है कि संशोधन कई बार और कई व्यक्तियों द्वारा हुए।

३—संशोधन केवल प्रतिलिपि की भूल सुधारने के लिए ही नहीं बल्कि पाठ-सुधार के लिए भी किए गए हैं।

४—कुछ संशोधन बिना किसी विशेष मतलब के किए गए हैं।

५—संशोधन कदाचित् गोस्वामी जी के किए हुए नहीं हैं। और

६—संशोधन मूल प्रति को सामने रख कर नहीं किए गए हैं।

ऐसी दशा में हमारे लिए यही अधिक उत्तम है कि संशोधनों को एक ओर रख कर हम यह जानने का उद्योग करें कि प्रतिलिपिकार ने पहिले-पहिल क्या लिखा था। संतोष की बात है कि ध्यानपूर्वक देखने पर अधिकतर स्थलों पर पूर्व का पाठ हमें मिल

जाता है। वह पाठ इस प्रकार का है कि अभी तक संपादित 'रामचरितमानस' की कोई भी प्रति वैसा पाठ हमारे सामने नहीं रख सकी है। इस का कारण भी स्पष्ट है—एक तो इतनी प्राचीन प्रति हमें प्राप्त होते हुए भी इस का यथोचित उपयोग हम ने अभी तक नहीं किया है, दूसरे हमारे अधिकतर संपादकों ने पाठ के लिए अपनी सुरुचि को ही प्रमाण माना है। यदि उन की रुचि के अनुसार पाठ किसी भी प्रति में मिल गया है तो उन्हों ने उसे स्वीकार कर अन्य पाठों की अवमानना की है।

अयोध्या की किसी प्रति का उपयोग 'रामचरितमानस' के संपादन में श्री रामदास गौड़ ने किया है, वह उस के एक पृष्ठ के फुटनोट से जान पड़ता है।[१] उक्त फुटनोट में वे लिखते हैं "अयोध्या की प्रति में "भ्रमनासा यह पाठ हरताल लगा कर बनाया गया है और ऐसा प्रसिद्ध है कि तुलसीदास जी ने इस प्रति को शुद्ध किया था।" लेखक को प्रस्तुत बालकांड की प्रति में यह संशोधन मिला है, जिस से उस का अनुमान है कि गौड़ जी का अभिप्राय ऊपर के उल्लेख में इसी प्रति से है। गौड़ जी द्वारा संपादित 'रामचरितमानस' के बालकांड का पाठ अन्य संपादित प्रतियों के बालकांड के पाठों की अपेक्षा प्रस्तुत प्रति के पाठ के अधिक निकट है, इस से भी लेखक के उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। किंतु 'मानस' के मूल पाठ की भूमिका में उन्हों ने लिखा है[२] "संवत् १७२१ की लिखी जिस प्रति से काशी के श्री भागवतदास छत्री ने पोथी छपवाई थी वह मेरी निगाह में अधिक शुद्ध और प्रामाणिक है, अधिकांश पाठ उसी से मिलाया गया है।" यह उन्हों ने संवत् १७०४ की उस प्रति की तुलना में लिखा है जिस को इंडियन प्रेस प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'रामचरितमानस' के संपादकों ने अधिक महत्त्व दिया था। ऐसा लिखते समय बालकांड के पाठ के लिए प्रस्तुत प्रति भी उन के ध्यान में थी ऐसा नहीं जान पड़ता। फिर भी गौड़ जी द्वारा संपादित 'मानस' के बालकांड का पाठ अन्य संपादित प्रतियों के पाठों की अपेक्षा प्रस्तुत प्रति के पाठ के अधिक निकट होने के कारण नीचे उसी से कुछ स्थल उद्धृत किए जाते हैं, और फिर वे ही स्थल सं० १६६१ की प्रस्तुत प्रति से अविकल उद्धृत किए जाते हैं, जिस से यह विदित हो जावे कि प्रस्तुत प्रति का उपयोग अभी कहाँ तक हुआ है और प्रस्तुत

---

[१] 'रामचरितमानस' पृ० ७, फुटनोट २

[२] 'वही' (मूल पाठ) भूमिका, पृ० २

प्रति के पाठ की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं। विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए निम्न-रेखाओं का प्रयोग कुछ स्वतंत्रता-पूर्वक किया गया है। इस से अपनी प्रतियों के पाठों का मिलान करने में पाठकों को सुविधा होगी और साथ ही साथ प्रस्तुत प्रति की प्रमुख विशेषताएँ भी स्वतः स्पष्ट हो जावेंगी--

(१) अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड नाम दुहूँ तें।
किय जेहि जुग निज बस निज बूते॥
प्रौढि सुजन जनि जानहि जन की।
कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥
एक दारु गत देखिय एकू।
पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें।
कहेउ नाम बड़ ब्रह्म राम तें॥
ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी।
सत चेतन घन आनँदरासी॥
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन तें।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

दो०—निरगुन तें एहि भाँति बड नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नाम बड राम तें निज-बिचार-अनुसार॥२३॥

(२) सो०—लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेस हरि-माया-बलु जानि जिय॥५१॥
जौ तुम्हरे मन अति संदेहू।
तौ किन जाइ परिच्छा लेहू॥

तब लगि बैठ अहउँ बट छाहीं।
जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।
करेहु सो जतन बिबेक बिचारी॥
चली सती सिव आयसु पाई।
करइ बिचार करउँ का भाई॥
इहाँ संभु अस मन अनुमाना।
दच्छ सुता कहुँ नहिं कल्याना॥
मोरेहु कहे न संसय जाहीं।
बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥
होइहि सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तरक बढावइ साखा॥
अस कहि लगे जपन हरि नामा।
गई सती जहँ प्रभु सुख धामा॥

दो०—पुनि पुनि हृदय बिचार करि धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पंथ तेहि जेहि आवत नरभूप॥५२॥

(३)

कटि तूनीर पीत पट बाँधे।
कर सर धनुष बाम बर काँधे॥
पीत - जग्य - उपवीत सोहाए।
नखसिख मंजु महा छबि छाए॥
देखि लोग सब भये सुखारे।
एकटक लोचन टरत न टारे॥
हरषे जनक देखि दोउ भाई।
मुनि-पद-कमल गहे तब जाई॥
करि बिनती निज कथा सुनाई।
रंग अवनि सब मुनिहि देखाई॥

जहँ जहँ जाहिं कुअँर बर दोऊ।
तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ॥
निज निज रुख रामहिं सब देखा।
कोउ न जान कछु मरम बिसेखा॥
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ।
राजा मुदित महा सुखु लहेऊ॥
सब मचन्ह तें मंच एक सुंदर बिसद बिसाल।
मुनि समेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल॥२४४॥

(४) बामदेव रघु-कुल-गुर ग्यानी।
बहुरि गाधि सुत कथा बखानी॥
सुनि मुनि सुजस मनहिं मन राऊ।
बरनत आपन पुन्य प्रभाऊ॥
बहुरे लोग रजायसु भयऊ।
सुतन्ह समेत नृपति गृह गयऊ॥
जहँ तहँ राम ब्याह सब गावा।
सुजस पुनीत लोक तिहुँ छावा॥
आये ब्याहि राम घर जब तें।
बसे अनद अवध सब तब तें॥
प्रभु बियाह जस भयउ उछाहू।
सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥
कबि-कुल-जीवन-पावन जानी।
राम-सीय-जसु मगल खानी॥
तेहि तें मैं कछु कहा बखानी।
करन पुनीत हेतु निज-बानी॥

छंद— निज-गिरा-पावनि-करन-कारन रामजस तुलसी कह्यो।
रघु-बीर-चरित अपार बारिधि पार कबि कौनै लह्यो॥

उपवीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि-राम-प्रसाद तें जन सर्बदा सुख पावहीं॥
सो०— सिय-रघु-बीर-बिबाहु जे सप्रेम गावहि सुनहिं।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजस॥३६१॥

सं० १६६१ की प्रति के अनुसार उपर्युक्त स्थलों का पाठ क्रमशः इस प्रकार है –

(१) अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरें मत बड नामु दुहू ते।
किये जेहि जुग निज बस निज बूते॥
प्रौढ सुजन जन जानहि जन की।
कहउ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥
एकु दारुगत देखिअ एकू।
पावक सम जुग ब्रह्म बिवेकू॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें।
कहेउ नामु बड ब्रह्म राम तें॥
व्यापकु एकु ब्रह्म अविनासी।
सत चेतन घन आनंदरासी॥
अस प्रभु हृदयं अछत अविकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन तें।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥
॥ दोहा ॥ निरगुन ते येहि भाति बड नाम प्रभाउ अपार।
कहउं नाम बड राम ते निज बिचार अनुसार॥२३॥

(२) ॥ सोरठा ॥ लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेसु हरि माया बलु जानि जिय॥५१॥
जौ तुम्हरें मन अति संदेहू।
तौ किन जाइ परीछा लेहू॥

तब लगि बैठ अहौं बट छाहीं।
जब लगि तुम्ह अैहहु मोहि पाहीं॥
जैसें जाइ मोह भ्रम भारी।
करेहु सो जतनु विवेकु विचारी॥
चलीं सती सिव आयसु पाई।
करहि विचारु करौं का भाई॥
इहा संभु अस मन अनुमाना।
दक्षसुता कहु नहिं कल्याना॥
मोरेहु कहें न ससय जाहीं।
विधि विपरीत भलाई नाहीं॥
होइहि सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढावें साखा॥
अस कहि लगे जपन हरि नामा।
गईं सती जह प्रभु सुखधामा॥

॥ दोहा ॥ पुनि पुनि हृदय विचारु करि धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पथ तेहि जेहि आवत नरभूप॥५२॥

(३)

कटि तूनीर पीत पट बाधें।
कर सर धनुष बाम बर कांधें॥
पीत जग्य उपबीत सोहाये।
नख सिख मंजु महा छवि छाये॥
देखि लोग सब भये सुखार।
एकटक लोचन चलत न तारें॥
हरषे जनकु देखि दोउ भाई।
मुनि पद कमल गहे तब जाई॥
करि बिनती निज कथा सुनाई।
रग अवनि सब मुनिहि देखाई॥

जहं जहं जांहि कुअर बर दोऊ।
तहं तह चकित चितव सब कोऊ॥
निज निज रप रामहिं सबु देषा।
कोउ न जान कछु मरमु विसेषा॥
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ।
राजा मुदित महा सुषु लहेऊ॥

॥ दोहा ॥ सब मचन्ह तें मचु एकु सुदर बिसद बिसाल।
मुनि समेत दोउ बधु तह बैठारे महिपाल॥२४४॥

(४) बामदेव रघुकुल गुर ग्यानी।
बहुरि गाधि सुत कथा बषानी॥
सुनि मुनि सुजसु मनहि मन राऊ।
बरनत आपन पुन्य प्रभाऊ॥
बहुरे लोग रजाएसु भएऊ।
सुतन्ह समेत नृपति गृह गएऊ॥
जहं तहं रामु ब्याहु सब गावा।
सुजस पुनीत लोक तिहु छावा॥
आये ब्याहि रामु घर जब तें।
बसे अनद अवध सब तब तें॥
प्रभु बिआहु जस भयउ उछाहू।
सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥
कबिकुल जीवनु पावन जानी।
राम सीय जसु मगल खानी॥
तेहि ते मैं कछु कहा बषानी।
करन पुनीत हेतु निज बानी॥

॥ छद ॥ निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कह्यो।
रघुबीर चरित अपार बारिधि पारु कबि कौने लह्यो॥

उपवीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि रामप्रसाद ते जन सर्वदा सुख पावहीं॥

॥ सोरठा ॥ सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहि सुनहि।
तिन्ह कहु सदा उछाहु मगलायतन रामजसु॥३६१॥

प्रतिलिपि करने में जो भूले असावधानी के कारण हो जाती हैं उन का विचार थोडी देर के लिए अलग रख कर, पाठो की शुद्धता और अशुद्धता के विषय में जब हम कहा करते हैं तब हमारा आशय मूल प्रति के पाठ से उस पाठ की सन्निकटता से होता है जिस के पाठ का हम उल्लेख करते है। हमारी प्रति का पाठ मूल प्रति के पाठ से जितना ही निकट होता है उतना ही हम उसे शुद्ध कहते है और वह जितना ही दूर होता है उसे हम उतना ही अशुद्ध कहते है। 'शुद्ध' और अशुद्ध' इन दो शब्दो के अतिरिक्त हिंदी ग्रंथो के सपादन में एक और शब्द का प्रयोग किया गाय है—वह शब्द 'उत्तम' है। जहाँ पर इस शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ मूल-पाठ से सन्निकटता कुछ अधिक आदरणीय वस्तु नहीं समझी जाती। यदि हमारी प्रति का पाठ भाव की दृष्टि से अन्य किसी प्रति के पाठ से अधिक काव्योचित होता है, या वह भाषा की दृष्टि से अन्य किसी प्रति के पाठ की अपेक्षा व्याकरण के प्रचलित रूपो की अधिक रक्षा करता हुआ दिखाई देता है तो हम अधिकतर कहा करते है कि हमारी प्रति का पाठ उस दूसरी प्रति के पाठ की अपेक्षा उत्तम है। 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' शब्दो का प्रयोग भी असावधानी से कभी कभी इसी आशय में किया जाता है। परिणाम यह हुआ है कि हमारी अधिकतर सपादित प्रतियो में इस बात पर विशेष ध्यान नही रक्खा गया कि कवि या रचयिता ने वस्तुत क्या लिखा होगा। फलत इन सपादित प्रतियो के आधार पर उस की भाषा और शब्दा के रूपो के सबध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना और भी अधिक अनिश्चयात्मक हो गया है। तुलसीदास जी की अवधी का क्या रूप था, यह एक स्वतन्त्र लेख का उपयुक्त विषय है, इस लिए अभी हम उस के किसी प्रकार के विस्तार में नहीं जा सकते। ऊपर बालकाड के कुछ स्थल श्री रामदास गौड जी द्वारा सपादित 'रामचरितमानस' से ले कर उन्हीं की स० १६६१ वाली प्रति मे भी उद्धृत किया जाने का मुख्य अभिप्राय इतना ही है, कि इस पिछली प्रति के पाठ की प्रमुख विशेषताएँ पाठकों को ज्ञात हो जावें और उस का साधारण परिचय उन्हें मिल जावे। पाठो की 'उत्तमता' का दृष्टिकोण हमें थोडी देर के लिए अलग रख

कर उन की 'शुद्धता' की ओर ध्यान देना चाहिए। पाठकों को कदाचित् उपर्युक्त प्राचीन प्रति का ही पाठ अधिक शुद्ध जान पड़ेगा। उस की प्रमुख विशेषताएँ बहुत कुछ स्वतः स्पष्ट हैं। केवल एक मोटी विशेषता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर के लेख समाप्त करना है, वह है शब्दों के उकारांत रूपों की। प्रचलित प्रतियों में उकारांत रूप कभी कभी मिल जाया करते हैं, किंतु साधारणतः उन का बहिष्कार किया गया है। प्रस्तुत प्रति में यह रूप बहुतायत से मिलता है जैसा ऊपर के उद्धरणों से ज्ञात होगा। राजापुर की प्रति में भी यह बाहुल्य इसी प्रकार मिलता है। जान पड़ता है जितना ही हम इधर आते हैं यह रूप उतना ही लुप्त होता गया है, इसी लिए इधर की हस्तलिखित प्रतियों में भी वह बहुत कम मिलता है। किंतु तुलसीदास जी स्वयं इस का प्रयोग प्रचुर परिमाण में करते थे, यह पचनामे में आए हुए इस दोहे से प्रकट है—

तुलसी जान्यो दसरथहिं धरमु न सत्य समान।
राम तजे जेहि लागि बिनु रामु परिहरे प्रान॥

राजपूताने में मुग़लों का शासन

[लेखक—डॉक्टर मथुरालाल शर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्०]

शासन की दृष्टि से अकबर ने अपने विस्तृत भारतीय साम्राज्य को १५ सूबों में बाँट रक्खा था। प्रत्येक सूबे में कितने ही 'सरकार' अर्थात् डिवीज़न होते थे और हर एक 'सरकार' कई परगनों में विभक्त थी। राजपूताना[१] इन सूबों में से एक सूबा था और इस की राजधानी अजमेर थी। वहाँ एक सूबेदार रहता था, जो सिपहसालार भी कहलाता था और वह सारे राजपूताने के शासन के लिए उत्तरदायी माना जाता था। सूबेदार सम्राट् का प्रतिनिधि था और उस की शक्ति बादशाह की शक्ति की भाँति अपरिमित थी। वह सेनानायक था, न्यायाधीश था और माल-विभाग अर्थात रेवेन्यू का सब से बड़ा हाकिम था। अपने सूबे के बड़े से बड़े आदमी को वह प्राणदंड तक दे सकता था। सूबेदार की सहायता के लिए एक काज़ी नियत किया जाता था, जो मुस्लिम कानून के विषय में सूबेदार को सलाह दिया करता था, परंतु यह सूबेदार की इच्छा पर निर्भर था कि काज़ी से किसी विषय में सम्मति ले या न ले। सूबेदार चाहे तो प्रजा के पारस्परिक झगड़ों के निवारण के लिए एक मीर अद्ल नामक उच्चाधिकारी नियत कर सकता था।

अजमेर के आसपास का इलाक़ा, जो अब मेरवाड़ा कहलाता है, सीधा अजमेर के ताल्लुक़ था। शेष राजपूताना अनेक सरकारों में विभक्त था। सरकार का अफ़सर फौजदार कहलाता था और वह सूबेदार का मातहत हुआ करता था। फौजदार का कर्तव्य था कि उस की सरकार में जो लोग बाग़ी हो उन का दमन करे और जो कृषक कर देने से इन्कार करें अथवा अन्य प्रकार से शांति-भंग करने की चेष्टा करें उन को आज्ञापालन के लिए विवश करे। फौजदार प्रायः किले में रहा करता था और

---

[१] उस समय इस सूबे का नाम अजमेर था और इस में प्रायः वे सब हिंदू राज्य सम्मिलित थे, जो इस समय राजपूताने में शामिल हैं।

उस के पास अपनी 'सरकार' में शांति रखने के लिए काफी सेना रहती थी। उस के अधिकार यद्यपि सूबेदार से कुछ कम थे, परंतु फिर भी काफी विस्तृत थे। सरकार के संपूर्ण परगनों की मालगुजारी का हिसाब उस के पास रहता था और प्रत्येक परगने के शासन का निरीक्षण करते रहना उस का कर्तव्य था। 'आईने-अकबरी' में अबुलफज्ल ने सूबा राजपूताना[1] के सरकारों और परगनों की एक सूची दी है।

'आइने-अकबरी' के उपरिलिखित वर्णन से ऐसा मालूम होता है मानो राजपूताने में शासक-रूप से हिंदू राजाओं का कोई अस्तित्व ही नहीं था, लेकिन यह चित्र वास्तविक स्थिति का परिचायक नहीं है। आंबेर, जोधपुर, जैसलमेर, बूंदी आदि नगर राजपूत नरेशों की परंपरागत राजधानियाँ थीं, जिन को कोई भी मुसल्मान सम्राट् उन से नहीं छुड़ा सका। कुछ समय के लिए अकबर ने चित्तौर और औरंगज़ेब ने जोधपुर पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया था, किंतु शीघ्र ही ये स्थान पुनः राजपूतों के हाथ में आ गए। बहादुरशाह प्रथम ने आंमेर को छीनना चाहा था परंतु सफल नहीं हुआ। औरंगज़ेब ने अप्रसन्न हो कर एक बार बूँदी के ख़िलाफ भी सेना भेजी थी, लेकिन उसे हार कर वापिस लौटना पड़ा और परस्पर समझौता हो जाने के कारण औरंगज़ेब ने इस राजधानी के विरुद्ध दुबारा सेना-संचालन नहीं किया।

इस में संदेह नहीं कि राजपूत नरेश मुगलों के समय में स्वतंत्र नहीं थे। उदयपुर के अतिरिक्त संपूर्ण रियासतों ने मुगलों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। महाराणा प्रतापसिंह के बाद उन के उत्तराधिकारियों ने भी मुगलों की सेना में नौकरी कर ली थी[2]। दो-तीन रियासतों के अतिरिक्त अन्य रियासतों के नरेशों ने

---

[1] अर्थात् सूबा अजमेर।

[2] महाराणा अमरसिंह ने औरंगज़ेब से पाँचहजारी मनसब स्वीकार किया था। (देखो रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा, 'राजपूताने का इतिहास', चतुर्थखंड, पृष्ठ ८९७) महाराणा राजसिंह प्रथम को ६ हजारी मनसब दिया गया था। (वही, पृष्ठ ८४८)

महाराणा राजसिंह प्रथम ने अपने पुत्र सरदार सिंह को औरंगज़ेब की सहायता के लिए शुजा के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए भेजा था।

(वीर-विनोद, भाग २, पृष्ठ ४३२)।

अत्यंत अपमान-जनक विधि से अपनी पुत्रियों के विवाह भी मुगल सम्राटों या शाह-जादों के साथ कर दिए थे। प्रत्येक राजपूत नरेश मुगल बादशाहों को खिराज देता था और उन की सेना में मनसबदार बनना गौरव का कारण समझता था। परंतु फिर भी राजपूत नरेशों की तत्कालीन भारत में, जनता में, और दरबार में प्रतिष्ठा थी और यह मुगलों की कृपा के कारण नहीं बल्कि स्वयं उन के बल और प्रभाव के कारण थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ तो राजपूत नरेशों को अपने साम्राज्य के प्रधान स्तंभ ही समझते थे। औरंगज़ेब उन से इस कारण घृणा करता था कि वे हिंदू थे, परंतु फिर भी जयसिंह, जगतसिंह और किशोरसिंह आदि नरेशों का सहयोग वह अपने साम्राज्य के शासन में आवश्यक समझता था। सम्राट् इन की इज़्ज़त करता था और समय-समय पर खिल्अत और अलंकृत हाथी घोड़ों की भेंट द्वारा इन का सम्मान किया करता था।

औरंगजेब के बाद मुगलों की शक्ति क्षीण होने लगी और मुगल सम्राट् सबल सहायकों की तलाश में आतुर हो कर इधर उधर झाँकने लगे। दिल्ली के सिंहासन के लिए जब दो उम्मीदवार खड़े होते थे तो प्रत्येक यही कोशिश करता था कि शक्तिशाली राजपूत नरेश उस का पक्ष ग्रहण करें। मुगलों के ह्रास-काल में भी जोधपुर-नरेश महाराजा अजीतसिंह ने युद्ध में पराजित हो कर विवशता-पूर्वक बादशाह फर्रुखसियर को अपनी लड़की ब्याही थी, परंतु इस समय की यह एकमात्र घटना है। कुछ वर्ष बाद ही फर्रुखसियर के अधःपतन में और उस की हत्या में अजीतसिंह ने प्रधान भाग लिया था और वह अपनी लड़की को दिल्ली के महलों से निकाल कर वापिस जोधपुर ले गया था।

मुगल-दृष्टि से संपूर्ण राजपूताना[1] साम्राज्य के अनेक सूबों में से एक सूबा

गते शते सप्तदशे तु वर्षे चतुर्दशाख्ये बहुबाणवर्षं।
सूजाख्यसोदर्यवरेण युद्ध औरंगजेबस्य वितन्वतोऽस्य ॥ ५ ॥
मुदे कुमारं सरदारसिंह सम्प्रेषयामास नृप पुरैव।
औरंगजेबस्य पुर स्थितोऽसौ रणे कुमारो जयवान् सजात ॥ ६ ॥
(राजप्रशस्ति महाकाव्य—गौरीशंकर हीराचंद ओझा, 'राजपूताने का इति-हास', चतुर्थभाग, पृष्ठ ८४९)

[1] अर्थात् सूबा अजमेर।

अवश्य था, परंतु यह केवल जाब्ते की बात थी। राजपूताने पर मुगलों का नियंत्रण अनेक अंशों में आधुनिक ब्रिटिश नियंत्रण से अधिक भिन्न नहीं था। जनता की दृष्टि से राजपूताना सरकारों में विभाजित नहीं था, बल्कि मारवाड़, मेवाड़, हाड़ौती आदि हिंदू राज्यों से मिल कर बना हुआ था। सूबेदार और फौजदार आधुनिक अंग्रेज ए० जी० जी० या रेज़ीडेंट की भाँति राज्यों से खिराज वसूल करते थे और राजाओं की नीति और गति से मुगल बादशाहों को परिचित रखते थे[1]।

मुगल सम्राट् हर एक राजपूत नरेश को अपना जागीरदार मानते थे। संपूर्ण भूमि मुगल सम्राट् की मानी जाती थी और हिंदू नरेश केवल उन के जागीरदार समझे जाते थे। जिस परगने में किसी राजपूत नरेश की राजधानी स्थित होती थी वह और उस के पास के दो-चार परगने उस राजा का 'वतन' कहलाता था लेकिन इस को भी मुगल सम्राट् अपने साम्राज्य का एक अंग ही मानते थे। राजाओं का परंपरागत अधिकार स्वीकृत नहीं किया जाता था। जाब्ते में 'वतन' के परगने भी राजाओं को जागीर में दिए हुए माने जाते थे, परंतु वास्तव में जागीर मानते हुए भी मुगल सम्राट् इन परगनों को छीनने का साहस नहीं करते थे। इन परगनों के अतिरिक्त अन्य कितने ही परगने बड़े-बड़े राजाओं के अधिकार में होते थे। ये सब परगने राजाओं की जागीर माने जाते थे। मुगलों के सरकारी कागज़ों में यह नहीं लिखा जाता था कि बूँदी के राज्य में ३६ परगने हैं या उदयपुर में ३८। सरकारी तौर पर प्रत्येक हिंदू राज्य के सब परगनों का संबंध एक या अधिक सरकारों या सूबों से

---

[1] यह लेख कोटा राज्य के मुगल-कालीन कागजात का अध्ययन कर के लिखा गया है। इन कागज़ात में बूँदी, उदयपुर, जोधपुर और जयपुर आदि अन्य हिंदू राज्यों के विषय में भी सामग्री मिलती है। ऐसे दफ्तर राजपूताने की सब रियासतों में हैं और इनके अध्ययन से ही राजपूताने में तत्कालीन मुगल-शासन का क्रियात्मक स्वरूप विदित होता है। कोटा राज्य के स्टेट हिस्टोरियन की हैसियत से लेखक को दो राज्यों के ऐसे दफ्तर देखने का मौका मिला है।

'आईने-अकबरी' जो मुगल इतिहास-वेत्ताओं के ज्ञान की आधार-शिला है, वह आदर्श चित्र है, तत्कालीन शासन-शैली का वास्तविक चित्र नहीं (सरकार, 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन', पृष्ठ २५७)

हुआ करता था। जो परगने बूँदी-नरेश की जागीर में थे उन में से कुछ का संबंध सरकारगढ़ गागरोन सूबा उज्जैन से था और शेष का सबंध सरकारगढ़ रणथंभोर सूबा अजमेर से। इस प्रकार मुगलो के कागजों में बूँदी का कोई अस्तित्व ही नहीं था। सिर्फ यह माना जाता था कि परगना बूँदी राव सुरजन या अमुक राव की जागीर में है। जिन परगनों का सबंध सूबा उज्जैन से था उन का मताल्बा उज्जैन में जमा किया जाता था और जिन परगनों का संबंध अजमेर से था, उन का मताल्बा अजमेर में जमा किया जाता था।[1] प्रत्येक परगने के मताल्बे का हिसाब फौजदार के पास तथा सूबेदार के पास रहा करता था। मताल्बा प्रत्येक परगने के हिसाब से वसूल किया जाता था। ऐसा नहीं होता था कि ३६ परगनों के मताल्बा की एक रकम निश्चित हो और बूँदी राज्य के नाम पर वह जमा की जाती हो। कई परगने विशेष कारण से एक राजा की जागीर में से हटा कर दूसरे को दे दिए जाते थे। जहाँगीर, शाहजहाँ और औरगजेब के राज्य में बूँदी और कोटा, जयपुर और अलवर तथा जोधपुर और बीकानेर के बीच में कई बार इस प्रकार परगनों की लौटा-फेरी की जाती थी।[2] अधिकतर ऐसा होता था कि जब किसी नरेश की जागीर के परगने छीने जाते थे तो वे उसी के किसी भाई को जागीर में दिए जाते थे। ऐसा नहीं किया जाता था कि हाड़ा-नरेश की जागीर के परगने कछवाहा नरेश को दे दिए गए हों या कछवाहों के परगने छीन कर राठौड़ों को दे दिए गए हों। कभी-कभी छिने हुए परगने सीधे फौजदार के सुपुर्द भी कर दिए जाते थे।

प्रत्येक परगने में हक्त और पड़त जमीन का हिसाब तथा उस की उन्नति का काम कानूनगों के सुपुर्द रहता था। साम्राज्य के हर एक परगने का क़ानूनगो सम्राट् द्वारा नियत किया जाता था। जो परगने हिंदू नरेशों की जागीर में थे उन के कानूनगो भी बादशाह ही नियत करते थे। इस से पाठक अनुमान कर सकते हैं कि जागीरों में

---

[1] कोटा राज्य के पुराने दफ्तर में जो हिसाबी कागज़ हैं, उनके आधार पर ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं, अन्य राज्यों के पुराने दफ्तरों से भी इस मत की पुष्टि होती है।

[2] कविराजा सूर्यमल, 'वंशभास्कर', तृतीयभाग, पृष्ठ २५९३, २६२५, २६४९ २६५८, २६६४, २६७१, २६८८, २७४१, २७४४, २७८५, और २८३५

भी मुगल सम्राट् किस हद तक हस्तक्षेप किया करते थे। कानूनगो की नियुक्ति शाही फरमान द्वारा की जाती थी, जिस पर बादशाह की तथा वजीर की मोहर होती थी। कानूनगो का यह कर्तव्य था कि कृषि की उन्नति करे और परगने में आबादी बढ़ावे। लोगों को अच्छे मकान बनाने की प्रेरणा करे और सलाह दे। प्रजा के साथ समानता का व्यवहार करे और उन पर अन्याय होता हो तो उस से उन्हें बचावे। यथासंभव जागीरदार को अन्याय तथा कठोरता करने से रोके, और यदि उस का कहना जागीरदार न माने तो जो कुछ हुआ हो, सच्चा हाल लिख कर सम्राट् की सेवा मे भेजे। अपने परगने की भूमि, लगान, आमद तथा खर्च का हिसाब साफ लिख कर दफ्तरखाना आली अर्थात् सर्वोच्च हिसाब विभाग में प्रति वर्ष भेजता रहे। प्रत्येक परगने के हाकिम, आमिल तथा जागीरदार हाल व आयदा के नाम आदेश होता था कि कानूनगो की बात और सलाह तथा हिसाब को विश्वसनीय समझे। यह बात अवश्य थी कि कानूनगो उन्हीं विषयों पर सलाह दिया करता था जिन से उस का संबंध होता था। परगने के सबील, चौधरी, मुकद्दम और प्रजा तथा कृषकों को हुक्म दिया जाता था कि नियुक्त व्यक्ति को अपना कानूनगो जान कर उस की सलाह और मदद से मुश्किल कामों का बंदोबस्त करे और उस की बुद्धि तथा अनुभव से लाभ उठावे।[1] इस प्रकार का फरमान बारम्बार जारी नहीं किया जाता था। कानूनगो प्रायः वंश परंपरागत हुआ करते थे। पिता के मरने पर उस के पुत्र को नया फरमान प्राप्त करना पड़ता था। ऐसा फरमान यदि कोई विशेष कारण न हो तो प्रायः दे दिया जाया करता था। एक परगने में, यदि वह बड़ा हो तो, एक से अधिक कानूनगो भी हुआ करते थे। यदि मृतक कानूनगो के दो या तीन पुत्र हुए तो वे सब उस परगने के कानूनगो बना दिए जाते थे। ये लोग प्रायः हिंदू होते थे। परगने से जो भूमि-कर

---

[1] ये पंक्तियाँ जहाँगीर बादशाह के एक फरमान के आधार पर लिखी गई हैं, जो लेखक को लाला भँवरलाल जी कारकुन पेंशनर कोटा राज्य से प्राप्त हुआ है।

लाला भँवरलाल के बुजुर्ग परगना कोटा सरकारगढ़ रणथंभोर सूबा अजमेर के कानूनगोयान थे। कोटा और उस के आस-पास का प्रदेश संवत् १३८० से निरंतर हाड़ा राजपूतों के अधिकार में है, परंतु तो भी मुगल बादशाहों के दफ्तर में परगना कोटा 'सरकारगढ़ रणथंभोर सूबा अजमेर' ऐसा लिखा जाता था।

वसूल होता था उस का प्राय दो प्रति-शत कानूनगो को मिलता था। यह धन कानूनगो की रसूम कहलाता था। राजपूताने की रियासतों में इस समय भी ऐसे कानूनगो के वंशज वर्तमान हैं और ये लोग अब भी कानूनगो कहलाते हैं। प्रबंध-व्यवस्था बदल जाने के कारण अब ये लोग पूर्ववत् कार्य नहीं करते। भिन्न-भिन्न व्यवसायों में लगे हुए हैं, तो भी इन लोगों को परंपरागत रसूम मिलती है, लेकिन इस का परिमाण अब कम होता जाता है। संयुक्त प्रांत में भी कई कानूनगो-परिवार परिवर्तित रूप में अब तक शेष हैं। अकबर के समय में कानूनगो को परगने की आमदनी का कोई अंश न दे कर नियत मासिक वेतन देने का प्रयत्न किया गया था। टोडरमल ने कानूनगो लोगों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया था। प्रथम श्रेणी के कानूनगो को २०), द्वितीय श्रेणी वाले को ३०) और तृतीय श्रेणी वाले को ४०) मासिक वेतन मिलता था। यह व्यवस्था अधिक समय तक नहीं निभ सकी। विशेष कर राजपूताने में आय का अंश देना ही अधिक हितकर सिद्ध हुआ।

परगना किसी हिंदू नरेश के सुपुर्द तीन प्रकार से किया जाता था। या तो वह जागीर में दिया जाता था या मुकाते पर या इजारे पर।[1] जागीर का अर्थ यह था कि मुगल शासन का संबंध उस परगने से नाम-मात्र का रह जाता था। उस पर वास्तव में राजपूत नरेश का एक प्रकार से राज्य ही स्थापित हो जाता था। मुगल सरकार की तरफ से उस परगने का जो मतालबा निश्चित होता था, वह जागीरदार को उस सूबे में जमा करना पड़ता था, जिस से उस परगने का संबंध हो। शेष संपूर्ण अधिकार जागीरदार को प्राप्त हो जाते थे। व्यावहारिक रूप में कानूनगो भी हिंदू नरेश का ही कर्मचारी था। वास्तव में जागीरदार ऐसे परगने का सर्वांशरूपेण शासक बन जाता था। मुकाते में दिए हुए परगने पर हिंदू शासकों का उतना अधिकार नहीं माना जाता था जितना जागीर के परगनों पर। मुकाते के परगने का मतालबा भी जागीर के परगनों की अपेक्षा अधिक हुआ करता था। जागीर के परगने

---

[1] फारसी तवारीखों में जागीर का बहुत उल्लेख है। कोटे के राजा जगतसिंह को मऊ मैदाना का परगना औरंगजेब ने मुकाते पर दिया था जिसका संवत् १७३० के कागजात में इंदराज है।

वास्तव में हिंदू-नरेशों के परंपरागत राज्य थे। मुगल लोग जाब्ते में उन को जागीर मानते थे, परंतु मुकाते के परगने वास्तव में मुगलों ही के परगने थे। वे विशेष कृपा के कारण हिंदू नरेशों के सुपुर्द इस लिए कर दिए जाते थे कि मताल्बा आसानी से वसूल हो जाया करे और हिंदू नरेशों का भी सम्मान हो जाय। इजारा भी मुकाते से मिलता जुलता ही तरीका था। यह तरीका उस समय जारी किया गया था, जब मुगल साम्राज्य का पतन होने लग गया था और दूरस्थित परगनों को सम्हालने के लिए मुगल बादशाहों में शक्ति नहीं रही थी। इस विधि से जयपुर-नरेश सवाई जय सिंह ने बहादुरशाह से बहुत से परगने प्राप्त किए थे।[1] मुकाते में और इजारे में केवल नाम ही का भेद था। यह बात अवश्य है कि मुकाता कृपा प्रदर्शित करने के लिए दिया जाता था और इजारा परिस्थिति की प्रेरणा का फल था।

परगनों का मताल्बा प्रायः अजमेर या उज्जैन के सूबों की राजधानियों में जमा किया जाता था। जब औरंगजेब शिवाजी के पुत्र और पौत्र के विरुद्ध सुदूर दक्षिण में युद्ध कर रहा था तो मताल्बा औरंगाबाद दक्षिण में भेजा जाता था। शाही खजाने में जमा होने से पहले रुपये की रक्षा करना राजाओं का काम था। जब मताल्बा जमा करने में देर होती थी, तो सूबेदार की ओर से अहदी भेजा जाता था, जो मतालबे के विषय में ताकीद किया करता था। राजा लोग अहदी की खातिर किया करते थे और उस को सब भाँति संतुष्ट रखने का प्रयत्न करते थे। उस को इनाम, वस्त्र तथा अलंकारों द्वारा सम्मानित किया जाता था। मताल्बे की अदायगी में यदि अधिक विलंब होता था तो उस को दर-गुजर करना या न करना सूबेदार की इच्छा पर निर्भर होता था[2]। यदि सूबेदार की कृपा हुई तो कितने ही परगनों का पूरा मताल्बा भी बाकी रह सकता था। यही कारण था कि प्रत्येक राजपूत नरेश

---

[1] इस विषय में मि० सी० यू० विल्स, सी० आई० ई०, आई० सी० एस० ने जयपुर राज्य के पुराने कागजात देख कर एक रिपोर्ट लिखी है, जिस का संक्षेप देहली के 'हिंदुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित हो चुका है, और इस विषय की अधिक जाँच के लिए जयपुर राज्य ने एक कमीशन भी नियुक्त किया है, जिस के प्रधान स्वयं मि० विल्स हैं।

[2] इस विषय में लेखक ने अजमेर के सूबेदार के लिखे हुए तथा, कोटा राज्य की ओर से उस को लिखे हुए कई पत्र देखे हैं।

अपने सूबेदार को प्रसन्न रखने का सदैव प्रयत्न किया करते थे। जब कभी सूबेदार किसी रियासत में हो कर गुज़रता था या राजधानी में आता था तो राजपूत नरेश उस के आतिथ्य में अपनी सारी शक्ति लगा दिया करता था। कुछ दूर तक आगे बढ कर सूबेदार का स्वागत किया जाता था। अच्छे सुदर स्थान में उसे ठहराया जाता था और पुष्कल भेंट द्वारा उस को, उस के साथियो को तथा उस के नौकर-चाकरो तक को भी सतुष्ट किया जाता था। ऐसे अवसर पर सूबेदार के साथ प्राय ४०० या ५०० आदमी और कितने ही हाथी घोडे हुआ करते थे। बेगमें, शाहज़ादियाँ, बच्चे आदि भी साथ आया करते थे। राजा लोग इन सब का सत्कार करते थे और सब को यथोचित भेंट दिया करते थे। मध्यम श्रेणी के राजा को ऐसे अवसर पर प्राय १५ या २० हजार रुपये खर्च कर देने पडते थे। इस से अनुमान किया जा सकता है कि जब मुग़ल सम्राट् किसी राजा की हद में हो कर गुज़रता होगा तो राजा को कितना खर्च करना पडता होगा, परतु इस प्रकार का खर्च निष्फल नही था। जो कुछ खर्च किया जाता था, उस का लाभ भी राजाओ को मिल जाया करता था। सतुष्ट सूबेदार किसी राजा के लिए क्या नही कर सकता था ? उस से सबध रखने वाले परगनो का एक दो साल के लिए बाक़ी रख देना, उस के लिए साधारण बात थी। कभी-कभी ऐसे मतालबे की पूरी या आधी माफी भी दिलवा दी जाती थी। जो मताल्बा एक साल बाक़ी रह जाता था वह दूसरे साल जमा किया जाता था। जो राजा पिछला और वर्तमान मतालबा एकदम जमा नही कर सकता था उस से सूबेदार की सिफारिश पर किस्तें कर ली जाती थी। जो राजा बादशाह के साथ लडाई में होता था या जिस की बादशाह तक पहुँच हुआ करती थी, वह बादशाह से या अन्य उच्चाधिकारियो से बातचीत कर के गुजिश्ता मतालबे की किस्तें करवा लिया करता था। मतालबा अधिकाश अशर्फियो के रूप में जमा किया जाता था। लेकिन कभी-कभी रुपये भी जमा किए जाते थे।

किसी राजा के अधीन परगनो का सबध मुगल सम्राट् से टूटता नही था। बादशाह जिस बात में चाहे हस्तक्षेप कर सकता था। प्रबध की सुव्यवस्था न होने के कारण हस्तक्षेप का अवसर कम उपस्थित हुआ करता था, लेकिन फिर भी सम्राट् की

शक्ति पर वास्तव में किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं था। जजिया कर सम्राट् के कर्मचारी ही वसूल किया करते थे। इस विषय में न राजाओं पर भरोसा किया जाता था और न उन के अधीन परगनों की रकम उन से वसूल कर के फिर उन को यह रकम अपनी रियाया से वसूल करने का अधिकार दिया जाता था। मुगल सम्राट् के कर्मचारी सीधे परगनों में पहुँचते थे और सख्ती के साथ जजिया एकत्र करते थे। यह स्मरण रखना चाहिए कि अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ के शासनकाल में यह कर नहीं लिया जाता था। इस को औरंगजेब ने पुन जारी किया था। सम्राट् के कर्मचारियों की सख्ती की शिकायत उत्पीडित प्रजा हिंदू शासकों से प्राय किया करती थी, परंतु राजपूत नरेश क्या करते ? उन को सब कुछ सहन करना पडता था। औरंगजेब ने अन्यत्र ही नहीं किंतु राजपूताने तक में नए मंदिरों का निर्माण बंद करवा दिया था। इधर-उधर एकांत स्थानों में छोटे-मोटे मंदिर या छतरियाँ लोग बनवा लिया करते थे, परंतु इस बात की निरंतर चिंता रहती थी कि बादशाह को पता न लग जावे।

एक बार दक्षिण जाते हुए सम्राट् औरंगजेब एक राजपूत राजा के राज्य में हो कर गुजरने वाला था। जब यह खबर वहाँ के पुजारियों ने सुनी तो तहलका मच गया। औरंगजेब जब दौरा करता था या युद्ध के लिए कूच करता था तो उस के मार्ग में जितने मंदिर आते थे, सब को तुडवा दिया करता था। कभी-कभी इतनी रिआयत की जाती थी कि मंदिर तो नहीं तुडवाये जाते थे लेकिन केवल प्रतिमाओं को तोड दिया जाता था। इस लिए पुजारियों ने एकत्र हो कर अपने राजा से रक्षा के निमित्त प्रार्थना की। राजा ने यह आदेश किया कि जिस मार्ग से बादशाह के गुजरने की संभावना हो, उधर के सब मंदिरों की प्रतिमाओं को मंदिर में से निकाल कर इधर-उधर जंगलों में छिपा दिया जावे और शंख या घंटे की ध्वनि से बादशाह के क्रोध को उत्तेजित न किया जावे। जिन स्थानों पर बादशाह रात में रहा करता था, या जिस स्थान पर राजा उस का स्वागत करता था, वहाँ पर स्मारक के लिए छतरियाँ बना दी जाती थीं जिन की नींव में रुपये और अशर्फियाँ डाली जाती थीं।

अपने अधीन परगनों में निवास करने वाली मुसलमान जनता का हिंदू राजाओं को विशेष लिहाज रखना पडता था। सम्राट् की तरफ से राजाओं की

राजधानियो और उनके इलाके के अन्य छोटे-छोटे क़स्बो में शहर काज़ी नामक एक मुसलमान कर्मचारी सम्राट् की ओर से नियुक्त किया जाता था। शहर काज़ी को कुछ ज़मीन माफी में मिलती थी और कुछ सालाना वेतन भी मिलता था। राजाओ को शहर काज़ी का यथोचित सम्मान करना पडता था। मुसलमान जनता शहर काजी को अपना नेता और हितरक्षक मानती थी। मुहर्रम, ईद आदि मुसलिम त्योहार इसी के नेतृत्व में मनाए जाते थे। विशेष अवसरो पर मुसलमान लोग शहर काज़ी की नज़र करते थे। यह कर्मचारी हिंदू राजाओ का मातहत नही माना जाता था। क़ब्रिस्तान, मसजिदें, दरगाह आदि स्थानो की रक्षा करना भी इसका काम था। हिंदू राजाओ को विवश रूप से मुसलमान धर्म के प्रति सम्मान प्रकट करना पडता था। ईद और मुहर्रम के त्योहारो पर हाथी, घोडे तथा सेना शोभा के लिए मुसलमानो के जुलूसो में भेजें जाते थे। मसजिद बनवाने के लिए फौरन स्थान देना पडता था। मुसलमानो के मुक़दमे क़ुरान के क़ानून के अनुसार फैसल किए जाते थे और शहर काज़ी की सम्मति उन में मुख्य मानी जाती थी।

प्रत्येक राजा सम्राट् की सेना में मनसबदार हुआ करता था। किसी का मनसब बडा होता था और किसी का छोटा। महाराणा प्रतापसिंह ने तो अकबर की अधीनता स्वीकार नही की थी, परतु उनके अतिरिक्त सब हिंदू राजा मुगल सेना में मनसबदार थे। आमेर के राजा तो बाबर के समय में ही मुगलो का आधिपत्य स्वीकार कर चुके थे और राजा बिहारीमल को हुमायूँ के राज्य में पचहज़ारी मनसब मिल चुका था। अकबर के समय में मनसबो की व्यवस्थित-रूप से दर्जाबदी की गई थी। उस समय आमेर, जोधपुर, बीकानेर, बूदी, जैसलमेर, किशनगढ आदि सब नरेश मनसबदार थे। जहाँगीर के समय में उदयपुर-नरेश ने भी मनसब स्वीकार कर लिया था। मनसब १० घोडो से १०,००० घोडों तक का होता था। किसी हिंदू राजा को प्राय ५,००० से ऊपर का मनसब नही मिला करता था, लेकिन अकबर के बाद यह नियम शिथिल होने लग गया था। औरगज़ेब के बाद मनसब का महत्व बहुत घट गया था और मध्यम श्रेणी के राजाओ को भी 'हफ्तहज़ारी' का मनसब मिल जाया करता था। प्राय जितने का मनसब होता था उतने ही घोडे राजाओ के पास नही हुआ करते थे। पचहज़ारी मनसब के साथ यदि ३००० भी घोडे हुए

तो काफी समझे जाते थे। अकबर के जमाने में निरीक्षण कड़ा था, परंतु तो भी नियम का पालन सर्वांश में नहीं हुआ करता था। गिनती करने वाले कर्मचारियों को तथा अन्य अधिकारियों को घूस देने पर काम चल जाया करता था। अकबर के पश्चात् यह शैथिल्य अधिकाधिक बढ़ने लगा, और औरंगजेब की मृत्यु के बाद तो यह पराकाष्ठा पर पहुँच गया। कई राजाओं के पास घोड़ों की संख्या ही कम नहीं होती थी, परंतु उन की ऊँचाई, लंबाई तथा नसल भी नियम के विपरीत हुआ करती थी। इस प्रकार की सब गड़बड़ रिश्वत और खुशामद के कारण निभ सकती थी। राजाओं के लड़के भी मुगल सेना में मनसबदार हुआ करते थे। इन का मनसब अपने पिता के मनसब से सदैव छोटा हुआ करता था और इन के घोड़े भी नियत संख्या से कम हुआ करते थे।

राजाओं को अधिकतर सम्राट् की नौकरी में रहना पड़ता था। जब घर आते थे तो छुट्टी माँग कर आना पड़ता था। नौकरी में किसी प्रकार की कमी होने की हालत में जागीर छिन जाने का भय रहता था। युद्ध में कायरपन या सम्राट् के प्रति भक्ति-शैथिल्य प्रकट होने पर दंड दिया जाता था। यदि सम्राट् एक राजा को दूसरे राजा के प्रति लड़ने का हुक्म देता था तो उसे मानना पड़ता था। कभी-कभी सम्राट् की अनुमति के बिना भी दो या अधिक राजाओं के बीच युद्ध हो जाया करता था। जिस राजा से बादशाह विशेष प्रसन्न होता था उस का खिलअत और हाथी-घोड़ों द्वारा सम्मान किया जाता था। नौबत या नक्कारे का इनाम भी बड़ा सम्मानसूचक माना जाता था। जिस राजा को इस प्रकार सम्मानित किया जाता था, वह बड़ी खुशी मनाता था और बादशाह के नौकरों को इनाम देने में हज़ारों रुपये खर्च कर दिया करता था।

राजाओं को विशेष सम्मानसूचक शब्दों द्वारा संबोधित नहीं किया जाता था। शाही फरमानों में राय भुर्जन हाड़ा, कर्णसिंह कछवाहा, अमरसिंह राठौड़ इस प्रकार लिखा जाता था। किसी-किसी राजा को विशेष वीरता या स्वामिभक्ति के प्रदर्शन के उपलक्ष्य में उपाधि दी जाती थी, जैसे बूँदी के राव रतन को सर बुलंदराय और आमेर के राजा जयसिंह को मिर्ज़ा राजा का खिताब था। 'तुजुके-जहाँगीरी' आदि आत्मचरित्रों में मुगल सम्राटों ने आमेर और जोधपुर आदि के नरेशों का भी उल्लेख

सम्मान-पूर्वक नही किया है। जहाँगीर ने मानसिंह की बडी प्रशसा की है, परतु साथ ही उनको केवल राजा मानसिंह कहा है। कई स्थानो पर ऐसा लिखा हुआ है कि अमुक राजा हाज़िर आया, अमुक राजा ने चरण-चुम्बन का सौभाग्य प्राप्त किया, अमुक राजा ने दरगाह में अर्ज की।

राजपूतो का आतरिक शासन पूर्ण-रूपेण मुगलो का अनुकरण था। यह सैनिक शासन था, जिस में अपने गौरव की रक्षा का और अपनी जागीर को बनाए रखने का सर्वाधिक ध्यान था। जैसे राजा लोग मुगलो के जागीरदार थे, उसी भाँति अनेक राजपूत सामत राजाओ के जागीरदार थे। इन लोगो को अपनी जागीर के बदले में घोडो की नियत सख्या के साथ राजा की नौकरी करनी पडती थी। ऐसे जागीरदारो के घोडो से राजा लोग अपने मनसब के घोडो की सख्या पूरी किया करते थे। त्यौहारो में, दरबारो में, जुलूसो में और शिकार में भी हिंदू राजा यथाशक्ति मुगलो की नक़ल किया करते थे। राजपूतो के शासन-विभागो की व्यवस्था में भी मुगल-सस्कृति की छाप थी। महकमा खास, बख्शीखाना, फौज बख्शी, हाकिम माल, फीलखाना, शुतुरखाना, महल आदि शब्दो में मुगलो का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है। भूमिविभाग और कर-निर्णय राजपूताने में मुगलो ही का था। यही कारण था कि प्रत्येक परगने का शाही मताल्बा शाही अफ़सर नियत करते थे।

राजपूताने के सामाजिक जीवन पर भी मुगल शासन का गहरा प्रभाव पडा था। राजपूत नरेशो की और राजपूत सैनिको की पोशाक मुगलो से बहुत मिलती-जुलती थी। हाथी, चीते आदि जगली जानवरो की लडाइयाँ देखना सभवत राजपूतो ने मुगलो से ही सीखा था। दरबारी शिष्टाचार सर्वांशरूपेण मुगल दरबार का अनुकरण था। आमेर के महलो में दीवाने-आम और दीवाने-खास की इमारतें इस समय भी इस प्रवृत्ति का स्मरण दिलाती हैं। हिंदुओ मे विवाह के अवसर पर जो दूल्हे के साथ उपचार किए जाते हैं, उन में अधिकाश मुगल सस्कृति का आभास है। सपूर्ण राजपूत रियासतो में उर्दू और फारसी प्रबध-विषयक भाषा बन गई थी। सस्कृत को भुला नही दिया था परतु अधिकतर व्यवहार उर्दू भाषा का होता था। उदयपुर के महाराणाओ ने मुगलो की शक्ति का प्राणपण से विरोध किया था और

किसी हद तक उन को सफलता भी प्राप्त हुई थी, परतु मुगल सस्कृति के प्रवेश को वे भी नही रोक सके थे।

राजपूताने में मुगलो का शासन व्यावहारिक रूप से लगभग १७५ वर्ष तक रहा। मुगल इस प्रदेश को अपना सूबा ही मानते रहे और हिंदू नरेशो को अपना जागीरदार समझते रहे। उधर राजपूत नरेश येनकेनप्रकारेण अपने परपरागत राज्यो की रक्षा करते रहे। मुगलो की शक्ति काल-चक्र के प्रवाह में लुप्त हो गई और हिंदू नरेशो को पुन स्वाधीनता प्राप्ति के स्वप्न दिखाई देने लगे। नही कहा जा सकता कि मराठो के उदय के बिना मुगल साम्राज्य कब तक टिकता और यदि अन्य कारणो से मुगलो की शक्ति क्षीण हो जाती और मराठो का उदय न होता तो राजपूत रियासतो का वर्तमान स्वरूप क्या होता। ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि वर्तमान राजपूत राज्य मुगलो की शक्ति और सस्कृति के सजीव स्मारक है।

कालिदास के ग्रंथों में वर्णित भारतीय शासनपद्धति

[लेखक—श्रीयुत भगवत शरण उपाध्याय, एम्० ए०]

कालिदास के ग्रथो की राजनीति ने राष्ट्र को सात भागो में विभक्त किया है, और इन को आधुनिक राजनीति-विशारदो की भाँति 'अग'[1] की सज्ञा प्रदान की है।

राष्ट्र

इस सज्ञा का एक विशेष अर्थ है। आधुनिक राजनीति-तत्वज्ञ राष्ट्र को चेतन कहते है जिस के एक-एक अंग का विकास चेतनाग के विकास-सा हुआ मानते हैं। हिंदू राजनीति-पडितो ने भी इसी प्रकार इन अगो को चेतन घोषित किया है। इन 'सप्तागो' की विशद व्याख्या कालिदास ने तो नही की है, परतु अन्य राजनीति के ग्रथो में इन का पूर्ण विवेचन हुआ है। 'अमरकोश' के आधार पर, जिस का काल श्री कालिदास से बहुत दूर नही है, सप्तागो के निम्न-लिखित नाम गिनाए जा सकते हैं —

(१) राजा अथवा 'स्वामी'।
(२) अमात्य।
(३) सुहृत् (राजनैतिक)।
(४) कोश (राजकीय)।
(५) जाति (अथवा राष्ट्र)।
(६) दुर्ग, और
(७) सैन्य।[2]

---

[1] सप्तस्वगेषु
रघुवश, १।६०

[2] स्वाम्यामात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। सप्तागानि
अमरकोश

राष्ट्र के इन सप्तांगो में राजा ही मुख्य और सर्व प्रथम आता है। वह राष्ट्र वृत्त का ज्वलंत केंद्र है। वैदिक काल के राजा के अधिकार कालिदास के समय के राजा के अधिकारो से बहुत भिन्न थे। वैदिक काल में राजा आधुनिक राष्ट्रपति-सा था और उस के बनाने और बिगाड़न में जनसाधारण का बड़ा हाथ था। उस के वरण में जनसत्ता की स्वेच्छा प्रचुर मात्रा में उपस्थित थी परंतु कालिदास के समय में यह संस्था न केवल एक कुल-परंपरा हो गई थी, वरन् राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि भी समझा जाने लगा था। 'मनुस्मृति' का अनुकरण करने वाले[1] कालिदास ने भी राजा को एक विशेष प्रकार के व्यक्तित्व और शक्ति से पूरित माना है। उन के विचार में राजा 'संपूर्ण स्थिति का सार', 'सारे तेज का स्वरूप' है। वही 'सर्वोन्नत' पृथ्वी को आक्रांत कर उस पर स्थित है।[2] जब दिलीप की रानी सुदक्षिणा गर्भ धारण करती है तो सारे लोकपाल उस के शरीर में प्रवेश करते है।[3] इस

राजा

---

[1] अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥
इंद्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चंद्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती ॥
यस्मादेषा सुरेंद्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृप ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
तपत्यादित्यवच्चैव चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेंद्रः प्रभावतः ॥
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

मनुस्मृति, ७।३-८

[2] सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुमिवात्मना ॥

रघुवंश, १।१४

[3] अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः ।
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ॥
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी ।
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥

रघुवंश, २।७५

प्रकार कालिदास और मनुस्मृति के विचारानुसार राजा अपना राष्ट्र दैवी अधिकार से स्वायत्त करता है। उस के नाम के विशेषण भी कुछ दैवी ही ध्वनि से सपन्न हैं। उदाहरणार्थ अग्निमित्र की सज्ञा—भगवान् विदिशेश्वर[1]—प्रस्तुत की जा सकती है।

राजसत्ता के विभूति चिन्हो का कालिदास ने इस प्रकार उल्लेख किया है —

(१) राजकीय स्वर्णवितान,

(२) चवँर[2] तथा चँवरधारी राजभृत्य (चामराणी);

(३) राजदड,

(४) किरीट।

'नृपतिककुद'[3] की सज्ञा उस राजा की थी जो अनेक राजाओ का अधिराज था। उस के प्रस्थान के समय बहुत से पार्श्ववर्ती अधिकृत राजागण[4] उस का अनुकरण करते थे। इस प्रकार अधिकृत राजाओ का सामत-रूप में सम्राट् के राजद्वार (दरबार) पर उपस्थित रहना कालिदास के समय का एक मुख्य दृश्य था, जैसा इस महाकवि के कई वर्णना से ज्ञात होता है। राजाधिराजत्व के लक्षण का ज्ञान राजा की एकात प्रभुता[5] से होता था जिस के निम्न लिखित चिह्न कालिदास ने अपने ग्रंथो में व्यक्त किए है —

(१) एक छत्र।

(२) शासनाक जो सामत राजाओ की चूडामणियो से चमत्कृत हो उठते थे।[6] सामत-पद का पदार्थ है सीमात प्रदेश का राजा, वह राजा जो एक ग्रामसमूह का स्वामी है। सामत राजा नृपतिककुद—सम्राट्-सत्ता—की अध्यक्षता में राज करते थे।

---

[1] मालविकाग्निमित्र, ४

[2] विद्युल्लेखाकनकरुचिर श्रीवितान ममाभ्रम्।
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरी चामराणि॥
धर्मच्छेदात्पटुतरगिरो बन्दिनो नीलकण्ठा।
धारासारोपनयनपरा नैगमा सानुमन्त॥
विक्रमोर्वशीयम्, ४।४

[3] रघुवश ३।७०

[4] सामन्तमौलिमणिरञ्जितशासनांक-
मेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम्॥
विक्रमोर्वशीयम्, ३।१९

[5] विक्रमोर्वशीयम्, ३।१९

[6] वही।

राष्ट्रधारी राजा स्वेच्छाचारी और सुखी नहीं था वरन् राज धर्म का कष्टसाध्य भार अपने मस्तक पर वहन करता था। हिंदू राजपद्धति पर सर्वप्रथम लिखने वाले श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है कि—" राजन् पद और इस के मूल शब्द राट् का शाब्दिक अर्थ है शासक। इस का संबंध लैटिन भाषा के 'रेक्स' शब्द से है। परंतु हिंदू राजनीति विशारदों ने इसे अध्यात्मिक रूप दे दिया है। नृपति की संज्ञा 'राजा' है क्योंकि उस का कर्तव्य सुंदर शासन की स्थापना कर प्रजा का 'रंजन करना' है। यह आध्यात्मिक व्याख्या संस्कृत साहित्य भर में स्वयंसिद्ध सिद्धांत की भाँति स्वीकृत हो गई है।"[1] कालिदास भी राजा की यही परिभाषा करते हैं—राजा प्रजा को प्रसन्न करने से होता है।[2] उसी पारिभाषिक अर्थ में राजा परंतप का वर्णन महाकवि ने किया है। वह राजा अपनी प्रजा को प्रसन्न करने में, उन के हृदय विजय करने या प्रजारंजन में पूर्ण कुशल या लब्धवर्ण[3] है। सो 'प्रजारंजन' राजा का तत्वरूप सर्वप्रथम और मुख्य धर्म था। राष्ट्रारोहण के उत्तर में उस का मुख्य कर्तव्य—राजधर्म का प्राणस्वरूप—यह प्रजारंजन कर्म था जिस के संपादन से ही राज की संज्ञा सार्थक होती थी।

इस असाधारण कार्य के लिए राजा को अपने भीतर उचित शक्ति भरनी पड़ती थी। इस के संपादन के निमित्त राजा को अपने कर्तव्य के अनेक अवयवों का पूर्ण ज्ञान और मनन नितांत आवश्यक था। इस कर्तव्य-ज्ञान के निमित्त शास्त्रों में 'अकुंठिता बुद्धि'[4] की अनिवार्य आवश्यकता समझी जाती थी। इस अकुंठिता बुद्धि का फल था एक उचित, विवेकपूर्ण और सत्य दृष्टिकोण। यह बुद्धि स्वेच्छाचारिणी अप्रतिहता न थी वरन् दिन

---

[1] काशीप्रसाद जायसवाल, 'हिंदू पॉलिटी', भाग २, पृष्ठ ३

[2] रघुवंश, ४।१२
देखो—राजाप्रजारञ्जनलब्धवर्णः।

रघुवंश, ६।२१

स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के जूनागढ वाले शिलालेख के बाईसवें श्लोक में एक ऐसी ही इंगित है—सरञ्जयाञ्चप्रकृतिर्विभूज। मौर्य सम्राट् श्री अशोकवर्द्धन ने अपने नाम के साथ 'प्रियदर्शी' (अर्थात् कल्याण चाहने वाला) पद जोड़ लिया था।

[3] रघुवंश, ६।२१

[4] शास्त्रेष्वकुण्ठिताबुद्धि।

रघुवंश, १।१९

रात के निरतर अभ्यास का फलस्वरूप थी। शास्त्रार्थ में बुद्धि यदि अकुठिता न होती तो राजा व्यवहार के प्रयोग में सिद्धहस्त क्योकर होता? उसे तो निरतर शास्त्रो के प्रमाण से समुख विषय का स्पष्टीकरण करना था, शास्त्रीय व्यवहार की तुला पर अभियोग को तौल कर उस का उचित विधान करना था। इसी कारण असाधारण व्यक्ति समझा जा कर भी राजा साधारण द्विज के चारो आश्रमो के यत्रण से मुक्त नही था। राज्य के उत्तराधिकारी के लिए ब्रह्मचर्याश्रम का आचरण, जिस में शासनपद्धति के व्यावहारिक और आध्यात्मिक रहस्य का स्पष्टीकरण किया जाता था, अनिवार्य था। साधारण नागरिक के आचरण की भाँति राजा के जीवन का भाग भी कालिदास उन्ही साधारण चार आश्रमो में इस प्रकार करते है —

शैशवेऽभ्यस्तविद्याना यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥[१]

अतएव राजवृत्ति के पूर्ण सपादन के अर्थ राजा का प्रथम कर्तव्य अपने कर्तव्य के रूप को सर्वांग में समझना था, जो शास्त्रचितन मात्र से सभव था।

'अभिज्ञानशाकुतल' में एक स्थलपर शार्ङ्गरव ने दुष्यत के प्रति व्यग-पूर्ण आक्षेप किया है। वह कहता है कि 'आश्चर्य! जो व्यक्ति जन्म से ही 'शाठ्य' में 'अशिक्षित' है उस के 'वचन' 'अप्रमाणित' किए जाते है और जिन्हो ने औरो को धोका देना 'विद्या' की भाँति सीखा है उन के वचन प्रमाणित समझे जाते है।"[२] इस उक्ति से यह सिद्ध होता है कि अन्य विद्याओ के साथ-साथ भावी राजा को राजनीति का वह अग भी जिसे जनसाधारण की भाषा में कूटनीति कहते है और जिसे कालिदास ने 'परातिसधान' कहा है कला की भाँति सीखना पडता था। राजा के अध्ययन की अनुक्रमणी मे कूटनीति का होना स्वाभाविक ही था क्योकि उस राजा का मित्र जिस की राज्यसीमाएँ 'प्रकृत्य-

---

[१] रघुवश, १।८

[२] आजन्मन शाठ्यमशिक्षितो य-
स्तस्याप्रमाण वचन जनस्य।
परातिसधानमधीयते यै-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाच॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।२५

मित्रों'[1] द्वारा सर्वत घिरी हुई थी एक मात्र 'शाठ्य' था। उसे बहुधा कूटनीति के चारा अग—साम, दाम, दड और भेद[2]—की सहायता की आवश्यकता होती थी। किसी 'नृपतिककुद' के मरणातर प्राय एक 'अरिमडल' की स्थापना कर अमित्रराष्ट्र नवराजा रोही के राज्य को हस्तगत करने की चेष्टा करते थे, जब तक कि उन की चेष्टा नए राष्ट्रपति द्वारा 'आक्रात' नहीं कर दी जाती थी।[3] स्वाभाविक शत्रु (प्रकृत्यमित्र) परस्पर ये होते थे जिन के राज्य की सीमाएँ एक दूसरे से मिली होती थी। ये कभी-कभी किसी अन्य प्रभावशाली राजा के विरुद्ध अपना गुट्ट तैयार कर, सुअवसर की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे। जब तक वह प्रभावशाली राजा जीवित रहता था, उन को अपने कुचक्र के प्रयोग में भय होता था, पर उस की मृत्यु के उपरात उस के राज्य को शिकार की भाँति हड़प जाने के लिए[4] वे टूट पड़ते थे।

युवराज का अभिषेक

राजा के अभिषेक की भाँति ही कुमार (उत्तराधिकारी) का युवराज-पद के निमित्त अभिषेक होता था। जिस प्रकार राजा के अभिषेक के लिए 'राज्याभिषेक' पद का प्रयोग होता है, वैसे ही युवराज के तिलक के लिए भी कालिदास ने 'यौवराज्याभिषेक'[5] पद का प्रयोग किया है। युवराज का पद केवल कपोलकल्पित नहीं था, वरन् इस के साथ प्रचुर भार था, जिस का प्रदान यथार्थ सस्कार-सपादन एव धार्मिक क्रियाओं[6] के साथ किया जाता था और

---

[1] प्रकृत्यमित्रप्रतिकूलकारी च मे विदर्भ।
मालविकाग्निमित्रम्, १

[2] इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीति चतुर्विधाम्।
आतीर्थादप्रतीघात स तस्या फलमानशे॥
रघुवश, १७।६८

[3] सममेव समाक्रान्त द्वय द्विरदगामिना।
तेन सिंहासन पित्र्यमखिल चारिमण्डलम्॥
रघुवश ४।४

[4] विग्रोषितकुमार तद्राज्यमस्तमितेश्वरम्।
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणा द्विषामामिषता ययौ॥
रघुवश, १२।११

[5] उपनीयतो स्वय महेन्द्रेण सम्भृत कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेक।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

[6] विक्रमोर्वशीयम्, ३ और ५

युवराज तदनंतर राष्ट्र का एक बड़ा उच्चपदस्थ कर्मचारी समझा जाने लगता था। अभिषेक संस्कार के उपरांत युवराज की एक कानूनी सत्ता हो जाती थी। युवराज के पद से राजा का पद केवल एक पग रह जाता था, जिस की प्राप्ति फिर अभिषेचन संस्कार की क्रिया-संपादन के अनंतर ही होनी संभव थी। यह ध्यान देने की बात है कि जब तक युवराज की कानूनी सत्ता यथोचित अभिषेक-संस्कार द्वारा प्राप्त नहीं होती थी वह युवराज न कहला कर 'कुमार'[1] मात्र कहलाता था। यद्यपि राज्य का उत्तराधिकारी वही कुमार होता था, परंतु उस की संज्ञा 'युवराज' केवल 'राजकुमारत्व' पर ही नहीं वरन् यथोचित अभिषेचन संस्कार पर निर्भर थी। उत्तराधिकारी और युवराज में व्यावहारिक अंतर है, दोनों को एक समझना बड़ी भूल है। उत्तराधिकारी युवराज होने से प्रथम ज्येष्ठतम राजकुमार की संज्ञा है और युवराज राजा का प्रतिनिधि है। युवराज की कुमार संज्ञा तब तक बनी रहती है जब तक कि यौवराज्याभिषेक की अंतिम क्रिया समाप्त नहीं हो जाती, परंतु ज्योंही अंतिम क्रिया समाप्त हो जाती थी, उसे कुमार न कह कर 'युवराज'[2] की संज्ञा से उस का संबोधन किया जाता था। यौवराज्याभिषेक का उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के पंचम अंक से प्राप्त होता है जहाँ राजा पुरूरवस् के पुत्र अयुस् का यौवराजत्व के निमित्त संस्कार हुआ है। वहाँ नारद अयुस् के संस्कार के लिए अप्सराओं से अभिषेचन सामग्री माँगते हैं। सामग्री (अभिषेक संभारा) लाई जाती है और कुमार एक भद्रासन (भद्रपीठ) पर बैठाए जाते हैं। तब नारद स्वयं इस संस्कार की सब से आवश्यक क्रिया, जल द्वारा अभिषेचन, करते हैं, जो कार्य सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण द्वारा किया जाता था। 'शेष विधि' इतर साधारण व्यक्ति भी कर सकते थे। तदनंतर युवराज अपने मातापिता को 'प्रणाम' करता था। तब उसे युवराज की संज्ञा (विजयता युवराज) से संबोधित करते हुए विरद पंडित चारण लोग उस के पूर्वजों की आशीर्वादात्मक प्रशस्ति गाते थे जिस का उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' में इस प्रकार आया है —

"जिस प्रकार अमरमुनि अत्रि ब्रह्मा की भाँति, चंद्रमा अत्रि की भाँति, बुध

---

[1] विक्रमोर्वशीयम्, ५

[2] विजयता युवराज ; पुन —युवराजश्रिया वही, १

चद्रमा की भाँति और महाराज बुध की भाँति हैं उसी प्रकार अपने प्रजारजनकारी गुणो से तुम भी अपने पिता के सदृश होओ। तुम्हारे उन्नत वश मे सारे आशीर्वचन सत्य सिद्ध हुए हैं।"[1]

"हिमालय और सागर में विभक्त गगाजल की भाँति बडो के चूडामणि तुम्हारे पिता और कर्तव्यशील और धैर्यवान तुम्हारे बीच विभक्ता राजलक्ष्मी और भी सुदर ज्ञात होती है।"[2]

इस प्रकार युवराज की प्रशसा उस के कर्तव्य-पालन के लिए, उस के प्रजारजन-धर्म के लिए, की जाती थी। अत में उसे राजा होना था, जिस का कर्तव्य प्रजा को प्रसन्न करना था। इस हेतु इस का अभ्यास वह अभी से क्यो न करे? उस को अपनी प्रजा पर स्नेहपूर्वक शासन कर के उन का प्रेम अर्जन करना था। प्रजारजन राजा का सर्वोच्च धर्म समझा जाता था। उस से यह आशा की जाती थी कि वह सामाजिक मर्यादा (स्थितिमति)[3] भग न करे, कर्तव्य की सीमा का अनुचित रूप से उल्लघन न करे। कम से कम इतने की उस से प्रजा आशा करती थी। अब इस अवस्था में आकर युवराज राज्य-भार पिता के साथ वहन करता था—मानो राजलक्ष्मी उस में और उस के पिता में बँट जाती थी—(विभक्ता　अधिकतरमिदानीं राजते　राजलक्ष्मी) और तभी राजा की 'राज्यश्री' की भाँति वह 'यौवराज्यश्री'[4] धारण करता था।

---

[1] अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दु-
बुंध इव शिशिरांशोर्बोधिनस्येव देव ।
भव पितुरनुरूपस्त्वं　गुणैर्लोककान्ते-
रतिशयिनि समाप्ता वश एवाशिषस्ते ॥
　　　　विक्रमोर्वशीयम्, ५।२१

[2] सव　पितरि पुरस्तादुन्नताना स्थितेऽस्मि-
न्स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्प्यधैर्ये ।
अधिकतरमिदानीं　राजते　राजलक्ष्मी-
हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गगा ॥
　　　　वही, २२

[3] देखो रघुवश, ३।२७ में 'स्थितेरभेत्ता'।

[4] आयुषो यौवराज्यश्री स्मारयत्यात्मजस्य ते ।
अभिषिक्त　महासेन　सैनापत्ये　मरुत्वता ॥
　　　　रघुवश, २३

युवराज अपना राज्याभिषेक करा कर राजा बनता था। यदि राजा जीवित होता था तो उस की आज्ञा से 'अमात्य-परिषद्' राज्याभिषेक का प्रबंध करता था।[1]

राजा का अभिषेक

जब सारी तैयारी हो चुकती थी तो अभिषेचन संस्कार वृद्ध मंत्रियों (अमात्यवृद्धा) द्वारा नाना पावन तीर्थों से स्वर्णघटों में लाए गए जल से संपन्न होता था।[2] यह जल गंगा जैसी नदियों पूर्वसागर जैसे समुद्रों और मानस जैसे ह्रदों से लाया जाता था।[3]

साधारणतया ज्येष्ठ राजकुमार जो युवराज संस्कार से दीक्षित हो चुका होता था, अन्य कुमारों से योग्य समझ कर राजा बनाने के लिए चुना जाता था। परंतु जन्म मात्र ही से ज्येष्ठ कुमार राजत्व का अधिकारी नहीं हो सकता था और उस के गुण भी ध्यान में रक्खे जाते थे। जन्म और गुण दोनों मिल कर राजपुत्र को राष्ट्र-रूपी 'रत्नविशेष' को भोगने का अधिकारी बनाते थे।[4]

राज्याभिषेक एवं राजसत्ता से राजा नीचे लिखे प्रकार संपन्न किया जाता था :—

वृद्ध अमात्यगण शिल्पियों द्वारा एक सुंदर चतुःस्तंभयुक्त उन्नत वेदी तैयार कराते थे।[5] चारों कोनों पर खड़े स्तंभ 'विमान' अथवा मंडप को उठाए रखने थे जिस के नीचे ऊँची पवित्र 'वेदी' होती थी। तदनंतर भावी राजा को एक भद्रासन (भद्रपीठ) पर बैठा कर 'हेमकुंभों' से नाना तीर्थों से भर कर लाए गए जल की धारा उस पर छोड़ते

---

[1] मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि संभ्रियतामायुषो राज्याभिषेक इति।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

[2] अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्यो.।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः॥
रघुवंश १४।७

[3] सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षः कपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः॥
रघुवंश, १४।८

[4] अथेतरे सप्तरघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरो जन्मतया गुणैश्च।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि॥
रघुवंश, १६।१

[5] ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम्॥
रघुवंश, १७।९

थे।[१] इसी समय राजद्वार पर बजने वाले वाद्यघोष से सारा स्थल गूँज उठता था[२]। फिर मन्त्रियों द्वारा उसे दूर्वा, यवांकुर, प्लक्षत्वग और मधूक[३] जैसी शुभ वस्तुएँ प्राप्त होती थीं। तब ब्राह्मणों म सर्वश्रेष्ठ पुरोहित आशीर्वादात्मक अथर्ववेद के उन मंत्रों को उच्च स्वर से पढ़ता था, जिन के बल से राजा को अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो।[४] मंत्र-पाठ के साथ-साथ जल की धारा छोड़ी जाती थी। उसी समय चारण गण आ कर राजा के पूर्वजों की प्रशस्ति का पाठ करते थे।[५] तब आचारपूत[६] तेजस्वी राजा स्नातकों[७] को दान देता था। ये दान विवाहित ब्राह्मणों को ही दिए जाते थे जिस से वे इन का उपयोग अपने नित्य होम में कर सकें—ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार का पुण्य जिस का लाभ राजा को भी हो सके ब्रह्मचारी नहीं कर सकते थे। ब्रह्मचारी दान भी अपने आप नहीं ले सकते थे, क्योंकि उन को अपनी सारी भिक्षा और अन्य प्राप्ति गुरु को अर्पण कर देनी पड़ती थी।

तब राजा बंदियों को मुक्त करने की आज्ञा देता था। सारे वध्य बंदियों के अपराध क्षमा कर उन्हें प्राण-दान देता था। धुरा वहन करने वाले वृषभ और अश्व कुछ दिनों

---

[१] तत्रैनं हेमकुम्भेषु सम्भृतैस्तीर्थवारिभिः।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम्॥
रघुवंश, १७।१०

[२] नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसंततिः॥
रघुवंश, १७।११

[३] दूर्वायवांकुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान्।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन्॥
रघुवंश, १७।१२

[४] पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः॥
रघुवंश, १७।१३

[५] स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स बन्दिभिः।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारंगैरभिनन्दितः॥
रघुवंश, १७।१५

[६] रघुवंश, १७।१६

[७] स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु।
यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः॥
रघुवंश, १७।१७

तक गाडी और रथ खीचने से वचित कर दिए जाते थे। गौएँ बछडा के उपकारार्थ[1] बिना दुही छोड दी जाती थी। 'पजरस्थ शुक' आदि पक्षी स्वतन्त्रता पूर्वक आचरण करने के निमित्त मुक्त कर दिए जाते थे।[2] इस प्रकार चारो ओर स्वतन्त्रता घोषित कर दी जाती थी।

तदनतर राजा को एक दूसरे कमरे में ले जा कर पुनीत, स्वच्छ 'गजदन्तासन' पर बैठाते थ, जहाँ उसे राजाभरणा से विभूषित किया जाता था।[3] फिर उस 'चदन', 'अग राग, गोरोचन एव कस्तूरी (मृगनाभि) लगा कर सुरभित करते थे, तब उज्ज्वल राज-तिलक लगाते थे।[4] अब वह पुनीत हस आकृति स बुन हुए दुकूल वस्त्र धारण करता था,[5] जिन में मुक्ता गुँथ होते थे। फिर वह 'राजककुद' 'पार्श्ववर्ती' गुरुजनो से पाए राजचिह्नो को धारण कर 'सभा'[6] में जा कर 'वितान' के नीचे रक्खे पूवजों के मणि मुक्ताखचित स्वर्ण सिहासन पर बैठता था।[6] सभाभवन सामयिक

---

[1] बन्धच्छेद स बद्धाना वधार्हाणामवध्यताम् ।
धुर्याणा च धुरो मोक्षमदोह चादिशद्गवाम् ॥
रघुवश, १७।१९

[2] क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्था शुकादय ।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्ठगतयोऽभवत् ॥
रघुवश, १७।२०

[3] तत कक्ष्यान्तरन्यस्त गजदन्तासन शुचि ।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय स ॥
रघुवश, १७।२१

[4] चन्दनेनागराग च मृगनाभिसुगन्धिना ।
समापय्य ततश्चक्रु पत्र विन्यस्तरोचनम् ॥
रघुवश, १७।२४

[5] आमुक्ताभरण स्रग्वी हसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्य स राज्यश्रीवधूवर ॥
रघुवश, १७।२५

[6] स राजककुदव्यग्रपाणिभि पार्श्ववर्तिभि ।
ययावुदीरितालोक सुधर्मानवमा सभाम् ॥
रघुवश, १७।२७
वितानसहित तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठमहीक्षिताम् ॥
रघुवश, १७।२८

'मगलायतनो'[1] से सजा होता था।

इस प्रकार राज्याभिषेक सस्कार की पूर्ण समाप्ति के पश्चात् जब राजा व्यावहारिक रूप से अपनी सत्ता ग्रहण करता था और राजदड के साथ शासनसूत्र अपने हाथो में धारण करता था तब वह अपनी प्रजा एव राज्य से परिचय प्राप्त करने के लिए गजारूढ हो कर राजधानी की मुख्य-मुख्य सडको पर घूम आता था।[2] इस प्रकार वह युवराज के पद से 'अधिराजत्व'[3] पद प्राप्त करता था।

जब राजा साम्राज्य का स्वामी होता था तो वह सम्राट् सज्ञा के लिए दीक्षित होता था।[4] चक्रवर्ती शासक के मरणोपरात नव राजा की अनुभवहीनता से लाभ उठाने के लिए, पराधीनता का युवा कधो से फेंक देने के लिए, 'अखिल अरिमडल' क्राति कर उठता था। चक्रवर्ती के मरण से उस का आतक हट जाता था और एक प्रकार के 'मात्स्य न्याय' के काल की उत्पत्ति की सभावना हो आती थी। अब नया राजा दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता था और इस अरिमडल को, जिस का हृदय उस की 'प्रतिष्ठा'[5] के समाचार पा कर क्रोधाग्नि से जल उठता था, कुचल देता था। कालिदास के ग्रथो में राजा का आदर्श एकात प्रभुता वाला एकछत्र[6] चक्रवर्ती सम्राट् है। यह आदर्श हिंदू राजाओ ने

---

[1] शुशुभे तेन चाक्रान्त मगलायतन महत्।
श्रीवत्सलक्षण वक्ष कौस्तुभेनेव कैशवम्॥
रघुवश, १७।२९

[2] समेव समाक्रान्त द्वय द्विरदगामिना।
तेन सिंहासन पित्र्यमखिल चारिमण्डलम्॥
रघुवश, ४।४

[3] बभौ भूय कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्यस।
रेखाभावादुपारूढ सामग्र्यमिव चन्द्रमा॥
रघुवश, १७।३०

[4] छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥
रघुवश, ४।५

[5] दिलीपानन्तर राज्ये त निशम्य प्रतिष्ठितम्।
पूर्व प्रधूमितो राज्ञा हृदयेऽग्निरिवोत्थित॥
रघुवश, ४।२

[6] एकातपत्र जगत प्रभुत्व नव वय कान्तमिद वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढ प्रतिभासि मे त्वम्॥
रघुवश, २।४७

कई बार हस्तगत किया है। जब राजा यह आदर्श प्राप्त कर लेता था तो उस का रथ अप्रतिहत गति रखता था। अपने समय के हिंदू संसार के विजेता समुद्रगुप्त के प्रयागस्तंभ की प्रशस्ति का 'अप्रतिरथ' पद ही कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतल' का 'अप्रतिरथ'[1] है जिस की ध्वनि उन के और पदों—दिगंतविश्रांतरथ[2] और अनाकरथवर्त्मनाम्[3]—से भी प्राप्त होती है। हिंदू राजा द्वारा आसमुद्रांत पृथ्वी शासन करने का आदर्श कई बार प्राप्त किया जा चुका है। प्रयाग-स्तंभ की समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में उस के लिए 'चतुरुदधिसलिलास्वादितयशस' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। कुमारगुप्त और बंधुवर्मा के मंदसोर वाले शिला-लेख के श्लोक—

चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥२३॥

—की समानान्तरता कालिदास के 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' और

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम्।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥[4]

में पूर्णरूपेण सिद्ध है। ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि किस प्रकार कितने ही हिंदू सम्राटों ने आसमुद्रांत पूरी पृथ्वी का एक नगर की भाँति शासन किया जिस पर उन का अविभक्त शासन रहा। इसी प्रकार गुप्त सम्राटों की मुद्राओं पर अंकित 'दिवं जयति' की समता कालिदास के 'अप्रतिरथ वसुधां जयति'[5] से है, जिस से चक्रवर्ती राज्य का अस्तित्व सिद्ध होता है।

देखो विक्रमोर्वशीयम्, ३।१९—'एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वम्।'

[1] पुरासप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ७।३३

[2] दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलङ्घ्य सा ॥
रघुवंश, ३।४

[3] सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥
रघुवंश, १।५

[4] रघुवंश, १।३०

[5] रथेनानुद्घातस्तिमितगतिनातीर्णजलधिः
पुरासप्तद्वीपां जयतिवसुधामप्रतिरथः।

अत उन्नत लक्ष्य वाले राजा का दिग्विजय के निमित्त प्रस्थान करना स्वाभाविक ही था। दिग्विजयातर ही विख्यात अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया जा सकता था जो सदा पराक्रमी राजाओ का लक्ष्य रहता था। दिग्विजय दो प्रकार से किया जाता था। या तो राजा पुष्यमित्र की भाँति अपनी राजधानी में ही ठहर कर मधारवरक्षक दिग्विजयी युवराज के लौटने की प्रतीक्षा करता था, फिर यज्ञ का अनुष्ठान करता था। अथवा रघुवश के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघुदिग्विजय की भाँति वह स्वय दिग्विजय के लिए देशदेशातर जाता था।

दिग्विजय

इस दूसरी अवस्था में राजा पैदल, हयदल, रथदल और गजदल की चतुरंगिणी सेना साथ ले कर स्वतत्र राष्ट्रो के विजय के लिए प्रस्थान करता था, और कन्याओ द्वारा दध्यक्षत से समादृत राजा[1] राजधानी से बहिर्गत होता था। इस के पूर्व ही 'मूल' अर्थात् राजधानी और सीमात की रक्षा का प्रबध कर और छ प्रकार के बल से प्रस्तुत हो कर[2] वह प्रस्थान करता था। कालिदास में तो नहीं परतु कोश में छ प्रकार के बल इस प्रकार गिनाए गए है —

(१) अमात्यवर्ग, (२) भृत्यवर्ग, (३) राजनैतिक मित्रवर्ग, (४) श्रेणी बल, (५) शत्रुओ के अमित्रवर्ग और (६) आटविक सैन्य।[3]

राजा दिग्विजय के समय विदेशो को विजय करता[4] और विजय के स्मारक स्तभ

इहाय सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमन
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्यभरणात् ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ७।३३

[1] रघुवश, ४।२७

[2] स गुप्तमूलप्रत्यन्त शुद्धपार्ष्णिरयान्वित ।
षड्विध बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥
रघुवश, ४।२६
देखो, 'अन्तपालदुर्गस भर्त्रा नर्मदातीरे अन्तपालदुर्ग स्थापित ।'
मालविकाग्निमित्र, १

[3] मौल भृत्य सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकबल ।
अमरकोश

[4] पौरस्त्यानेवमाक्रामस्तास्ताञ्जनपदाञ्जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठ महोदधे ॥
रघुवश, ४।३४

खडे करता जाता था।[1] कभी वह अपने शत्रुओ को बलपूर्वक उखाड फेंकता था[2] और कभी जो उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते थे उन का राज्य पुन उन्हे लौटा देता था[3]। इस प्रकार विक्रम स्वीकार कर लेने वाले शत्रु को उस का राज्य उसे लौटा कर दया दिखाने वाले को 'धर्मविजयी नृप'[4] कहते थे। ऐसे राजा शत्रु को विजित कर बंदी बनाते थे, फिर उसे उस के सिंहासन पर पुनरारूढ करा देते थे। इस प्रकार वे विजित राजाओ की राजसत्ता तो हरण कर लेते थे परतु उनकी 'मेदिनी' नहीं।[5] विजित नृपतिवृंद दूसरे शक्तिशाली 'धर्मोत्तर'[6] राजा का आश्रय लेते थे (क्या 'धर्मोत्तर' पद से 'धर्मविजयीनृपति' का बोध हो सकता है ?)। अमित्रराष्ट्रोका पूर्णतया दलन कर 'विश्वविजयी' राजा अपूर्व वैभव और तेज के साथ अपनी राजधानी में प्रवेश करता था। और अश्वमेध का अनुष्ठान कर अपनी सत्ता सारे ससार पर घोषित करता था।

---

[1] वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोन्तरेषु सः ॥
रघुवंश, ४।३६

[2] उत्खाय तरसा, अर्थात् बलपूर्वक उन्मूलन करना।
देखो, 'उन्मूल्य'—प्रयागस्तंभ की प्रशस्ति जिस में समुद्रगुप्त ने अपने उन विरोधी शत्रुओं का उन्मूलन कर दिया है जो रघुवंश के 'अनम्राणां समुद्धर्तुः' (४।३५) के समान है।

[3] आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥
रघुवंश, ४।३७

'राजग्रहणमोक्षानुग्रह'—समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में रघु की ही भाँति उसे भी धर्मविजयी नृप का आचरण करने वाला कहा गया है क्योंकि वह भी अधीनता स्वीकार करने वाले राजाओं को पहले बंदी कर उन्हे मुक्त करता था फिर उन्हें उनके पूर्व स्थान में प्रतिरोपित करके अनुग्रह दिखाता था।

[4] गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः ।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥
रघुवंश, ४।४३

और, शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ।
रघुवंश, १७।४२

[5] रघुवंश ४।४३

[6] पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥
रघुवंश, १३।७

अश्वमेघ भी विश्वविजय का एक तरीका था। कालिदास के ग्रंथो में कितने ही अश्वमेधो का वर्णन मिलता है परंतु वह वर्णन जो 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के सम्राट् पुष्यमित्र के पत्र में सुरक्षित है बड़ा ही स्पष्ट है। उस से पता चलता है कि यज्ञ के यजमान सम्राट् पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र यज्ञतुरग की रक्षा के निमित्त नियुक्त किया गया था। डाउसन साहब ने अश्वमेघ का ढंग इस प्रकार लिखा है —

अश्वमेघ

"एक विशेष रंग का अश्व कुछ क्रियाओ के अनुष्ठान से संस्कृत कर वर्ष भर स्वतंत्र विचरने के लिए छोड़ दिया जाता था। राजा अथवा उस का कोई प्रतिनिधि सेना लेकर उस का अनुसरण करता था। जब वह अश्व किसी विदेश में प्रवेश करता था तब वहां के राजा के समक्ष केवल दो मार्ग थे—चाहे वह युद्ध करे अथवा अधीनता स्वीकार कर ले। यदि अश्व को छोड़ने वाला राजा उन सारे राष्ट्रों की स्वाधीनता हरण कर स्वाधीन कर लेता था जिन से हो कर अश्व निकलता था तब तो वह विजय-पूर्वक विजित राजाओं के साथ लौटता था और यदि वह इस कार्य में असफल होता था तब उस का बड़ा अपमान होता था और उस के अनुचित हौसले की हँसी की जाती थी। उस के सफलता-पूर्वक लौटने पर एक बड़ा यज्ञ किया जाता था जिस में वह अश्व बलि दिया जाता था।"[1]

सम्राट् पुष्यमित्र के निम्न-उद्धृत पत्र से अश्वमेघ द्वारा दिग्विजय का पूरा बोध होता है। वह पत्र इस प्रकार है —

"सौ राजपुत्रो द्वारा अनुगत वसुमित्र को रक्षक नियुक्त कर राजसूययज्ञदीक्षित मैंने जिस निरर्गल अश्व को मुक्त किया था और जो वर्ष भर स्वच्छंद भ्रमण कर लौटने वाला था, सिंधु के दक्षिणतट पर भ्रमण करते हुए उसको यवन अश्वारोहियो के एक दल ने बाँध लिया। तब दोनो सेनाओ में तुमुल युद्ध हुआ। तब परम धन्वी वसुमित्र ने बलपूर्वक ले जाते हुए शत्रुओ को हरा कर मेरे वाजिराज को लौटा लिया।

"सगरपुत्र अंशुमत की भाँति पौत्र द्वारा लाए गए अश्व से अब मैं यज्ञ करूँगा।

---

[1] डाउसन, 'क्लासिकल डिक्शनरी' में 'अश्वमेघ' शब्द।

अत शीघ्र विगतरोषचित्त से मेरी पुत्रवधुओ को साथ ले कर मेरा यज्ञ देखने आओ।"[1]

कालिदास के अश्वमेध के कई वर्णनो से सिद्ध होता है कि उस समय अश्वमेध का बहुधा अनुष्ठान होता था क्योकि वह समय ब्राह्मणो के पूर्ण प्रभाव का था। दिग्विजय के अतिरिक्त अश्वमेध भी विश्वविजय का एक तरीका था। अश्व द्वारा भ्रमण किए गए सारे देश उस के घर लौटने पर उस के स्वामी के हो जाते थे। उन सारे देशो के विजित स्वामी अश्वमेधयायी सम्राट् के सामत हो कर रहते थे।

अश्व का अनुसरण और उस की रक्षा कुछ साधारण कार्य न था। निरर्गलतुरग का रक्षा-कार्य बडे उत्तरदायित्व का था और यह भार राज्य के उत्तरदायी कर्मचारियो, विशेष कर राजकुल के बलवान वीरो, पर डाला जाता था। अश्वरक्षक की नियुक्ति कितने महत्व का विषय था इस का पता वसुमित्र के मातापिता के उस समय के आचरण से ज्ञात होता है जब पुष्यमित्र के पत्र से उन्होने अश्व का निरापद लौट आना जाना। रानी धारिणी प्रसन्नता के आवेश को न रोक सकी और बडे गर्व के साथ उस ने कह डाला "सेनापति ने हमारे पुत्र को सचमुच बडे 'अधिकार' के स्थल पर[2] नियुक्त किया है।" मारे आनद के अग्निमित्र बदियो को राज्य भर के कारागारो से मुक्त करने की घोषणा करता है। यह अश्वरक्षण का सम्मान इस प्रकार था क्योकि तुरग-रक्षक के ही बल और पराक्रम पर यज्ञकर्ता का यश निर्भर रहता था। अश्वमेध के उपरात राज्य की सीमाओ का विस्तार अपरिमित हो जाता था। इसी विस्तार को इगित कर कालिदास ने निम्नलिखित वाक्याश कहे है —

एकातपत्र जगत प्रभुत्व, आसमुद्रक्षितीशाना, वेलावप्रवलया परिखीकृतसागरा,

---

[1] योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सरोपात्तनियमो निरर्गलस्तुरंगो विसृष्ट, स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थित.। तत उभयो. सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।

तत. परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्यह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तित. ॥१५॥

सोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेणेव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति।

—मालविकाग्निमित्रम्, ५

[2] अधिकारे खलु मे पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः

मालविकाग्निमित्रम्, ५।

अनन्यशासनामुर्वी, अनाकरथवर्त्मना, दिगन्तविश्रान्तरथ, जयति वसुधामप्रतिरथ इत्यादि।

राजा का प्रजारजन कर्म उसे एक दयापूर्ण और न्यायी शासन की स्थापना के लिए बाध्य करता था। शासन-कार्य जिसे कालिदास ने अपने ग्रंथो में 'यत्र' कहा है, कुछ सरल नही था। यह 'लोकतत्राधिकार'[1] बड़े परिश्रम का कार्य था। राज्यभार वहन करने वाले तपस्वी राजाओं

राजा के कर्तव्य-कर्म

की उपमा सूर्य, वायु और शेष से दी गई है। सूर्य के अश्व रथ मे जुते अविश्रात दौड़ते रहते है, वायु दिन रात प्रवाहित होता रहता है और शेष पृथ्वी का भार निरतर वहन करता है।[2] इस समता प्रदर्शन का एक और अर्थ था—सूर्य की भाँति राजा प्रजा में जीवन का सचार करता और उस की सपत्ति को बढाता है, वायु की भाँति वह शक्तिमान एव प्राण फूँकने वाला है और शेष की भाँति वह राष्ट्रभार के वहन में अथक और स्थिर रहता है। इस प्रकार राजा राष्ट्र को धारण करने वाला था। प्रजा की आय का षष्ठाश भोगने वाले का उस के प्रति यह कर्तव्य था।[3] यद्यपि कालिदास के समय में राजा की सत्ता दैवी मानी जाने लगी थी तथापि राजा की आय प्रजा के कार्य के प्रत्युपकार में उस की वृत्ति समझी जाती थी। राजा की आय प्रजा की सेवाओ का फल थी।

कार्यबाहुल्य के श्रम से शिथिल राजा की यह उक्ति स्वाभाविक ही है — "इच्छित वस्तु की लब्धि औत्सुक्य को मार देती है, वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् उस की रक्षा और उस का पालन बड़ा कष्टकर और चिंता-जनक होता है। शासक को शासन-भार विश्राम नही देता प्रत्युत् धूप निवारण के अर्थ छत्रदड धारण करने वाले व्यक्ति के हाथ के कष्ट की भाँति उस को श्रमित करता है।"[4] "अपने सुख की अभिलाषा से रहित

---

[1] अथवा विश्रामोऽस्य लोकतन्त्राधिकार ।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५

[2] भानु सकृद्युक्त तुरग एव
रात्रिन्दिवं गन्धवह प्रयाति ।
शेष सदैवाहितभूमिभार
षष्ठाशवृत्तेरपिधर्म एष ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।४

[3] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।४

[4] औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम् ।

राजा प्रतिदिन प्रजा के हित के लिए परिश्रम कर कष्ट उठाता है। वृक्ष की भाँति राजा नित्य राजवृत्ति का गुरुतम भार सिर पर वहन करता है। इस प्रकार ऊपर की 'तीव्र' उष्णता का 'अनुभव' कर के भी वह 'आश्रय' करने वालों के 'परिताप' का अपनी 'छाया' द्वारा 'शमन' करता है।"[1]

प्रजारंजन धर्म में, 'वृत्ति' के उत्तर में, राजा की मुख्य सेवा प्रजा की रक्षा थी। 'रघुवंश' में 'गोप्ता' शब्द का प्रयोग शुद्ध राजनैतिक अर्थ में हुआ है जिस का अर्थ 'रक्षक' है— रक्षक-राजा। जब राजा दिलीप ने वन में प्रवेश किया तब सारे आततायियों के दुराचार स्वत. शांत हो गए। वन को भस्मसात् करने वाली दावाग्नि बिना वर्षा के ही शांत हो गई। वन अचानक फल-फूलों से भर गया। शक्तिमान् सिंहों ने दुर्बलजीव मृगों का वध करना छोड़ दिया। इस प्रकार 'गोप्ता' के वन में प्रवेश करते ही आततायियों का आचरण सात्विक हो गया।[2] यह 'गोप्ता' शब्द रक्षक अर्थ में कालिदास द्वारा तीन बार प्रयुक्त हुआ है। स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के जूनागढ़ वाले शिलालेख में भी 'गोप्ता' शब्द का प्रयोग प्रांतीय शासक के अर्थ में किया गया है। वहाँ 'गोप्ता' के आवश्यक गुणों की गणना और उन का विशद वर्णन किया गया है। प्रबल रक्षक के शासन में कालिदास का यह वन उस 'गोप्ता' का राज्यविस्तार है, 'सत्त्व' उस की प्रजा है और 'अधिक' वे शक्तिमान दस्यु, चोर आदि राज्य के दुष्टकर्मा हैं जो 'ऊन' अर्थात् दुर्बल व्यक्तियों के सदाचार

नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।६

[1] स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवाते वृत्तिरेवं विधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।७

देखो, 'सर्वस्यलोकस्यहिते प्रवृत्तः'—जूनागढ़ का स्कन्दगुप्त का शिलालेख।

[2] शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्नि-
रासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे
तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥
रघुवंश, २।१४

कार्यों से लाभ उठा कर, उन से भक्षक और भक्ष्य का संबंध स्थापित करते हैं। 'क्रूर' व्यवहारपरायण शांतिप्रिय नागरिक हैं। 'दावाग्नि' वह मात्स्यन्याय है जो राज्य में प्रबल 'गोप्ता' की अनुपस्थिति में कभी-कभी जोर पकड़ता है। रक्षक के अर्थ में गोप्ता का प्रयोग 'मालविकाग्निमित्र' में भी हुआ है —"जब तक अग्निमित्र 'गोप्ता' था विपत्ति निवारण आदि प्रजा की कोई ऐसी अभिलाषा नहीं थी जो पूर्ण न हो सकी।'[1] पाठ में आई हुई 'ईति' एक प्रकार की जनसाधारण पर पड़ी विपत्ति है जिस के छ प्रकारों का वर्णन भाष्यकार ने किया है—(१) अतिवृष्टि, (२) अनावृष्टि, (३) टिड्डे, (४) खेतों के चूहे, (५) खेतों में उपजे दानों को खा-खा कर नष्ट कर देने वाले सुग्गे और (६) बाहरी राजाओं के आक्रमण।[2] राजा न केवल प्रजा के शरीर और संपत्ति की रक्षा करता था, प्रत्युत वह उन के वर्णाश्रम आदि सामाजिक संगठनों का भी रक्षक समझा जाता था।[3]

राष्ट्र की आवश्यकता केवल प्रजा के जीवन और उस की संपत्ति की रक्षा के लिए ही नहीं है। उस का कार्य प्रजा के व्यक्तित्व को भासमान और उज्ज्वल बनाना भी है। इसी हेतु राजा के उत्तरदायित्व में प्रजा का शिक्षण और भरण-पोषण भी है। शिक्षण और भरण-पोषण का कार्य राजा द्वारा इस पूर्णता से निभाया जाता था कि लोगों के पिता केवल उन के जन्म के कारण समझे जाते थे।[4] शास्त्रीय नियमों के अनुरूप आचरण को 'विनय' कहते हैं। संभव है राजा के लोकशिक्षण का

---

[1] आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानाम्
सम्पद्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे

मालविकाग्निमित्रम्, १।२०

[2] अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषकाः शुकाः।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥
कुछ लोग 'स्वचक्र' (अर्थात् स्वसैन्य से हानि) जोड़ कर श्लोक का द्वितीय पद इस प्रकार पढ़ते हैं—स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः॥

[3] असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५

[4] प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

रघुवंश, १।२४

तात्पर्य राजकीय कोश द्वारा विद्याप्रचार और शिक्षणार्थ आर्थिक सहायता हो। 'भरण' का तात्पर्य कदाचित् भूमि की राजकीयता से है जो लोगो को लगान (भूमिकर) के बदले दी गई समझी जाती थी।

राष्ट्र राजा का 'रक्ष्य' था जिस का वह बली, 'रक्षिता', 'गोप्ता' अथवा 'नियोक्ता' था और 'रघुवश' के एक श्लोक का तात्पर्य यह है कि रक्षक रक्ष्य का विनाश अपने समक्ष स्वय अक्षत रह कर नही देख सकता।[1] इस प्रकार अपने रक्ष्य (प्रजा) का शिक्षण और भरण करता हुआ प्रजा की आय की षष्ठाशवृत्ति के बदले उसे प्रसन्न करने के लिए दिन रात परिश्रम किया करता था। इसी कारण वशिष्ठ जैसे मुनियो द्वारा दिलीप से प्रजार्थ परिश्रमी राजाओ का स्वागत 'राज्याश्रममुनि'[2] कह कर होता था। राजा सत्यमेव वह 'मुनि' था जिस का आश्रम ईश्वराराधन न हो कर प्रजार्थसाधन था—कष्टकर राजकर्म था। राजकर्म समाप्त कर और प्रजा के प्रति पितोचित[3] न्याय सपादन कर दिन भर का थका माँदा राजा सध्या के समय एकात सेवन करने की इच्छा करता था, परतु उस की यह छोटी अभिलाषा भी बहुधा अपूर्ण रह जाती थी, जब कचुकी इसी समय कार्यवश आए व्यक्तियो की सूचना राजा को देता था।[4] राष्ट्र का सर्वप्रथम प्रतिनिधि और मुख्य इस प्रकार कष्टसाध्य जीवन व्यतीत करता था।

---

[1] भवानपीद परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातु नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्य स्वयमक्षतेन ॥
रघुवश, २।५६

[2] तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम्।
पप्रच्छ कुशल राज्ये राज्याश्रममुनि मुनि ॥
रघुवश, १।५८

[3] प्रजा प्रजा स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवतेऽशान्तमना विविक्तम्।
यूथानि सचार्य रविप्रतप्त
शीत दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्र ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।५

[4] भो काम धर्मकार्यमनतिपात्य देवस्य। तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधिकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम्। अथवा विश्रामोऽय लोकतन्त्राधिकार—वही, ५

'लोकतंत्र' (शासन) के संचालन में राजा द्वारा नियुक्त एक 'अमात्यपरिषद्'[1] राजा की सहायता करता था। राजकार्य में निपुण, 'राजनीतिविशारद' राष्ट्र के मंत्रियों के पद पर नियुक्त किए जाते थे।[2] जब कभी राजा राज्य से बाहर जाता था तो शासन का भार मंत्रियों के ऊपर छोड़ जाया करता था।[3] एक स्थल पर राजा मंत्रियों को इस प्रकार आदेश करता है—"कुछ समय तक आप अपनी ही बुद्धि से प्रजा की रक्षा करें।"[4] इस प्रकार राजा और उस के मंत्री दोनों मिल कर देश का शासन करते थे। जब कभी राजा दूसरे स्थान पर कार्य संलग्न होता था तो 'केवल' मंत्री ही शासन की बागडोर हाथ में ले कर राज्य सँभालते थे।

अमात्य

मंत्रियों का पद बड़ा उच्च था और राजा उन की बड़ी प्रतिष्ठा करता था। अग्निमित्र जब अमात्य से सेनापति वीरसेन को विदर्भराज के विरुद्ध युद्धार्थ भेजने का आदेश करता है तो उस के लिए 'भवान्' सर्वनाम का प्रयोग करता है। यह वह शब्द है जिस का उपयोग विदर्भराज ने अपने पत्र में अग्निमित्र के लिए किया था। कालिदास के ग्रंथों में मंत्री के लिए 'अमात्य', 'सचिव' और 'मंत्री' शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

'अमात्यपरिषद्' नाम के मंत्रिवर्ग का कालिदास ने कई बार उल्लेख किया है। राष्ट्र की नीति अमात्यपरिषद् द्वारा स्थिर की जाती थी[5] और परिषद् का निर्णय प्रधानामात्य राजा को बताता था जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से सिद्ध होता है —

'हम लोगों ने विदर्भ के प्रति अपनी नीति निश्चित कर ली है, अब हम महाराज

---

[1] मालविकाग्निमित्र, ५

[2] अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः॥
रघुवंश, ८।१७

[3] सतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे॥
रघुवंश, १।३४

[4] स्वमतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः॥
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्याप्तत धनुः॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६।३२

[5] अमात्येषु निवेशितराज्यधुरम्
विक्रमोर्वशीयम्, ४

का 'अभिप्राय' जानना चाहते है।"[1]

राजा को अमात्यपरिषद् के निर्णय की सूचना देने वाले मत्री के लिए एक-वचन व्यवहृत हुआ है। सभव है यह प्रधानामात्य हो जो राजा और अमात्यपरिषद् के बीच सबध स्थापित करने वाली शृखला की भाँति था परतु राज्य की नीति पूरे परिषद् द्वारा निर्णय की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि परिषद् के निर्णय को साधारणतया स्वीकृत कर राजा अपनी अनुमति दे दिया करता था, क्योकि ऊपर के उद्धरण से यह बात सिद्ध हो जाती है कि राजा से केवल उस की राय ही पूछी जाती थी, जो अकेले मत्री—कदाचित् प्रधानामात्य—द्वारा पूछी जाती थी। पर नीति निर्णय पूरी परिषद् द्वारा होता था जिस का प्रत्येक सदस्य अपनी राय दे चुका होता था। नीति का निर्णय तो परिषद् करता था।

शुक्रनीति आदि राजनैतिक ग्रथो से पता चलता है कि प्रत्येक मत्री और राजा को अपनी सम्मति अलग-अलग देनी पडती थी और इस बात का ध्यान रक्खा जाता था कि एक दूसरे की सम्मति जान न जावे जिस में स्वतत्र रूप से बिना किसी अनुचित प्रभाव के नीति का निर्णय किया जा सके। शुक्रनीति में तो ऐसे राजा को जो अलग-अलग मन्त्रियो की सम्मति नही लेता (और लिख कर अपनी आज्ञाएँ नहीं देता) चोर कहा गया है। इसी कारण अग्निमित्र का प्रधानामात्य अमात्यपरिषद् का निर्णय राजा को नही बताता केवल परिषद् के आज्ञानुसार विदर्भ देश के सबध में उस की राय पूछता है। यह नही बताता कि परिषद् का निर्णय क्या है, किस प्रकार है। परिषद् के निर्णय के ऊपर यह राजा की आज्ञा भी पूरी तरह से नही कही जा सकती, क्योकि उसे मन्त्रियो के प्रस्ताव और निर्णय का ज्ञान ही नही है। उस से तो केवल उस का 'अभिप्राय' पूछा गया है। राजा का अभिप्राय जान कर प्रधानामात्य परिषद् को उस की सूचना देता है।[2] कचुकी की, राजा के प्रति नीचे उद्धृत, उक्ति से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है —

---

[1] अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भगतमनुष्ठेयमवधारितमस्माभि। देवस्य-तावदभिप्रेत श्रोतुमिच्छामीति।

मालविकाग्निमित्रम्, ५

[2] एवममात्यपरिषदे निवेदयामि ।

मालविकाग्निमित्रम्, ५

"अमात्य विज्ञापित करते हैं—देव का विचार उचित एवं कल्याणप्रद है। मन्त्रिपरिषद् का भी यही निर्णय है।

"क्योंकि

"जिस प्रकार रथ की जुआ धारण करने वाले समान भार वहन करने के कारण दोनो अश्व चुपचाप सारथी की इच्छा का अनुकरण करते हैं उसी प्रकार दो भागो में बँटी राजलक्ष्मी का समान रूप से भोग करने वाले दोनो राजा परस्पर अवरुद्ध होने के कारण श्रीमान् की आज्ञा के अनुसार चलेंगे।"[1] इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राजा के विचार पर भी परिषद् अपनी स्वीकृति देता था।

राजा का 'अभिप्राय' इस प्रकार था —

"यज्ञसेन और माधवसेन दोनो भाइयो में मैं 'द्वैराज्य' स्थापित करना चाहता हूँ। वे दोनो वरदा नदी को सीमा मान कर उस के उत्तर और दक्षिण के भिन्न भिन्न प्रदेशो पर रात्रि दिवस की भाँति शासन करें।"[2]

राजा की अनुपस्थिति में शासनकार्य करने और उस की उपस्थिति में राष्ट्र के मुख्य-मुख्य प्रसगो पर नीति स्थिर करने के अतिरिक्त अमात्यपरिषद् और भी कितने कार्य करता था जिस का विवरण नीचे दिया जाता है।

राज्याभिषेक का प्रबंध राजा की आज्ञा[3] से मन्त्रिवर्ग ही करता था। नए राजा को मन्त्रिगण ही राजचिह्नो[4] से विभूषित करते थे। उस को राज्यश्री में प्रतिष्ठित वे ही

---

[1] अमात्यो विज्ञापयति। कल्याणी देवस्य बुद्धि: मन्त्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम्। कुत:—

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ
धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतु:।
तौ स्थास्यतस्ते नृपतेर्निदेशे
परस्परावग्रहनिर्विकारौ॥

मालविकाग्निमित्रम्, ५।१४

[2] तत्र भवतोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमवस्थापयितुकामोऽस्मि।
तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टामुत्तरदक्षिणे।
नक्तं दिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव॥

मालविकाग्निमित्र, १३

[3] मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि सम्भ्रियतामायुष्मतो राज्याभिषेक इति।

विक्रमोर्वशीयम्, ५

[4] रघुवंश, १७।२७

करते थे। इसी प्रकार राजा के मरने पर राज्यभार अमात्यपरिषद् के ऊपर ही पडता था। मत्री ही नए राजा को अभिषिक्त कर उसे व्यवहार-रूप में राज्यशक्ति प्रदान करते थे। राजसत्ता नवनृपति को उन्ही द्वारा प्राप्त होती थी। जब राजा दशरथ के मर जाने पर राम के वन चले जाने के कारण कोसल का सिंहासन रिक्त हो गया था और प्रजा राजारहित हो गई थी तो मत्रियो ने ही भरत को उस की ननसाल से बुला कर राजलक्ष्मी प्रदान की थी।[१]

राजा मत्रियो से राज्य व शासन-सबध में नित्य परामर्श करता था, परतु उन की सतर्कता और विश्वासपात्रता के कारण मत्रण का विषय और उस पर निर्णय पूरा गुप्त रहता था।[२] मत्री इस प्रकार उत्तरदायी थे।

कालिदास ने प्रधानामात्य के अतिरिक्त तीन मत्रियो का विशेष कर उल्लेख किया है। ये तीनो एक-एक विभाग के मुख्य प्रतीत होते है। जिस अमात्य ने अग्निमित्र को विदर्भ-सबधी अमात्यपरिषद् की प्रार्थना सूचित की थी वह अवश्य कोई विशेष अधिकारसपन्न मत्री रहा होगा, क्योकि वह राजा और परिषद् का अतरग था। राष्ट्र की गुप्त मत्रणा का वह एक प्रकार से रक्षक था। वह प्रथम व्यक्ति था जिसे परिषद् का निर्णय और राजा का अभिप्राय ज्ञात होता था। राजा और परिषद् के विचार-साम्य और भिन्नता से वही पहले-पहल अवगत होता था। अत हम उसे प्रधानामात्य मान सकते है।

शेष तीन मत्री जिन की स्थिति का पता कालिदास के ग्रथो से चलता है ये है—

(१) बाह्य-नीति अथवा राष्ट्रसचिव।

(२) न्यायसचिव।

(३) अर्थसचिव।

---

[१] अथानाथा प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम्।
मौलैरानाययामासुर्भरत स्तम्भिताश्रुभि ॥
रघुवश, १२।१२

[२] मन्त्र प्रतिदिन तस्य बभूव सह मन्त्रिभि ।
स जातुसेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥
रघुवश, १७।५०

न्याय और अर्थ का साचिव्य 'अभिज्ञानशाकुंतल' में एक ही व्यक्ति को दिया गया है जिस का उल्लेख आगे चल कर किया जायगा। इन मंत्रियों के कार्यभार का वर्णन आगे यथास्थान करेंगे। इन के सिवा और मंत्री शासनकार्य में राजा की सहायता करते होंगे परंतु हमें कालिदास के वर्णन से उन का ज्ञान नही होता।

राजा क्रोधाभिभूत होने पर भी मंत्रियों से परामर्श कर के राय स्थिर करने में नही चूकता था। स्वेच्छाचारिता उस के लिए साधारण बात नही थी। विदर्भराज की धृष्टता से क्रोधान्वित हो कर अग्निमित्र जब मंत्रियों से सेनापति वीरसेन को विदर्भराज को नष्ट कर देने के लिए भेजने की आज्ञा देता है तब भी वह एकदम ऐसा नही करता बल्कि रुक कर सचिव से पूछता है कि उस की क्या राय है। सौभाग्यवश उस की राय दूसरी नही होती और वह एक नीति-श्लोक का उद्धरण कर कहता है कि वह शत्रु जिस ने हाल ही में किसी देश में राज्य स्थापित किया है बड़ी सरलता से नष्ट किया जा सकता है, क्योंकि उस की जड़ शीघ्र लगाए वृक्ष की नाई अभी पूरी दृढता-पूर्वक जमी नही होती।[1] इस प्रकार अमात्यवर्ग राजा की स्वेच्छाचारिता के मार्ग मे एक प्रबल अवरोध थे।

मंत्रिविभाग की कार्यप्रणाली आधुनिक प्रणाली से बहुत मिलती थी। सभी मुख्य-मुख्य बाते लिख कर राजा के सामने उस की जानकारी और आज्ञा के लिए रक्खी

मन्त्रिविभाग की कार्य-प्रणाली

जाती थी। उस के बाद उन को साम्राज्य की मुद्रा से अंकित कर के शायद दफ्तरों में रखते भी थे। इस में संदेह नही कि उस समय साम्राज्य की एक विशेष प्रकार की मुहर या मुद्रा होती थी जिस से संभव है, शासन-संबंधी राजकीय कागजों को अंकित कर के आफिसों में रखते हो। इस राजकीय मुद्रा का ज्ञान हमें 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के एक श्लोक से स्पष्ट हो जाता है। उस में की गई राजा की उक्ति इस प्रकार है—"मैं अपने एकमात्र प्रभुत्व और एकछत्र शासन

---

[1] राजा—(सरोषम्) कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः। वाहतक प्रकृत्यमित्र प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः। तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसंकल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनप्रमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय। . अथवा किं भवान्मन्यते।

मन्त्री—शास्त्रदृष्टमाह देव।

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम्॥

मालविकाग्निमित्रम्, १।८

तथा सामंतगण की मुकुटमणियो द्वारा भासमान शासनाव से भी इतना भाग्यवान नहीं हूँ[1] ।" इस से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट् 'शासन', (फर्मान) अथवा लिखी आज्ञाएँ निकाला करता था जो सारे साम्राज्य में घोषित कर दी जाया करती थी। 'अभिज्ञानशाकुंतल' का एक स्थल इस प्रसग को और भी स्पष्ट कर देता है, क्योंकि वहाँ सचमुच एक राजकीय घोषणा की गई है।[2] सम्राट् की अधीनता में कितने ही सामत राजा शासन करते थे जैसा 'विक्रमोर्वशीय' के "सामतमौलि" से पता चलता है। अपने सामर्थ्य एव सम्राट् के पद के योग्य ये सामतराजा अमूल्य भेंट के रूप में कर दिया करते थे, जिस के बदले में सम्राट् उन्हें उन के विविध राज्यो के शासन का अधिकार साम्राज्य की मुद्रा से अंकित करके दिया करते थे। इन व्यावहारिक शासनो के प्रति अपना आदर प्रदर्शन करने के अर्थ वे उन्हें अपने सिरो से लगाते थे और उन के किरीटो की मणियो से अपूर्व ज्योति निकल-निकल कर इन शासनपत्रो के लेखो को प्रभा और कांति से भर देती थी। इस प्रसग को साहित्य के अन्य स्थलो और शिलालेखो से प्रमाणित किया जा सकता है।[3] 'शासन' सम्राट् की वे आज्ञाएँ थी जो शासन के कार्य मे लिख कर निकाली जाती थीं। इन का आरभ भारतीय शासन में बहुत प्राचीन समय में हुआ था। मौर्य राजा अशोक अपनी आज्ञाएँ--राजपुरुषो अथवा साधारण पुत्रवत् प्रजा के लिए—बड़े-बड़े शिलाखडो और स्तभो पर खुदवा कर साम्राज्य भर में प्रकाशित कराते थे। जिन शासको का प्रसग-'विक्रमोर्वशीय'-नाटक में आया है वे सामतराजाओ के साम्राज्यातर्गत शासना-

---

[1] सामन्तमौलिमणिरञ्जितशासनाक-
मेकातपत्रमवनेर्नतथा प्रभुत्वम् ।
विक्रमोर्वशीयम्, ३।१९

[2] येन येन वियोज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासा दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६।२३

[3] अशेष नरपतिशिर समभ्यर्चितशासन.।
कादम्बरी

गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते
नराधिपैर्माल्यमिवास्यशासनम् ।
किरातार्जुनीयम्, १।२१

गरुत्मदकस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्य प्रसरधरणिबन्धस्य . . .
—प्रयागस्तम्भ का समुद्रगुप्त का प्रशस्तिलेख।

धिकार के कोई नए संस्करण रहे होंगे जो समय-समय पर सम्राट् द्वारा प्राय होते रहते थे। यथार्थ में सामतराजाओ के राज्य दिग्विजय के कारण सम्राट् के हो जाते थे, परतु धर्मविजयी सम्राट् उन्हे पुन उन के राज्य में प्रतिष्ठित कर देता था इस कारण उन के देश पर सम्राट् का भी राजाधिराज होने से एक प्रकार का शासन रहता था। उसी की इच्छा, आज्ञा और कृपा से ये सामतराजा अपने-अपने राज्यप्रदेश भोगते थे। चूकि इन राजाओ का अधिकार इस प्रकार सम्राट् की ही कृपा का परिणाम था अत उन के शासनाधिकार के भी समयातर में नए संस्करण हुआ करते थे। सम्राट् की सत्ता की ज्योति की आभा ही सामतो की अधिकार-सत्ता में किंचित् प्रस्फुटित होती थी। इतिहास से इस बात की और भी पुष्टि हो जाती है। गुप्त सम्राटो की यह नित्य की शासन-पद्धति थी [1] जिस का निरीक्षण उन के स्तभलेखों से भली प्रकार किया जा सकता है।

ऊपर उद्धृत 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के श्लोक मे एक पद 'अक' है जिस का अर्थ है चिह्न, लक्षण। इसी प्रकार समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तभ वाले लेख से 'गरुत्मदक' शब्द हमें उपलब्ध होता है जिस का अर्थ है 'वह मुद्रा (मुहर) जिस में गरुड पक्षी का चित्र अकित हो।' इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीय' का 'शासनाक' शब्द भी ऐसा ही तात्पर्य रखता है। यह वह 'अक' (मुद्रा अथवा मुहर) था जिस से सामतराजाओं के शासनाधिकार के सस्करणो पर साम्राज्य की सत्ता की मुहर की जाती थी।

कार्यसपादन की शीघ्रता उस शासन-तत्र के सेक्रेटेरियट का एक विशेष गुण था। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से पता चलता है कि जब प्रधानामात्य ने राजा को मत्रि-परिषद् द्वारा उस के विचार के अनुमोदन की सूचना दी तब राजा ने आज्ञा दी कि यह आज्ञा परिषद् शीघ्र सेनापति वीरसेन के पास, जिस ने विदर्भ विजय किया था, भेज दे।[2] वीरसेन उस समय नर्मदा की तरेठी और उस के आसपास की भूमि का विजयी स्वामी था और राजा द्वारा भेजी गई आज्ञाओ का पालन समयानुसार तलवार के बल से भी यथा-सभव कर सकता था। राष्ट्र की शासन-नीति पर आवश्यकता से अधिक वादाविवाद

---

[1] प्रयागस्तंभ का समुद्रगुप्त का प्रशस्तिलेख।

[2] तेन हि मन्त्रिपरिषदं ब्रूहि। सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यतामेव क्रियतामिति।
मालविकाग्निमित्रम्, ५

अनुचित समझा जाता था क्योंकि उस से मन्त्र-भेद[1] हो जाने का भय रहता था। उपर्युक्त मन्त्रियों की नियुक्ति से यह भय भी दूर हो सकता था।

उस समय के राजकीय पत्रों और राजनैतिक चिट्ठियों का दिग्दर्शन नीचे लिखे दूरे पत्रों से किया जा सकता है —

"स्वस्ति। सेनापति पुष्यमित्र अपने पुत्र आयुष्मान अग्निमित्र को स्नेहपूर्वक आलिंगन कर यज्ञशाला से इस प्रकार लिखता है—सौ राजपुत्रों द्वारा अनुगृत वसुमित्र को रक्षक नियुक्त कर राजसूययज्ञदीक्षित मैं ने जिस निरर्गल अश्व को मुक्त किया था और जो वर्ष भर स्वच्छंद भ्रमण कर लौटने वाला था सिंधु के दक्षिण तट पर भ्रमण करते हुए उस को यवन अश्वारोहियों के एक दल ने बाँध लिया। तब दोनों सेनाओं में तुमुल युद्ध हुआ। तब परमधन्वी वसुमित्र ने बलपूर्वक ले जाते हुए शत्रुओं को हरा कर मेरे वाजिराज को लौटा लिया।

"सगरपुत्र अंशुमत की भाँति पौत्र द्वारा लौटा कर लाए गए अश्व से अब मैं यज्ञ करूँगा। अत शीघ्र विगतरोषचित्त से मेरी पुत्रवधुओं को साथ ले कर मेरा यज्ञ देखने आओ।"[2]

यह पत्र सम्राट् पुष्यमित्र ने अपने पुत्र अग्निमित्र के पास लिखा था। उपलब्ध संस्कृत साहित्य में पत्रों की बडी न्यूनता है। उपलब्ध थोडे से पत्रों में से एक यह है। तत्कालीन सेक्रेटेरियट का यह एक बडे उच्च कोटि का राजनैतिक रत्न-शेष है जिस से

---

[1] मन्त्र प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभि.।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥
रघुवंश, १७।५०

[2] स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्येदमनुदर्शयति। विदितमस्तु। योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्र-शतपरिवृत वसुमित्र गोप्तारमादिश्य वत्सरोपात्तनियमो निरर्गलस्तुरंगो विसृष्ट, स, सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थित·। तत उभयो· सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।
तत. परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः ॥
सोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेणेव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीन विगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति।
मालविकाग्निमित्रम्। ५

उस समय के शासन की कार्यप्रणाली की उत्तमता का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। इस में ऐसा एक शब्द नहीं जो व्यर्थ हो, एक मात्रा नहीं जो हटाई जा सके, एक पद नहीं जो असस्कृत हो। यह साम्राज्य के आफिसो की एक अपूर्व निधि है। यह पत्र आरभ से अत तक पूर्ण रूप से राजनैतिक है केवल आरभ का एक वाक्य सम्राट् के गृहसबध का है जिसे शिष्टाचार के नाते दूर नहीं किया जा सकता। इस वाक्य में सम्राट् अपने पुत्र और प्रतिनिधि अग्निमित्र को स्नेहपूर्वक आयुष्मान होने का आशीर्वाद देता है। इस पत्र की राजनैतिक पूर्णता को देख कर स्वत यह कल्पना होती है कि कालिदास ने अपने समय के साम्राज्य के आफिस के किसी असल पत्र से नकल कर के उस की यह प्रतिलिपि प्रस्तुत की है। बहुत सभव है उन के समय तक ये पत्र सुरक्षित रहे हो। वे किसी बडे सम्राट् की राजसभा के सभ्य थे, इस में कोई सदेह नही। ऐसा उन के वर्णन से सर्वत्र विदित होता है।

निम्न-उद्धृत पत्र विदर्भ के राजा ने विदिशा के शासक अग्निमित्र को लिखा था। इस पत्र के विषय की राजनैतिकता अपूर्व है। बडे सक्षेप में विषय का पूर्ण रूप से उल्लेख किया गया है। भाषा किसी नीतिविशारद की है, सक्षिप्तता, स्पष्टता और अनन्यता जिस के प्राण हैं। पत्र इस प्रकार है —

"पूज्य (अग्निमित्र) ने मुझे इस प्रकार लिखा था—'आप का पितृव्यपुत्र (चाचा का लडका) कुमार माधवसेन मुझ से विवाहसबध स्थिर करने की प्रतिज्ञा कर चुका था। मेरे समीप आते हुए उस को आप के सीमाप्रात के रक्षको ने छापा मार कर बदी कर लिया। मेरा ध्यान रख कर उसे उस की स्त्री और भगिनी के साथ छोड देने की आज्ञा दे देनी उचित है।' बराबर वालो के साथ राजवृत्ति क्या है सो श्रीमान् भली भाँति जानते है, इस कारण श्रीमान् (अग्निमित्र) को इस विषय में मध्यस्थ का स्थान ग्रहण करना चाहिए, कुमार की भगिनी 'ग्रहणविप्लव' (बदी बनाते समय) में ही कहीं गायब हो गई सो उस की खोज का पूर्ण प्रयत्न करूँगा। अब यदि पूज्य चाहते है कि माधवसेन अवश्य मुक्त कर दिए जायँ तो श्रीमान् सधि के निम्नलिखित अंगो पर ध्यान दें :—

यदि पूज्य मेरे साले मौर्यसचिव को, जिसे उन्हो ने बदी कर रक्खा है, मुक्त कर दें तो हमें तत्काल माधवसेन को छोड देने में कोई आपत्ति नहीं।"[१]

---

[१] पूज्येनाहमादिष्टः। पितृव्यपुत्रो भवतः कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुतसम्बन्धो

अभिसंधि अथवा संधि के अंगों का कितना स्पष्ट विवरण है! निर्भय राजा प्रबल शत्रु को चुनौती के शब्दों में लिख भेजता है—'यदि श्रीमान मेरे मंत्री को मुक्त कर दें तो मुझे आप के शरणागत को छोड़ने में कोई आपत्ति नहीं।' शिष्टाचार का एक भी नियम भंग नहीं हुआ परंतु आत्मसम्मान को भी पूर्णतया सुरक्षित रखा। राजनैतिक चाल का उत्तर उसी भाषा में दिया गया।

अब नीचे उस विषय के लेख की प्रतिलिपि देते हैं जो अर्थसचिव द्वारा 'पत्रारूढ' हो कर राजा के सम्मुख उस की आज्ञा के लिए पेश किया गया था। वह इस प्रकार है —

"रुपयों की गणना में फँस जाने के कारण आज केवल एक ही पौरकार्य देखा जा सका है सो पत्र पर चढ़ा हुआ देव देखें। समुद्रमार्ग से व्यापार करने वाला धनमित्र नामक सार्थवाह जहाज के साथ डूब गया है। पता लगता है कि बेचारा अनपत्य है। उस का धन राजकोष में जायगा।" [1]

इस प्रकार प्रस्तुत विषय को लिख कर राजा के सम्मुख रखते थे। पहले विषय का पत्र पर उल्लेख होता था, फिर तद्विषयक सचिव उस पर अपना निर्णय लिखता था, तत्पश्चात् उस पर राजा के अन्तिम निर्णय और आज्ञा के लिए उस के सामने उपस्थित करते थे। मन्त्रिविभाग के पूर्ण वैज्ञानिक कार्यक्रम के संगठन का यह पत्र पूर्ण प्रमाण है। तत्कालीन शासनप्रणाली के कार्यक्रम का यह सचमुच एक अपूर्व अद्भुत चित्र है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र[2] से ज्ञात होता है कि उस समय में 'तंत्र' को अठारह

ममोपान्तिकमुपसर्पन्नन्तरा त्वदीयेनान्तपालेनावस्कन्य गृहीतः स त्वया मदपेक्षया सकलत्रसोदर्यो मोक्तव्य इति। एतन्नु वो विदितम्। यत्तुल्याभिजनेषु राज्ञां वृत्तिः। अतोऽत्र मध्यस्थः पूज्यो भवितुमर्हति। सोदरा पुनरस्य ग्रहणविप्लवे विनष्टा। तदन्वेषणाय प्रयतिष्ये। अथवा, अवश्यमेव माधवसेनो मया पूज्येन मोचयितव्यः, श्रूयतामभिसन्धिः।

मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम्।
मोक्ता माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः॥

मालविकाग्निमित्रम्, १।७

[1] अर्थजातस्यगणनाबाहुल्तयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितम्। तद्देव पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्वीति—

समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय। (इत्येतदमात्येन लिखितम्)।

[2] 'अर्थशास्त्र' भाग १, पृ० २०-२१ जैसा कि श्री काशीप्रसाद जायसवाल की 'हिंदू पॉलिटी' के पृष्ठ १३३ के नीचे नोट में उद्धृत है।

विभागों में बाँट कर राष्ट्र का शासन करते थे। एक एक विभाग का चार्ज एक-एक मंत्री अथवा किसी अन्य बड़े राजपुरुष के हाथ में रहता था जिसे 'तीर्थ' कहते थे। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने एक स्थल पर कहा है कि 'तीर्थ' पद का शाब्दिक अर्थ है 'जल हल कर जाने का मार्ग' अर्थात् एक पतला रास्ता। अमात्य और विभागों के स्वामी 'तीर्थ' इस कारण कहलाते थे कि उन्हीं के पास से हो कर राजकीय आज्ञाएँ उन के विविध विभागों में पहुँचती थी।[1] इस प्रकार के तीर्थों का किंचिदव्यक्त उदाहरण कालिदास से हमें उपलब्ध[2] है। अब इन विभागों और उन के अमात्यों का वर्णन करेंगे। राज्य के उच्च और निम्न कर्मचारियों का कालिदास ने व्यक्त और अर्धव्यक्त वर्णन किया है, जिस से निम्न, लिखित निष्कर्ष निकलता है —

विभाग और उन के तीर्थ

१—प्रधानामात्य

प्रधानामात्य, जिस का वर्णन हम पहले कर आए हैं, अमात्यों में प्रथम रहा होगा। उसे कई प्रकार के विशेष अधिकार मिले होंगे जिन का उदाहरण हम पहले दे चुके हैं।

२—परराष्ट्रसचिव

परराष्ट्र-सचिव अथवा राजनैतिक मंत्री, जो अन्य राष्ट्रों से आए पत्रों का उत्तर देता था। स्वतंत्र और सामंतराजाओं की राजनैतिक भेंट और उन के दूत उसी के पास प्रथम पहुँचते थे, जैसा कि 'मालविकाग्निमित्र' के कंचुकी की उक्ति से जाना जाता है—"देव, अमात्य निवेदन करते हैं—विदर्भ विषय से प्राप्त भेंटों में से दो शिल्पकारिकाएँ मार्ग परिश्रम से थकी होने के कारण उचित न समझी जा कर देव के सम्मुख उपस्थित न की जा सकी थीं। अब वे देवोपस्थान योग्य हुई हैं। अत देव उन के संबंध में आज्ञा करें।"[3]

इस प्रकार इस मंत्री के कार्य आधुनिक परराष्ट्र-सचिव के थे। परराष्ट्रों से प्राप्त वस्तुओं की सूची बना कर वह उन के वर्णन के साथ राजा की आज्ञा के लिए उस के पास

---

[1] जायसवाल, 'हिंदू पॉलिटी' पृष्ठ १३३।

[2] इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम्।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे॥

रघुवंश, १७।६८

[3] देव अमात्यो विज्ञापयति। विदर्भविषयोपायने द्वे शिल्पकारिके मार्गपरिश्रमादलघुशरीरे इति पूर्वं न प्रवेशिते। सम्प्रति देवोपस्थानयोग्ये संवृत्ते। तदाज्ञां देव दातुमर्हतीति।

मालविकाग्निमित्रम्, ५

भेजता था। राजा और अमात्यपरिषद् के निर्णय के अनुसार वह परराष्ट्रों के प्रति सन्धि और युद्ध की घोषणा भी करता था।

जब राजा अपने व्यवहारासन (धर्मासन और कर्मासन भी) पर बैठ कर पौर-कार्य का निरीक्षण करता था उस समय न्याय-मन्त्री भी उस के पास बैठता था। जब राजा शारीरिक अस्वस्थता अथवा किसी अन्य कारणवश न्याय-मंदिर में उपस्थित न हो सकता था, तब केवल न्याय-मन्त्री ही प्रजा के आवेदनपत्र ग्रहण करता था, फिर स्वयं उस को पढ़ कर और अपना निर्णय अपने हस्ताक्षर के साथ उस पत्र पर लिख कर राजा की अन्तिम आज्ञा के लिए उसे उस राजा के पास महल में भेज देता था। यह राजा का नित्य कर्म था जैसा कि उस की निम्न उक्ति से प्रकट होता है "अमात्य आर्य पिशुन से मेरी ओर से इस प्रकार कहा—रात्रि में अधिक जागरण के कारण आज हम सब का धर्मासन पर बैठना सम्भव नहीं। प्रतीत होता (बहुवचन के प्रयोग से प्रतीत होता है कि राजा और न्याय-मन्त्री के अतिरिक्त न्याय विभाग के और कर्मचारी भी न्याय-मंदिर में बैठते थे जिन का हम को स्पष्ट ज्ञान नहीं है)। आर्य द्वारा जिन पौरकार्यों का निरीक्षण हो चुका हो वे पत्र पर लिख कर मेरे पास भेज दिए जायें।"[1]

३—न्याय-मन्त्री

अर्थसचिव अर्थविभाग का स्वामी था। सारे अर्थशासन का भार वही वहन करता था। वही सब प्रकार के करों[2] को ग्रहण करता, गिनता और राजकोष में रखता था। तत्पश्चात् वह अर्थविभाग में होने वाले सारे विषयों का उल्लेख कर राजा को सूचित करता था, जैसा हम अन्य-स्थल पर बताएंगे। विषयों का उल्लेख पत्रों पर किया जाता था[3] जो स्यात् राजकोष

४—अर्थ-सचिव

---

[1] मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

[2] अर्थजातस्यगणना।
अभिज्ञानशाकुंतलम्, ६

[3] अर्थजातस्यगणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितम्। तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति।
वही।

सेक्रेटेरियट की सपत्ति हो जाया करते थे। अर्थसचिव के कार्य का और वर्णन 'आय-व्यय' के प्रसग में करेंगे।

'अभिज्ञानशाकुतल' में न्याय और अर्थविभागो का भार पिशुन नामक एक ही अमात्य को दिया गया है। वह राजा के साथ न्याय-मदिर में बैठता है और वही आय-व्यय का ब्यौरा करता है, आए अर्थ की गणना और उस का उचित प्रबध करता है। इतना तो सही है कि अर्थ विभाग के भी विषय (मुकदमे) उस के पास आते होंगे जिन का निरीक्षण एव निर्णय वह राजा के साथ करता होगा, परतु यह स्पष्ट नही है कि वही दोनो कार्य क्योकर करता था। अन्य सस्कृत साहित्य के ग्रथो से पता चलता है कि न्याय और अर्थ के विभाग भिन्न-भिन्न थे और उन का निरीक्षण भिन्न भिन्न[1] मत्रियों का कार्य-भार था।

५—सेनापति अथवा सैन्यसचिव

कालिदास के ग्रथों से प्रतीत होता है कि सेनापति[2] रण में सैन्यसचालन भी करता था और वही 'अतपाल'[3] भी था। अतपाल 'अर्थशास्त्र' के अनुसार सीमा-प्रदेश का रक्षक था। 'मालविकाग्निमित्र' में सेनापति और अतपाल एक ही व्यक्ति वीरसेन व्यक्त किया गया है। परतु एक बात विचार करने की यह है कि सेनापति वीरसेन ने विदर्भ देश को जीता था। सभव है सेनापति और अतपाल दो व्यक्ति हो, परतु अतपाल सेनापति के अधिकार में ही सीमाप्रदेश का रक्षक हो। इस में सदेह नही कि रक्षाभार सैनिक को ही दिया गया होगा। सभव है यह अतपाल सेनापति का ही एक नायक होता हो। ऐसा होने पर सीमाप्रदेश में

---

[1] 'व्यावहारिक' अर्थात् जज—अर्थशास्त्र १।१२; ८ (पृष्ठ २०-२१)
'सुमत्र' अथवा अर्थसचिव (आयव्ययप्रविज्ञाता सुमन्त्र:)
शुक्रनीतिसार, २।८६
'प्राड्विवाक' अथवा न्याय-मत्री—लोकशास्त्रनयज्ञस्तु प्राड्विवाक:
शुक्रनीतिसार, २।८५

[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १।

[3] स भर्त्रा नर्मदातीरे अन्तपालदुर्गे स्थापित:।
मालविकाग्निमित्रम्, १
पितृव्यपुत्रो भवत: कुमारो माधवसेन: प्रतिश्रुतसम्बन्धो ममोपान्तिकमुप-सर्पन्नन्तरा त्वदीयेनान्तपालेनावस्कन्द्यगृहीत —वही, १

उपस्थित होने के कारण अतपाल का अधिकार भी सेनापति ही का कहा जा सकता है। रणक्षेत्र में राजा उपस्थित रहने पर सेनापति का स्थान ले लेता है। सम्भव है अन्य व्यक्ति के अतपाल होते हुए भी कालिदास ने सेनापति को अतपाल कहा हो। अथवा यह भी सम्भव है कि वीरसेन जो पहले केवल 'अतपाल' था (जैसा कि 'मालविकाग्निमित्र' से स्पष्ट है) विदर्भ देश के विजय के बाद राजा की प्रसन्नता द्वारा सेनापति बना दिया गया हो। अतपाल रहते हुए ही अपनी सेना से उस ने विदर्भ विजय किया था।

युवराज और वाइसराय साम्राज्य के बड़े उच्च पदाधिकारी थे। वाइसराय साम्राज्य के सीमाप्रांतों के रक्षक थे। अग्निमित्र सम्राट् पुष्यमित्र का इसी प्रकार का युवराज एवं वाइसराय था। वह अपने प्रतिनिधित्व में राजा का अधिकार रखता था। इसी प्रकार का एक छोटा वाइसराय 'अतपाल' पदविशेषधारी वीरसेन था, जो अग्निमित्र की दक्षिणी सीमा का रक्षक नियुक्त हुआ था।

६—युवराज और वाइसराय

कंचुकी[1] (अथवा गुप्तसाम्राज्य का महाप्रतीहार) राजप्रासाद का सर्वोच्च कर्मचारी था। राजमंदिर का रक्षकसैन्य और यवन रक्षिकाओं और दासियों का दल उसी के अधीन था। यह राजमंदिर का एक वयोवृद्ध कर्मचारी था जिस की राजा बड़ी प्रतिष्ठा करता था। यह राजा की मंत्रिपरिषद् के साथ की गई मंत्रणाओं को जानता था और गुप्त मंत्रणाओं की पूरी सूचना प्रधानामात्य और राजा को यही देता था।

७—कञ्चुकी अथवा प्रतीहार

अर्थशास्त्र का 'पौर'[2] कालिदास के समय में 'नागरिक'[3] कहलाता था। यह राजधानी का रक्षक, नगर में वह अधिकार रखता था जो आज बड़े शहरों में 'मेयर' को प्राप्त है। वह नगर की पुलीस का भी स्वामी था और उस का अधिकार आधुनिक 'मेयर' और 'पुलीस सुपरिंटेंडेंट' के अधि-

८—नागरिक

---

[1] 'मालविकाग्निमित्रम्', 'विक्रमोर्वशीयम्', 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'।

[2] पौर—अर्थशास्त्र १।१२; ८ (पृ० २०-२१)।

[3] मद्वचनादुच्यन्तां नागरिकाः साय निवासवृक्षाग्रे विचीयतां विहगाधम।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

तथैव अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५

कारो का सम्मिश्रण था। वह मध्यकालीन कोतवाल की भाँति रात्रि में विचरण करने वाले आततायियों को पकड़ कर दंड दिलाता था।

धर्मविभाग भी एक व्यक्ति विशेष का कार्यभार था। इस अधिकरण के अस्तित्व का प्रमाण हमें धर्माधिकारी के वचन से मिलता है। वह इस प्रकार है—"राजा द्वारा धर्माधिकार में नियुक्त मैं आप के पास यह जानने के लिए उपस्थित हुआ हूँ कि आप के आश्रम में धार्मिक क्रियाएँ निर्विघ्न सम्पन्न होती हैं या नहीं।"[1] इस प्रकार वननिवासी तपस्वियों के हितार्थ भी एक अधिकरण था जिस का अधिकारी शायद प्रायः दौरा किया करता था। यह बात ध्यान देने की है कि मौर्य राजा अशोकवर्द्धन ने इस धर्माधिकरण की नींव डाली थी और धर्ममहामात्र संज्ञा वाले उस के अध्यक्ष नियुक्त किए थे।[2] स्पष्ट है कि यह अधिकरण कालिदास के समय तक जीवित रहा।

९—धर्माधिकारी

ऊपर लिखे अधिकरणों के अध्यक्ष विशेष कर प्रधानामात्य, परराष्ट्र-सचिव, न्यायमंत्री, अर्थसचिव, सैन्यसचिव और कंचुकी, और शायद युवराज और नागरिक भी, अमात्यपरिषद् के सदस्य होते थे। अमात्यपरिषद् राजा के बाद राष्ट्र में सर्वशक्तिमान था और राजा के जानने के पूर्व ही राष्ट्र की नीति का निर्णय किया करता था।

जिन अधिकरणों के अध्यक्षों का ऊपर वर्णन किया गया है उन का संचालन यथार्थ में निम्नपदाधिकारी ही करते थे जैसा साधारणतया आज सर्वत्र हो रहा है। वास्तव में किसी राष्ट्र का लोकतंत्र बिना सेक्रेटेरियट के आफिसों के रेकार्डों के नहीं चल सकता। शासन के लिए यह आवश्यक है कि पूर्व और पश्चात् के पत्रों का समय-समय पर दिग्दर्शन किया जा सके। न्यायप्रिय तंत्र के शासन में कार्यप्रिय लेखकों का रहना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार लेखक समुदाय का कालिदास ने प्रसंगवश उल्लेख किया

---

[1] य पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्य-मिदमायात।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १

[2] से अतिक्रत अन्तरं न भूतप्रुव ध्रममहमत्र नम से त्रेडशवषभिसितेन मय ध्रम-महमत्र कट...

अशोक के चतुर्दश शिलालेख, नं० ५
(मन्सेहरा संस्करण)

है। कचहरियों के लेखकों के लिए कालिदास ने 'लेखक' शब्द व्यवहृत किया है। विदर्भ देश से वीरसेन द्वारा भेजे गए पत्र को एक ऐसा ही लेखक पढ़ कर अग्निमित्र को सुनाता है।[1]

दूसरे निम्न कोटि के राजकर्मचारियों को राजपुरुष[2] कहते थे। ये राजपुरुष अपने विविध अधिकारों की रक्षा करते हुए शासन-तंत्र का कार्य सुचारु रूप से सचालित रखते थे। इन के अतिरिक्त राजप्रासाद के रक्षक थे जो राजा के शरीर-रक्षक का कार्य भी करते होंगे। वे कंचुकी के अधीन कार्य करते थे।

नगर-रक्षक वे पुलीस के सिपाही थे जो अभियुक्तों को पकड कर न्यायमंदिर और दंडस्थल पर ले जाते थे। वे नागरिक के अधीनस्थ आधुनिक पुलीस कांस्टेबुलों की भाँति थे। कालिदास ने अभियुक्त को पकड कर रखने वाले उन सिपाहियों को 'रक्षिण'[3] कहा है। ये नगर में पहरा देते होंगे।

सरकार अथवा गवर्नमेंट के लिए कालिदास ने 'लोकतंत्र'[4] शब्द का व्यवहार किया है। विभिन्न अधिकरणों के शासन की जानकारी के लिए वर्णन आगे आवश्यक होगा।

(अपूर्ण)

---

[1] विदर्भविषयाद्भ्राता वीरसेनप्रेषितं लेखं लेखकैर्वाच्यमानं।
मालविकाग्निमित्रम्, ५

[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १

[3] वही, ६

[4] अयथाविश्रामोऽयं लोकतन्त्राधिकारः—वही, ५

चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[लेखक—श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (ऑक्सन), बैरिस्टर-एट्-लॉ]

[२६]

जयकृतशाह

ललितशाह और उस के उत्तराधिकारी गढवाल के राजाओ का विस्तार-पूर्वक और सच्चा इतिहास मोलाराम ने अपने 'गढराज' काव्य में दिया है। मोलाराम का जन्म सन् १७६० में और देहात सन् १८३३ में हुआ। अस्तु जब ललितशाह राज्य-सिंहासन पर बैठा उस समय मोलाराम की आयु १२ वर्ष की थी। इस लिए ललितशाह (१७७२-१७८०) तथा प्रदीपशाह (१७१७-१७७२) और उन के पूर्वजो की बाबत मोलाराम को जो वृत्तांत औरो से या अपने पुरखो तथा दत-कथाओ से मालूम हुआ वह उन्हो ने अपने काव्य में सकलित किया। किंतु ललितशाह के राज्य-काल से तो मोलाराम स्वय रग-मच पर था। मोलाराम बहुत सम्मानित दरबारी, श्रेष्ठ विद्वान तथा समझदार सलाहकार था। राजा और उस के मत्री मोलाराम के पास परामर्श और सहायता के लिए आते थे। इतिहास के लिए यह सौभाग्य की बात है कि मोलाराम सरीखे विद्वान लेखक ने ललितशाह और उस के उत्तराधिकारी गढवाल के राजाओ की कृति जो स्वय देखी उस को अपने काव्य में सकलित किया। इस लिए, यद्यपि कविता की दृष्टि से मोलाराम का काव्य उच्चकोटि का न हो, या टीका-टिप्पणी करने वाले लोग उसे केवल तुकबदी कहे, किंतु इतिहास की दृष्टि से कम से कम सन् १७७२ से (जब मोलाराम की उम्र १२ वर्ष की थी) १८३३ तक की (जब मोलाराम की मृत्यु हुई)

मोलाराम जयकृतशाह के विषय में अपनी आँखों देखी घटनाएँ लिखता है

ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में मोलाराम ने जो लिखा है वह ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी जगत में बड़ी महत्त्व-पूर्ण बात है। इसी कारण ललितशाह के समय में हम ने मोलाराम की कविता का अधिक उद्धृत किया है जिस में इतिहास से संबंध रखने वाली उल्लेखनीय कोई भी घटना न छूट जाय। सन् १७७२ के बाद की घटनाओं के विषय में मोलाराम के अतिरिक्त यथावत् और कौन लिख सकता था? मोलाराम उच्चकोटि का लेखक, कवि, अद्वितीय चित्रकार, और फ़ारसी का पंडित था। मोलाराम राजनीतिज्ञ और बड़ा ज्ञानवान दार्शनिक भी था। काव्य-रचना के समय मोलाराम गढ़वाल के राजाओं का आश्रित नहीं था। जब मोलाराम ने अपने गढ़वाल राज के इतिहास की रचना की उस समय गढ़वाल का राजवंश श्रीनगर छोड़ कर देहरादून चला गया था। मोलाराम एक निर्भीक आदमी था, इस लिए उस ने गोरखा शासन-कर्ता, हस्तिदल के आग्रह पर अपने 'गढ़राज्य' काव्य की रचना की थी।

हस्तीदल[1] सुनिकैं इहैं, रीझे अत मनमाहिं।
कह्यो कवि गढ़राज की, अब उत्पति देहु सुनाहिं॥
मोलाराम कवी कह्यो हमसौं।
हम पूछत हैं सब कुछ तुमसौं॥

जब कैप्टन हार्डिक[2] २९ अप्रैल सन् १७९६ में श्रीनगर आया था, उस समय उस की मोलाराम से भेंट अवश्य हुई होगी। किंतु उस ने इस की चर्चा नहीं की। प्रद्युम्नशाह और उस के भाइयों से मिलने का उल्लेख किया है। हार्डिक ललितशाह का मृत्यु-समय सन् १७८१ देता है, यद्यपि वास्तव में ठीक समय सन् १७८० है। ऐटकिंसन[3] के अनुसार इस बात के प्रमाण में ललितशाह के दान (ताम्र) पत्र (जो सन् १७८० से १७८५ तक के हैं) मिलते हैं कि ललितशाह ने १७८० से १७८५ तक राज्य किया। हार्डिक ललितशाह का शासन-काल ढाई वर्ष का बताता है। हमारी धारणा है कि सन् १७८०

---

[1] हस्तिदल चौतरिया ने सन् १८०३ से १८१५ तक गढ़वाल में गोरखा राजा की ओर से राज्य किया।

[2] हार्डिक, 'नैरेटिव अव् ए जर्नी टु श्रीनगर' (एशियाटिक रिसर्चेज, जिल्द ६, पृष्ठ ३०९)

[3] ऐटकिंसन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', जिल्द २, पृष्ठ ५७७

और १७८१ दोनों ठीक हो सकते हैं, क्योंकि संभव है हार्डिक को विक्रमी संवत् में, जो गढ़वाल में १५ अप्रैल के लगभग आरम्भ होता है, ललितशाह की मृत्यु का समय बताया गया हो। संवत् का सन में रूपान्तर करने में बहुधा ऐसी भूलें होती हैं। अब रहा प्रश्न यह कि ललितशाह ने ढाई वर्ष तक राज्य किया या पाँच वर्ष तक। इस में हम को मोलाराम से मदद मिलती है। मोलाराम ने दिखाया है कि ढाई वर्ष के लगभग कृपाराम डोभाल नित्यानंद खडूडी और घमंडसिंह तीन मंत्रि-मंडलों में घमासान युद्ध रहा। उस समय नाबालिग राजा ललितशाह केवल मंत्रियों के हाथ का कठपुतला ही नहीं था, वरन् सारा राज्य डोभाल खडूडी और घमंडी मंत्रि-दल के हाथ में था। यह ढाई वर्ष का समय रक्तपात और अराजकता तथा घरेलू लड़ाई-झगड़ों का समय था। ललितशाह ने स्वयं वास्तव में राज्य ढाई वर्ष ही किया इस लिए हार्डिक और ऐटकिंसन दोनों सही हैं। मोलाराम उन दोनों की पुष्टि करता है।

पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी ने जो 'गढ़वाल का इतिहास' लिखा है उस में और राजाओं के राज्यकाल की तरह जयकृतशाह का राज्यकाल भी गलत दिया गया है। रतूड़ी जी जयकृतशाह का राज्य-काल सन् १७९१ से १७९७ ई० बताते हैं[1]। जयकृतशाह का सही समय सन् १७८०-८५ ई० है। ललितशाह की मृत्यु पर उस के चार पुत्रों,—जयकृत, प्रद्युम्न, पराक्रम और प्रीतम—में से जयकृतशाह गढ़वाल के राज्य-सिंहासन पर बैठाया गया। कुँवर प्रद्युम्नशाह को प्रदीपशाह अपने जीते जी कुमाऊँ का राजा नियत कर चुका था।

जयकृतशाह के नाबालिग होने के कारण राज्य-शासन मंत्रियों के हाथ में रहा। उस समय डोभाल मंत्री कृपाराम का बोलबाला था। मोलाराम के कथनानुसार

> मंत्रि भये डोभाल तब, जयकृतशाह को राज।
> कृपाराम डोभाल तहँ, लाग्यो करनहि काज॥
> कृपाराम मुखत्यार कहायो।
> गढ़ को उन सब भार उठायो॥
> मंत्री सब गढ़ के हिरसाये।
> सिरीनगर महि परच उठाये॥

---

[1] 'गढ़वाल का इतिहास', पृष्ठ ४०६

नित्यानंद खडूडी डरिकैं।
बैठभो अपने अंदर धरिकैं॥
राज काज सब दीन्यो छांडी।
होनहार इह कुमता बाढी॥

नित्यानंद खडूडी दीवानी का अधिकारी था। वह प्राचीन दीवान-वंश का वंशज था। कृपाराम ने राज्य की बागडोर राजा की नाबालगी में अपने हाथ में ले ली। नित्यानंद कृपाराम के विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगा। नित्यानंद ने जयानंद जोशी को

पत्री लिखी जो कुमाऊँ दीनी।
कृपाराम गढ़राजसी लीनी॥
कोई दिन मांहि तहाँ चढ़ेंगो।
तुमकों भी भाजन ही पड़ेंगो॥
ताते तुम इत पहिले आओ।
याकों दुति ले कुँवर[1] ही जाओ॥
गढ़को राज चलावें हमही।
राज कुमाऊँ करो जो तुमही॥
इत उत राजा बालक दोही।
तुम हम रहे एक जो होही॥

जयानंद जोशी के लिए नित्यानंद का पत्र

इस पत्र को पाने पर जयानंद जोशी ने कृपाराम के विरुद्ध निराले ढंग का षड्यंत्र रचने की ठानी। जयानंद ने

कृपाराम कौं आपनी, पत्री दई पठाय।
ललितसाह जू फौज रखाई।
राखे हमहूँ छोट सिपाई॥
मोहनचंद काढि हम दीन्यो।
राजकुमार तुमारो कीन्यो॥

जयानंद का पत्र कृपाराम के लिए

---

[1] कुँवर प्रद्युम्नशाह से अभिप्राय है। प्रद्युम्नशाह को ललितशाह कुमाऊँ का राजतिलक दे गया था।

तुमहूँ इत राजा न पठायो।
तलब सिपाही सौर चढ़ायो॥
अब सिपाह इह मानत नाही।
हम को संग ले आवे तांही॥
ताते इत तुम कुँवर पठावो।
तलब सिपाह की सब निबटावो॥
जो सिपाह इह सहर में आवें।
हम कौं तुमकौं नाच नचावें॥
ताते तुम रस्ता महि आवो।
अपनी हमरी जान बचावो॥

कृपाराम की नित्यानद के साथ मेल-मिलाप की चेष्टा

इह सुनि किरपाराम अकुलाये।
मंत्री मित्र सबै हि बुलाये॥
भवानंद औ श्रीविलासहि।
दोनों भैया आये पासहि॥
जात नौटयाल विप्र दोइ मित्रहि।
बड़ो हेत तिनसों सुभ सुत्रहि॥
तिनहूँ कह्यो सब मंत्रि बुलावो।
नित्यानंद खंडूड़ी धावो॥
तीन टोल मेगीहि बुलाये।
नित्यानंद पास नहिं आये॥
नित्यानंद ने इह कही, हम राख्यो दुःख पाय।
नये नृपति मंत्रीहि तुम, लेव मंत्र ठहराय॥
कृपाराम तब संकहि मानी।
नित्यानंद करी चेष्टानी॥
कृपाराम तब गये सहांही।
नित्यानंद के वह गृह मांही॥
कह्यो पुरातन तुम हो मंत्री।
हम बालक राजा के तंत्री॥

बालापन सों टहल हम कीनी।
खिजमत काहू की नहिं लीनी॥
दफ्तर राज को तुमरे पासा।
सब कोइ करत हैं तुमरी आसा॥
मुल्क सलाण की तुमपे फौजदारी।
सवा लाख गढ़ की मुखत्यारी॥
तुम बिन राजकाज नहिं चले।
हमसों तो इक पत्र न हिले॥
तुम जो कहो सो हमहूं गहें।
राजा कहें सो तुम सों कहें॥
तुमसों कहत नृपति शरमावें।
हमसों कहत लाज नहिं लावें॥
बालापन हम गोद खिलाये।
हम सों रहत हैं मिले मिलाये॥
जुवा भये जब लौं नृप नाहीं।
तब लौं कहें बचन हम ताहीं॥
जुवा होइ तब तुम सों बोले।
राजकाज सब मनमहिं तोले॥

तुम मंत्री होके रहो, हम हो रहें जो दास।
हुकुम करें जो कछु नृपति, कहें तुहारे पास॥

यह सब सुन कर बाहरी मन से नित्यानंद ने कृपाराम से कहा—

नित्यानंद के बाहरी भाव

तुम नृप आज्ञा करो सो करिहं।
तुम सों बाहर हम नहिं फिरिहं॥

किंतु, वास्तव में नित्यानंद के यह दिल के भाव नहीं थे। वह जानता था कि अब वास्तव में राजा कृपाराम है। और यह सब संधि की चर्चा धोखे की टट्टी है। नित्यानंद ने कृपाराम से बहाना किया कि

अब तो सधे ना तन माहीं।
धर्यो जात मारग पग नाहीं॥

सचे होय दरबार तब आवं।
राजकाज जो सरे चलावें॥
या विद कृपाराम सो कह्यो।
कृपाराम तब घर को गयो॥
रहे जो कोइ पाछे जन ताँही।
नित्यानद जू के घर माँही॥

नित्यानद के मन के भाव

तिनसो नित्यानद जु कही।
अब गुलामगर्दी गढ़ भई॥
कृपाराम यह बाँदी बच्चा।
लाग्यो करने हमकों शिक्षा॥
हम सों आगे हुआ य चाहं।
सर्वोपरि मत्री ठहराहं॥
इह चर्चा पाछे सों कीनी।
किनहूँ जाय तहाँ कहि दीनी।
कृपाराम तब लग्यो चेताही।
दगा लडूडी के मन माँही॥
हम मारन को मत्र उठायो।
जयानद जोशीहि बुलायो॥
जयानद जब पहुँचे आई।
हमसों कछू करा नहिं जाई॥
तातों पहिलों इन को मारूँ।
और काज सब पाछे सारूँ॥
इह मनमथि के सार निकाल्यो।
प्रथम राज इह तत्र सिभाल्यो॥

कृपाराम का नित्यानद के विरुद्ध षड्यत्र

जेते गढ माँहि मत्रि सिपाही।
एक एक करि लिये मिलाई॥

बसो नेगी खान खवासहि।
गोलदार[1] फौजदार जो पासहि॥
लीन्हे सब घर मांहि बुलाई।
कह्यो खड़ूडी कूल उठाई॥
जंकृतसाह को मार्‌यो चाहें।
पराक्रम साह राज बैठाहें॥
प्रद्युमनसाह भेजत हैं कुमाऊं।
मन्त्री आप बने दुऊ ठाऊं॥
निमक हलाली होय सो, करो राज की आस।
निमक हरामी होय सो, जाओ खड़ूडी पास॥
सब पचन मिलि कै इह कही।
निमक हरामी हमहूं नही॥
जो तुम कहो सो हमहूं करिहं।
निमकहलाली सें हम तिरहं॥
निमकहरामी को जस नाहीं।
दूहूं ठौर यह होय गुनाहीं॥
कृपाराम तव धर्म करायो।
ऊलीखाडो धोय पिलायो॥

खडूडियो पर डोभालो का आक्रमण

गुप्त तत्र निशि लियो ठहराई।
जित के तित दीने पकराई॥
पकरे नित्यानंद खड़ूडी।
बातें भूलि गये सब गूढ़ी॥
बाल, कुंवार, जुवा सब पकरं।
बधा सहित जजीर महि जकरं॥
बनघट गढ़ दीने पहुँचाई।
आंखन माहीं नोल फिराई॥

---

[1] गोलदार, छोटे सेनानायक, और फौजदार, सेनापति।

लूटि लियो घरबार सबैहीं।
जपत करी जागीर जमीहीं॥
दफ्तर देवीदत्त कों दीन्यो।
कृपाराम फौजदार ही कीन्यो॥
जयकृतशाह राज बैठाये।
मंत्री सकल महाल कराये॥
जयानंद पै खबर इह, गई जो मारग माहिं।
भये महाल डोभाल ही, रहे खडूडी नाहिं॥

नित्यानंद का बुलाया हुआ जयानंद जोशी श्रीनगर पहुँचा। वहाँ आ कर उस को मालूम हुआ कि खडूडी मन्त्रिदल परास्त हो गया, और कृपाराम डोभाल का आतंक गढ़वाल राज्य में छा गया है। कृपाराम ने अपने शत्रु के बुलाये हुए जयानंद से राजनीति के साथ व्यवहार किया। आज्ञा हो कर कृपाराम ने जयानंद से पुछवाया—

श्रीनगर में जयानंद का आगमन

कौन हेतु तुम आये इतही।
बूझे जयानंद जो तिनही॥
जयानंद जोशी सब कही।
गई राज श्रीगढ़ मही भही॥
हमहूं गढ़ के चाकर रहे।
गढ़ की सब बिध नीकी चहे॥
भेंट करन को हमहूं आये।
काहू के हम नाहिं लगाये॥
कृपाराम जो किरपा करिहैं।
गढ़ कुर्माचल दोनों तरिहैं॥
बिना राय नगरी कुछ नाही।
बिन भरता बनिताहि बिलाही॥
भरता मांगन को हम आये।
और काज कछु भी नहीं धाये॥

कृपाराम सों काम है, और न हमरो कोय।
कृपा करें जब वोहि हम, जयानंद तब होय॥
इह कहि पाती लेखि पठाई।
कृपाराम जू के मन भाई॥
बिजन नाना रूप पठाये।
अन्न अनेक छाग घृत लाये॥
जगा ठौर नीकी ही दिलाई।
आदर सहित दिये बैठाई॥
सुदिन छाँट राजा सों मिलायो।
तब कुमाऊँ को ठहरायो॥

कृपाराम का जयानंद से सद्व्यवहार

जयानंद ने कुमाऊँ पर राज्य करने के लिए कुँवर प्रद्युम्नशाह को माँगा। इस के विषय में विस्तार-पूर्वक प्रद्युम्नशाह का इतिहास लिखते समय लिखा जायगा। वास्तव में यह प्रसंग कुमाऊँ के इतिहास से संबंध रखता है।

समालोचना

साहित्य का इतिहास

हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास—लेखक, प० अयोध्यासिंह उपाध्याय, प्रकाशक, पटना यूनीवर्सिटी, १९३४।

पटना विश्वविद्यालय में 'रामदीन रीडरशिप' नाम की एक आयोजना है। इस पर प्रति दूसरे वर्ष किसी न किसी हिंदी विद्वान की नियुक्ति हिंदी में कुछ व्याख्यान देने के लिए होती है। प्रथम बार १९३०-३१ में इस कार्य के लिए प० अयोध्यासिंह उपाध्याय को निर्वाचित किया गया था। यह ग्रथ उन के इन्हीं व्याख्यानो का सग्रह है।

उपाध्याय जी की इस लगभग ७०० पृष्ठो की व्याख्यानमाला में तीन मुख्य खड है। प्रथम खड में भाषा की परिभाषा से प्रारभ कर के लगभग सौ पृष्ठो में हिंदी भाषा के इतिहास पर एक दृष्टि डाली गई है। दूसरे खड में साहित्य की परिभाषा से प्रारभ कर के करीब पाँच सौ पृष्ठो में हिंदी पद्य-साहित्य का इतिहास आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक का मिलता है; तथा तीसरे खड के शेष सौ पृष्ठों मे गद्य-साहित्य के विकास, विस्तार तथा वर्तमान अवस्था का सक्षिप्त विवेचन है। एक प्रकार से यह उपाध्याय जी कृत हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास है और गत चार पाँच वर्षों में इस विषय पर प्रकाशित होने वाले लगभग आधे दर्जन इतिहासो की सख्या में वृद्धि करने में यह सहायक होता है।

इस ग्रथ के प्रथम खड में कोई उल्लेखनीय बात दृष्टिगोचर नही होती। प्राय पश्चिमी विद्वानो की खोज के आधार पर आर्य भाषाओ तथा हिंदी भाषा का वृत्तात सक्षेप में दिया गया है। किंतु दूसरे और तीसरे खडो में हिंदी के प्रौढ शैलीकार तथा सहृदय कवि का आलोचक का रूप मिलता है। हिंदी साहित्य की प्राचीन तथा अर्वाचीन

समस्याओ के सबध में उपाध्याय जी की कुछ अपनी धारणाएँ है और इन्हें सुयोग्य लेखक ने प्रकट करने मे सकोच नही किया है। ये अश वास्तव में ग्रथ के अत्यत बहुमूल्य भाग है। कवियो तथा लेखको की आलोचना में सहानुभूति का दृष्टिकोण विशेष आकर्षक है। इस की आवश्यकता को एक मौलिक लेखक ही समझ सकता था। मिश्रबधुविनोद की शैली के अनुरूप एक-एक कवि को लेकर उस का विवेचन करने तथा उस की कृतियो में से अनेक उदाहरण देने के कारण ग्रथ का आकार अधिक बढ गया है। उदाहरणो के सकलन के सबध में इतना कहना पडेगा कि यह अत्यत सुरुचि के साथ किया गया है। एक पारखी कवि की कसौटी पर कसा हुआ निखरा माल ही यहाँ मिलता है।

हिंदी साहित्य के सबध में उपाध्याय जी के विचारो के इस सग्रह से हिंदी साहित्य के इतिहास के अग की अभिवृद्धि ही होगी। इतिहास ग्रथ के अतिरिक्त गद्यशैली की दृष्टि से ग्रथ और भी अधिक बहुमूल्य है। धी० व०

उपन्यास

उलझन—लेखक, ठाकुर श्रीनाथ सिंह। प्रकाशक, इडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद। १९३४। मूल्य २)

हिंदी में अच्छे उपन्यासो की जो कमी है वह सब पर विदित है। ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने इस कमी की पूर्ति में जो प्रयत्न किया है वह सराहनीय है। ठाकुर साहब हमारी भाषा के अनुभवी लेखक तथा हिंदी की प्रतिष्ठित पत्रिका 'सरस्वती' के सपादक है। उनकी लेखनी से निकली हुई कोई भी रचना मनोरजन से शून्य नही हो सकती। इस उपन्यास में कुशल लेखक ने अनमेल विवाहो के कारण उपस्थित हुई सामाजिक विषमताओ का दिग्दर्शन कराया है। चरित्र चित्रण साधारणत अच्छा हुआ है। बारहवें अध्याय में प्रदर्शित जगतनारायण के आचरण में, तथा चौदहवें अध्याय में दिये गए शीला के पत्र में हमारे विचार करने की प्रचुर सामग्री मिलेगी। हम लेखक को इस कृति पर बधाई देते है और आशा करते है कि आगे अपनी अन्य कृतियो से वह इसी प्रकार हिंदी की श्रीवृद्धि करेंगे।

रा०

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ५ } अप्रैल, १९३५ { अंक २

महामहोपाध्याय कवि पंडितमुख्य उमापति उपाध्याय

[लेखक—डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्० (इलाहाबाद)]

महामहोपाध्याय कवि पडितमुख्य उमापति उपाध्याय मैथिली के प्रसिद्ध प्राचीन कवियो में गिने जाते हैं। इन का जन्म ग्राम कोइलख, परगना भौर, ज़िला दरभगा के एक बड़े ऊँचे मैथिल ब्राह्मणकुल मे हुआ था। इस के अतिरिक्त इन का कौलिक परिचय अभी कुछ भी ज्ञात नही है। सभव है कि मैथिल-पञ्जीप्रबध से कुछ और भी पता लग जाय।

इन के जीवन-काल के सबध मे भी दो प्रधान मत हैं। सर जार्ज ग्रीयर्सन के अनुसार यह तेरहवी शताब्दी के अत अथवा चौदहवी के आदि भाग मे विद्यमान थे[१]। मैथिलो की धारणा है कि यह महाराज मिथिलेश राघवसिंह (१७००–१७३९) के समय में महामहोपाध्याय मैथिल गोकुलनाथ उपाध्याय के समकालीन थे। इन दोनो मतो में मुझे ग्रीयर्सन का ही मत सगत मालूम होता है अतएव मैंने उसी का अनुमोदन यहाँ भी किया है, जिस के प्रमाण में भी मुझे बहुत कुछ इन के ही ग्रथ से सहायता मिलती है।

उमापति के नाम से लगभग दस विद्वानो का परिचय 'कैटेलोगस कैटेलोगोरम' में दिया हुआ है। इनमे सबसे प्रसिद्ध उमापति राजा लक्ष्मणसेन के सभासद

---

[१] 'जर्नल अव् दि बिहार ऐंड उडीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द ३, भाग १, पृष्ठ २५

थे[1] और प्राय इनकी कविता का वर्णन कवि जयदेव ने अपने 'गीतगोविंद'[2] में किया है। किंतु यह उमापतिधर मिश्र के नाम से प्रसिद्ध थे। यह निस्सदेह उमापति उपाध्याय से भिन्न व्यक्ति थे।

उमापति उपाध्याय के एकमात्र ग्रथ 'पारिजातहरण' से हम लोग परिचित है। इस से यह मालूम होता है कि इन के पृष्ठपोषक हरिहरदेव नामक एक राजा थे। इन के सबध में कवि ने कहा है कि यह अनेक छोटे-छोटे राजाओ के अधिपति थे[3]। इन का बार-बार हिंदूपति नाम से कवि ने उल्लेख किया है[4]। इन का विशेष वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—"जिन का मुख पूर्ण चद्र है, वचन अमृत है, दिग्विजयश्री ही जिन की राज्यलक्ष्मी है, जिन के बाँह पारिजात वृक्ष है, युद्धक्षेत्र में जिन की टेढी भौंहे कालकूट स्वरूप है, जिन का तीव्र तेज वाडवानल ही है, जिन की सेवा में छोटे-छोटे राजा लोग लगे रहते है, जो गुणो के समुद्र ऐसे अतुलनीय गुणो से युक्त मिथिलेश[5] जिन की भयकर तलवार ने यवनो के मुडो को काट कर लुप्तप्राय चारो वेदो के मार्ग को प्रकाशित कर दिया है, ऐसे विष्णु भगवान के दशमावतार[6] हिंदूपति श्री हरिहरदेव है।'[7] इन की पटरानी महारानी

---

[1] गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापति ।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च ॥

[2] वाच पल्लवयत्युमापतिधर सन्दर्भशुद्धि गिरा
जानीते जयदेव एव शरण श्लाघ्यो दुरूहद्रुते ।
शृगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुत श्रुतिधरो धोयी(ई)कविक्ष्मापति—

सर्ग १, श्लोक ४

[3] सकलनृपपति-पारिजातहरण, पृ० ५, १४, २१ (मिथिलाप्रकाशपरिषद्सस्करण)

[4] हिंदूपति-पा० ह०, पृ० १, २, ५, ६, ८, ९, १४, १५, १७, १८, २१, २२, २५

[5] यस्यास्य पूर्णचन्द्र स्ववचनममृत दिग्जयश्रीश्च लक्ष्मी
र्दो स्तम्भ पारिजातो भ्रुकुटिकुटिलता सगरे कालकूट ।
तीव्र तेजोऽग्निरौर्व पदभजनपरा राजराज्यस्तदित्य
पारावारो गुणानामयमतुलगुण पातु वो मैथिलेश ॥

पा० ह०, पृ० २

[6] अतएव कवि ने पुन कहा है—'सकलयवनवनदरदावानलदशमदेव अवतारा'—पा० ह०, पृ० २१
विष्णु का दशमावतार कल्कि है—जैसा कि जयदेव ने कहा है—
म्लेच्छनिवहनिधने कलयसि करवाल
धूमकेतुमिव किमपि करालम् ।
केशव धृतकल्किशरीर जय जगदीश हरे—गीत० स० १, श्लो० १०

[7] पा० ह०, पृ० २

माहेश्वरी देवी थी,[1] जिन को कवि ने अनेक बार जगमाता कहा है[2]। हरिहरदेव बड़े विद्वान और रसिक थे[3]। मिथिला का इतिहास यद्यपि अंधकार में अभी भी पड़ा है तथापि यह मालूम है कि हरिहरदेव नामक ऐसा प्रतापशाली राजा कोई ब्राह्मण वंश में नहीं हुआ है। कन्नौजाधिपति महाराज हर्षवर्धन के मरने के बाद कुछ दिनों तक (६४८-७०३ ई०), मिथिला तिब्बत के अधीन थी[4] तथा इस के बाद नेपाल के राज्य के भी अधीन कुछ दिनों तक रही है, किंतु हरिहरदेव नामक मिथिलेश का कुछ भी पता नहीं लगता है। अतएव जब तक कुछ विशेष प्रमाण नहीं मिलता तब तक यह कहा जा सकता है कि हरिहरदेव प्रायः कार्णाटकुल-चूडामणि मिथिलेश 'हरिसिंहदेव' ही का नामांतर है। यद्यपि मिथिला में उक्त मिथिलेश 'हरिसिंहदेव' ही के नाम से पूर्ण प्रसिद्ध हैं किंतु नेपाल की वंशावली नामक पुस्तक के डेनियल राइट द्वारा किए गए अनुवाद को देखने से यह मालूम होता है कि इन का दूसरा नाम हरिदेव[5] भी था। यह रामसिंहदेव के पुत्र, शक्तिदेव के पौत्र, नरसिंहदेव के प्रपौत्र, गंगदेव के वृद्धप्रपौत्र तथा सिमराँवगढ के प्रसिद्ध राजा नान्यदेव के अतिवृद्ध-प्रपौत्र थे। हरिहरदेव के संबंध में जो कुछ उमापति ने कहा है सब एक एक कर के हरिसिंहदेव के गुणों से मिलता है। यद्यपि यह अवश्य मानना पड़ेगा कि कवि ने अत्युक्तियों की भरमार दिखाई है, किंतु सर्वथा निर्मूल आधार पर अत्युक्ति हो ही नहीं सकती। और फिर भी इतिहास से यह पता लगता है कि जब गयासुद्दीन तुगलक १३२१-१३२५ के बीच दिल्ली से लखनौटी के ऊपर आक्रमण करने को जा रहा था तब वह मिथिला होते हुए गया। मुसलमान ऐतिहासिकों ने यद्यपि लखनौटी की विजय का बहुत

---

[1] पा० ह०, पृ० ३, ६, ८, १३, १७, २२

[2] पा० ह०, पृ० ५, ९, १७ [3] पृ० २१

[4] विंसेंट स्मिथ, 'नेपाल, तिरहुत तथा तिब्बत', जर्नल अव् दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द ३, भाग ४, पृ० ५५५-५६

[5] 'वंशावली' में भी 'हरिदेव' और 'हरिसिंह' ये दोनों नाम दो भिन्न भिन्न राजाओं के दिए हैं। किंतु प्रायः यह भूल है। वंशावली के अनुसार हरिदेव के २२५ वर्ष बाद हरिसिंहदेव का राज्यकाल कहा जाता है। ऐसा होने से हरिसिंहदेव लगभग १५४० ई० में रहे होंगे, यह मानना होगा जो कि सर्वथा असंभव है। ऐसे तो नान्यदेव (१०९७) ने लगभग ५० वर्ष, गंगदेव ने ४१ वर्ष, नरसिंहदेव ने ३१ वर्ष, शक्तिदेव ने ३९ वर्ष, रामसिंह ने ५८ वर्ष तक राज्य किया और इन के बाद हरिदेव या हरिसिंहदेव का १३१७ ई० के लगभग होना निश्चित होता है, और यह अन्य ग्रंथों से भी मिलता है।

कुछ वर्णन किया है, किंतु तिरहुत (मिथिला) के संबंध में कुछ भी नहीं कहा है। इस से यह ज्ञात होता है कि उस यात्रा में मिथिला के राजा के साथ जो लड़ाई हुई उस में गयासुद्दीन को विजय नहीं मिली प्रत्युत संस्कृत-विद्वानों के लेख से यह ज्ञात होता है कि यवन सेना बहुत ही बुरी तरह पराजित हुई थी[1] यद्यपि लखनौटी से लौटने के बाद गयासुद्दीन ने ही हरिसिंहदेव को १३२४ ई० में पराजित कर नेपाल को भगाया था[2]। मुसलमानों के विरुद्ध लड़ने के कारण ही इन्हें बारबार कवि ने 'हिंदूपति' कहा है, अन्यथा 'हिंदू' शब्द के प्रयोग की कुछ भी सार्थकता नहीं मालूम होती। और इसी लिए इन्हें कवि ने कल्कि अवतार भी बनाया है। इन्हीं के राज्य-प्रबंध से मिथिला में अनेक प्रकार की सामाजिक उन्नति हुई, जिस का प्रभाव अद्यावधि मिथिला में पूर्ण-रूप से वर्तमान है। इसी कारण इन्हें 'मिथिलेश' की उपाधि से भी कवि ने भूषित किया है। उन दिनों इन के समान प्रतापी राजा दूसरा नहीं था, और छोटे-छोटे राज इन के अधीन थे। अतएव 'सकल, नृपपति' भी इन्हें कहा है। इन सब कारणों से जैसा ग्रीयर्सन साहब ने कहा है, मुझे भी अभी यही मालूम होता है कि 'हरिहरदेव' 'हरिसिंहदेव' ही का दूसरा नाम था। यदि यह अनुमान ठीक हो तो हरिसिंहदेव का समकालीन इन्हें कहना होगा। हरिसिंहदेव तेरहवीं शताब्दी के अंत से चौदहवीं के आदि तक थे। इस लिए उमापति भी तेरहवीं में थे।

यह तो हुआ अपने मत के समर्थन में। अब दूसरे मत के विपक्ष में यह जानना

---

[1] (क) मग्ना म्लेच्छमहार्णवे वसुमती येनोद्धृता लीलया
विध्वस्तावनवैरिणः क्षितिभुजां लक्ष्मीः समासादिता—
चण्डेश्वरठक्कुररचित दानरत्नाकर के अंत में

(ख) नानायोधविरुद्धनिर्ज्जितसुरत्राणस्य सद्वाहिनी-
नृत्यद्भीमकबन्धमेलकदलद्भूमिभ्रमद्भूधरः।
अस्ति श्रीहरिसिंहदेवनृपतिः कर्णाटचूडामणि.
दुष्पतत्पार्थिवसार्थमौलिमुकुटन्यस्तांघ्रिपंकेरुह —

धूर्तसमागमनाटक

(ग) अस्ति श्रीहरिसिंहदेवनृपतिर्निःशेषविद्वेषिणां निर्माथी—

कृत्यरत्नाकर

[2] कृत्यरत्नाकर की भूमिका, पृ० ९, बिब्लोथिका संस्करण।

आवश्यक है कि महाराजा राघवसिंह के राज्य के समय अथवा उन के पूर्व या ठीक पश्चात् कोई ऐसा प्रतापी हरिहरदेव नाम का राजा नहीं हुआ जिसे कोई मैथिल 'मिथिलेश' कह कर संबोधन करे। उन दिनों यदि कोई मिथिलेश कहलाने के योग्य थे तो महाराज राघवसिंह ही थे। उन का नाम हरिहरदेव नहीं था। मैथिलों का एकमात्र कहना यह है कि महाराज राघवसिंह के दरबार में धर्मशास्त्र के संबंध में विचार करने के निमित्त एक सभा हुई जिस में उमापति उपाध्याय भी निमंत्रित हुए। यह मधुबनी के समीप दरभंगा में मंगलवनी (मंगरौनी) नामक ग्राम में रहते थे और बहुत वृद्ध थे। बरसात का दिन था, दरभंगा और मधुबनी के बीच एक प्रकार से जलमय था, और लोग केवल नाव में हो कर ही आ जा सकते थे। उमापति बड़े धुरंधर विद्वान थे, अतएव उन का आना बहुत आवश्यक समझा गया। किंतु अपनी अवस्था और भीषण जलप्रवाह को देख कर उमापति उपाध्याय ने महाराज को एक पत्र लिखा जिस का एक अंश यह है कि—

हम अतिवृद्ध नदी मरखाही[1]।
एकठा नाओ[2] चढ़ब नहिं ताही॥
गोकुलनाथ कहइछथि जएह।
हमरो सम्मति जानब सएह॥

महामहोपाध्याय गोकुलनाथ उपाध्याय अठारहवीं शताब्दी के एक अद्भुत विद्वान[3] मिथिला में हुए हैं, जिन के बनाए हुए लगभग पचासों ग्रंथों से मैथिल विद्वान परिचित हैं। इन का भी वास-स्थान मंगरौनी ही था और यह यद्यपि नवीन थे किंतु विद्वत्ता के प्रभाव से राजसभा में निमंत्रित थे। बस एकमात्र इसी दंतकथा के आधार पर मैथिल पंडित चेतनाथ झा ने (और जैसा कि मैथिलों की धारणा भी है) उमापति को अठारहवीं

---

[1] भयावनी, जिस के पार उतरने में प्राण-भय हो।

[2] एक ही काठ की बनी हुई नाव।

[3] इन की विद्वत्ता का परिचय निम्न-लिखित श्लोक से हो सकता है—

मातर्गोकुलनाथनामकगुरोर्वाग्देवि तुभ्यं नमः
पृच्छामो भवतीं महीतलमिदं त्यक्त्वैव यद्गच्छसि।
भूलोके वसतिः कृता मम गुरौ स्वर्गे त्वया गीष्पतौ
पाताले फणिनायके भगवति प्रौढिः क्व लब्धाऽधिका॥

शताब्दी में रक्खा है। परंतु उक्त सब युक्तियों पर विचार करने से पंडित चेतनाथ झा जी का मत उतना प्रबल नहीं है, जितना कि ग्रीयर्सन साहब का, जिस से मैं पूर्णतया सहमत हूँ, तथा जिस के प्रमाण में ऊपर अनेक युक्तियाँ दी गई हैं।

इस के अतिरिक्त एक और भी प्रमाण है। मैथिल कवि विद्यापति ठाकुर का समय १३५० से १४४० ई० तक कहा जाता है। तुलनात्मक विचार करने से यह भासित होता है कि उमापति की कविताओं का प्रभाव विद्यापति की कुछ कविताओं पर स्पष्ट है, जिस के कुछ उदाहरण यहाँ देना आवश्यक है—

(१) कुछ कविताओं के अंत में उमापति ने लिखा है "पुनमति भजु भगवाने"[1] इसी के अनुसार कवि विद्यापति ने भी एक जगह[2] "गूजरि भजु भगवाने' लिखा है।

(२) उमापति ने प्राय सब कविताओं के अंत में अपने पृष्ठ-पोषक राजा का उल्लेख किया है। उसी प्रकार विद्यापति में भी देख पड़ता है। कहीं-कहीं कविता के अंत में उमापति ने अपने प्रिय राजा की स्त्री के नामोल्लेख पूर्वक उल्लेख किया है, उसी प्रकार विद्यापति की कुछ कविताओं में है। दोनो के शब्द भी प्राय एक ही है, जैसे 'माहेसरि देइ विरमानें'[1] (उमा०), 'हिंदूपति जाने'[4] (उमा०), 'लखिमा देइ रमाने'[5] (विद्या०), 'राजा सिवसिंह ई रस जान'[6] (विद्या०), "हिंदूपति जिउगति सब रस जाननि हारा'[7] (उमा०), 'रस बुझ हिंदूपति हिंदूपति'[8] (विद्यापति), 'हिंदूपति रसविन्दक सुमति उमापति भान' (उमा०)[9]।

(३) नायिका की 'कनकलता' से दोनो ने उपमा दी है। जैसे—

कनकलता सनि सुंदरि सजनि गे
विहि निरमाओल आनि;
कनकलता अति बिपरित
फरल जुगल गिरी;

---

[1] पा० ह०, पृ० ६, ८, १० [2] विद्यापतिपदावली, पृ० ८३ (लहेरियासराय संस्करण)
[3] पा० ह०, पृ० ६, ८, १५, १७ [4] पा० ह०, पृ० ८, ९, १३, १७
[5] वि० प०, पृ० २५, ४३, १०४ [6] वि० प०, पृ० १२२, १२३
[7] पा० ह०, पृ० २१ [8] वि० प०, पृ० १०७ [9] पा० ह०, पृ० ३

कनकलता अवलंबन ऊअल
हरिनहीन हिमधामा;[१]
मनिमय भूषन अंग अमूल,
कनकलता जनि फूलल फूल।[२]

इन दोनो कवियो के प्रयोग को देख कर यह मालूम होता है कि उमापति का ही अधिक स्वाभाविक और आदर्श प्रयोग है।

(४) और फिर कविताओं को लीजिए—

चानन भरम सेबलि हम सजनी
पूरत सब मन काम।
कंटक दरस परस भेल सजनी
सीमर भेल परिनाम[३]॥

—विद्यापति

हरि सउँ प्रेम आस कए लाओल,
पाओल परिभव ठामे।
जलधर छाहरि तर हम गुतल हूँ,
आतप भेल परिनामे[४]॥

—उमापति

हमर वचन यदि नहिं परतीत
बुझि करह साति जे होय उचीत।
भुजपास बाँधि जघनतर तारि
पयोधर पाथर हिय दह भारि।
उरकारा बाँधि राख दिन राति
विद्यापति कह उचित इह साति।

—विद्यापति।

[१] वि० प०, पृ० २४, २५, २६ [२] पा० ह०, पृ० ८
[३] वि० प०, पृ० १९६ [४] पा० ह०, पृ० १४

मानिनि मानहु जऊँ मोर दोसे
शास्ति करिअ वरु न करिअ रोसे।
भौंह कमान विलोकन बाने
बेधहु विधुमुखि कए समधाने।
पीन पयोधर गिरिवर साधी
बाहुफाँस धनि घरु मोहि बाँधी।
की परिणति भए परसनि होही
भूपण चरणकमल देह मोही।
—उमापति

और देखिए कौन स्वाभाविक तथा आदर्श मालूम होता है। सभव है कि 'रुचीनां वैचिम्या-दृजुकुटिल्नानापथजुषाम्' में एक मेरा भी मत हो, किंतु अपनी रुचि के विरुद्ध भी किस प्रकार में कहूँ। अथवा अतत नाम के सादृश्य ही से हो, मैं तो उमापति की ही कविता को आदिम कहने का साहस करता हूँ।

और भी देखिए—

अरुन पुरब दिसा बितलि सगरि निसा
गगन मगन भेल चदा।
मूदि गेल कुमुदिनि तइओ तोहर धनि
मूदल मुख अरविंदा ॥१॥
चाँद बदन कुवलय दुहु लोचन
अधर मधुरि बिरमान।
सगर सरीर कुसुम तोंए सिरिजल
किए दहु हृदय पखान ॥२॥
असकति करहु कवन नहि परिहहु
हार हृदय भेल भार।
गिरि सम गरुअ मान नहि मुचसि
अपरुब तुअ बेबहार ॥३॥

अवगुन परिहरि हेरह हरखि धनि
मानक अवधि विहान।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
कवि विद्यापति भान[1] ॥४॥

यह कविता विद्यापति की नहीं है, इस में तो मुझे कुछ भी संदेह नहीं मालूम होता। किंतु यहाँ तो 'भनिता' के देखने से लोगों को मेरा कथन सर्वथा असंगत मालूम पड़ेगा। हो सकता है कि लोगों ने बाद में 'भनिता' बदल कर विद्यापति के नाम से इसे प्रसिद्ध कर दिया हो, जैसा कि अनेक छोटे-छोटे कवियों ने बाद को अपनी कविता के प्रचारार्थ किया भी है। किंतु उत्तम कवि इस प्रकार कभी नहीं कर सकते। यदि सभी ऐसा ही करते तो और कवियों का नामनिशान भी नहीं देख पड़ता, विशेष कर उन का जो कि यथार्थ में स्वयं भी विद्यापति से अपने को नीचा समझते हैं। इस कविता का यथार्थ स्वरूप यों है—

अथ मालवरागे गीतम्।

ओगे मानिनि ! ध्रु०

अपन पुरुब दिसि बहलि सगरि निसि
गगन मलिन भेल चंदा।
मुनि गेलि कुमुदिनि तइओ तोहर धनि
मूनल मुख अरविंदा ॥१॥
कमल वदन कुवलय दुहु लोचन
अधर मधुरि निरमाने।
सगर सरीर कुसुम तुअ सिरजल
किए तुअ हृदय पखाने ॥२॥
असकति कर ककन नहिं परिहसि
हृदय हार भेल भारे।

[1] वि० पदावली, पृ० १३८

गिरिसम गरुअ मान नहि मुचसि
अपरव तुअ बेबहारे ॥३॥
अवगुन परिहरि हरखि हेरु धनि
मानक अवधि बिहाने।
हिमगिरिकुमरि चरन हृदय धरि
सुमति उमापति भाने[1] ॥४॥

'भनिता' से यह लोगो को मालूम होता है कि इन पद्यो के रचयिता उमापति हैं। इस के समर्थन में दूसरा प्रमाण यह है, कि इन प्रत्येक पद्यो के बाद उमापति ने इसी भाव के संस्कृत में भी पद्य रचे हैं और प्रत्यक क आदि में 'एतस्मिन्नर्थे श्लोक' ऐसा लिखा है, जिस से यह ज्ञात होता है कि मैथिली और संस्कृत दोनो ही पद्य उमापति के रचे हुए हैं। अन्यथा कभी ये अपन ग्रंथ में नहीं लिखते। एक ही भाव को दोनो भाषाओ में सूचित करने की प्रथा अनेक ग्रंथो में देख पडती है। 'पारिजातहरण' में तो सर्वत्र ऐसा ही है। अब उन संस्कृत श्लोको को भी यहाँ मे उद्धृत कर देना आवश्यक समझता हूँ—

रुचिर्गलति कौमुदी शशिनि कौमुदी हीयते
वदन्ति कलमन्त (कमलन्त) शृणु समन्त कुक्कुटा।
पुरोदिगतिरोहिता परितिरोहितास्तारका
क्व तव वरोरु हे मुखसरोरुहे मुद्रणम् ॥१॥
आस्यन्ते सरसीरुहेण रचित नीलोत्पलाभ्या दृशौ
बन्धूकेन रदच्छदौ तिलतरो पुष्पेण नासापुटम्।
इत्येव विधिना विधाय कुसुमं सर्वं वपु कोमल
क्रूरम्मानसमश्मना पुनरिद कस्मादकस्मात्कृतम् ॥२॥
कान्ते कि तव कञ्चुक न कुचयोर्नो हस्तयो कङ्कण
दोर्वल्ली वलयावलीमपि न दौर्बल्येन विन्यस्यसे।
हार भारमिवापघारयसि चेदेव गुरुम्मेरुवत्
मानम्मानिनि किं न मुञ्चसि मनाक् स भावमावेदय[2] ॥३॥

---

[1] पा० ह०, पृ० १५-१६ [2] पा० ह०, पृ० १५-१६

इस के अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्दो का प्रयोग देख पडता है जिस से कि उमापति का बहुत ही प्राचीन होना सिद्ध होता है। जैसे—'करु'[1] (कर के), 'पुनु' (पुन), 'होमल' (होम करता है)[2], 'थापल' (रखना) तथा 'निरमान'[3] (प्रिय), 'फुल्लिआ, मल्लिआ'[4] 'चूअ' (आम)[5], 'अवतरु' (नीचे उतरते हे)[6], 'समाज' (समीप)[7], 'काहि' (किसको)[8], 'अपनुक (अपना)[9], सउं (से)तथा 'जेउं'(यदि)[10] 'किअ'(किस)[11], 'जिउ'[12] इत्यादि।

इन सब कारणो स मुझे यही माल्म होता है कि उमापति बहुत ही प्राचीन कवि हैं एव विद्यापति से भी प्राचीन कहे जायें तो कुछ अनुचित नही है। ऐसा मानने से विद्यापति से कम से कम ५० या ६० वर्ष उमापति को पूर्व मानना होगा। इस से भी उमापति का तेरहवीं शताब्दी के अत म होना सिद्ध होता है। पंडित चेतनाथ झा जी के अनुसार महाराज राघवसिंह के समकालीन कोई दूसरे ही उमापति रहे हो तो कोई आश्चर्य नही। 'पदार्थीयदिव्यचक्षु नामक न्याय-ग्रंथ के कर्त्ता वेदवेदागपारग श्रीरत्नपति उपाध्याय के पुत्र भी एक उमापति थे जिन की माता रत्नावती देवी थी।[13] एव 'शुद्धिनिर्णयकार' भी उमापति ही थे। ये दोनो तो मैथिल ही थे। इन के अतिरिक्त भी कोई उमापति रहे हो यह भी सभव है, तथा रत्नपति ही के पुत्र 'पारिजातहरण'-कर्त्ता रहे हो यह भी कहा जा सकता है।

'पारिजातहरण' नाटक के नाम से प्रसिद्ध हैं, किंतु यथार्थ में यह उपरूपक[14] है। इस में केवल एक मात्र अंक है। यह नाटक वीर-रस का है। यह 'सकलयवनवन-करदावानलदशमदेव अवतार' महाराज हरिहरदेव की आज्ञा से लिखा गया और खेला

---

[1] पा० ह०, पृ० २ [2] पा० ह०, पृ० ३ [3] पा० ह०, पृ० ३ ये शब्द विद्यापति में भी मिलते हैं। [4] पा० ह०, पृ० ४ [5] पा० ह०, पृ० ४ विद्यापति में 'चूत' मिलता है। [6] पृ० ५ [7] पृ० ५ [8] पृ० ६ [9] पृ० १२ [10] पृ० १४ [11] पृ० १४ [12] पृ० ८ 'जिउ' शब्द 'जो' अर्थ में यद्यपि मिथिला में कहीं कहीं अभी भी प्रयुक्त होता है किंतु है यह बहुत प्राचीन। म० म० हरप्रसाद शास्त्री जी के अनुसार 'जीउ' शब्द हर्जरवर्मा के तेजपुर के शिलालिपि गुप्त स० ५१० में है—'जर्नल अव् दि बिहार ऐंड उडीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द २, पृ० ५११

[13] रत्नावतीरत्नपत्यो पित्रो पूर्वतपोबलात्।
आतनोति पदार्थीयदिव्यचक्षुरुमापति ॥

[14] उपरूपकों में भी केवल 'श्रीगदित' नाम का यह हो सकता है।

भी गया। सूत्रधार के कथनानुसार इस उपरूपक का नाम 'नवपारिजातमंगल है'। 'नव' शब्द से यह अनुमान होता है कि इस से प्राचीन कोई 'पारिजातहरण' नामक ग्रंथ मैथिली में रहा होगा।

इस की कथा इस प्रकार है। एक समय द्वारिका में रुक्मिणी के साथ श्रीकृष्ण भगवान बैठे थे, कि नारद जी उन के दर्शन के निमित्त स्वर्ग से आ पहुँचे। मार्ग में आते हुए उन्हे एक पारिजात का फूल मिला था उसे उन्होने श्रीकृष्ण भगवान को समर्पण किया जिसे श्रीकृष्ण जी ने सोच कर अपनी ज्येष्ठ देवी रुक्मिणी को दिया। इस से रुक्मिणी का मान सब से बढ गया। सत्यभामा अपनी सखी सुमुखी के साथ वही खडी थी। पहले तो उन्हे भी रुक्मिणी ही को फूल का मिलना अच्छा लगा, किंतु पीछे सुमुखी के बहकाने से वह रूठ गई और कोप भवन में जा कर लेट गई।

जब यह समाचार श्रीकृष्ण जी को प्राप्त हुआ तो वह वहाँ गए और बडे परिश्रम से अनुनय-विनय दिखाने पर सत्यभामा को समाश्वासन दिया। किंतु सत्यभामा ने कहा कि 'जब तक आप मुझे पारिजात का वृक्ष नहीं ला देंगे तब तक मै किस प्रकार घर से निकल सकती हूँ? मेरा अपयश सारे ससार में फैल गया। सखियाँ ताली बजा बजा कर मेरी हँसी करती है। स्वामी ने मेरा अपमान किया इस सकोच से मै मरी जा रही हूँ। इन सब का एक मात्र उपाय यह है कि आप मुझे पारिजात वृक्ष ला दें।'

यह सुन कर श्रीकृष्ण ने तुरत नारद को इद्र के पास भेजा और कहलाया कि पारिजात वृक्ष शीघ्र यहाँ भेज दें। किंतु इद्र ने गर्व में आ कर कहा कि हे नारद तुम जा कर कृष्ण से कह दो कि—

पारिजातदलं यावत्सूचिकाग्रेण विध्यते।
तावत्कृष्ण विना युद्ध मया तुभ्य न दीयते ॥

यह समाचार नारद के मुख से सुन कर श्रीकृष्णचद्र ने अर्जुन के साथ गरुड के ऊपर सवार हो इद्र से लडने के निमित्त प्रस्थान किया। उधर से इद्र ऐरावत पर सवार हो हजारो घोडो को ले कर अपने पुत्र जयत के साथ लडने को आए। दोनो दलो में घोर लडाई होने लगी। आकाश में देवलोक, शिव-पार्वती आदि सभी युद्ध देखने को आए। एक तरफ इद्र और कृष्ण में, दूसरी तरफ अर्जुन और जयत में घमासान लडाई होने लगी। अंत में

श्रीकृष्ण ही की जय हुई और पारिजात वृक्ष को उखाड कर उन्हो ने गरुड की पीठ पर रख लिया। पीछे से महादेव जी ने आ कर आपस में समझौता भी करा दिया।

पारिजात वृक्ष ले कर श्रीकृष्णचद्र द्वारिका लौट आए और सब के समक्ष उसे सत्यभामा को दे दिया। सत्यभामा ने प्रणाम कर उसे स्वीकार किया। पीछे से नारद ने कहा कि 'हे सत्यभामे! इस वृक्ष के नीचे जो दान किया जाता है वह अक्षय होता है इस लिए इसे अपने आँगन में लगाओ और सब से प्रिय जो तुम्हारी वस्तु हो उसे इस के नीचे दान करो।'

सत्यभामा ने कहा कि 'मुझे आर्यपुत्र श्रीकृष्णचद्र से बढ कर प्रिय और क्या है?' नारद ने कहा 'फिर तो इन्हें ही दान कर मुझे दो। गौरी ने शिव को और शची ने इद्र को इसी के नीचे दान कर मुझे दिया है। तुम भी वैसा ही करो।' झट सत्यभामा ने तिलकुश और गगाजल हाथ में ले सकल्प पढ नारद को श्रीकृष्ण का दान और दक्षिणा भी दे दिया। इसी तरह सत्यभामा के कहने से सुभद्रा ने अर्जुन को दान कर दिया।

नारद दोनो को ले कर बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि तुम दोनो अब मेरे दास हो। मेरी सेवा करो और जहाँ मैं जाऊँ वहाँ अपने कधे पर उठा कर मुझे ले चलो। वे दोनो भी ब्राह्मण के सेवक होने से अत्यत प्रसन्न हुए। किंतु बाद को नारद ने सोचा कि तीनो लोक को अपने पेट में रखने वाले श्रीकृष्ण तथा वृकोदर के छोटे भाई अर्जुन इन दोनो के पेट मुझ ग़रीब ब्राह्मण से कभी नहीं भरे जा सकते, इस लिए इन्हे बेच दूँ तो अच्छा हो।[1] तुरत इन को बेचने के लिए तत्पर हो गए और एक एक गाय के बदले इन्हे सत्यभामा तथा सुभद्रा के हाथ बेच डाला। वे दोनो अपने सर्वस्व धन को पुन खरीद कर बहुत ही आनदित हुईं।

यह कथा 'विष्णुपुराण' (५-३०, ३१), 'श्रीमद्भागवत' (१०-५९) तथा 'हरिवश' में है। उमापति ने हरिवश का अनुसरण किया है, अतर इतना हैं कि युद्ध के लिए प्रद्युम्न को न ले जा कर अर्जुन को ले गए।

---

[1] इस से भी यह ज्ञात होता है कि मिथिला में दास-क्रयविक्रय प्रथा बहुत दिनों से थी। कुछ ही दिन पूर्व तक यह प्रथा वर्तमान थी। विद्यापति ने अपनी 'लिखनावली' में इस प्रथा की लिखावट के नमूने को दिखाया है।

वीररसप्रधान नाटक भाषा में बहुत अल्प देख पड़ते है। किंतु मैथिली में ऐसे अनेक नाटक है, जैसे 'उषाहरण' इत्यादि। कवि ने 'मार्त्तंडेय पुराण' के आधार पर शक्ति की उपासना स्वरूप मंगलाचरण किया है और वीररसावेश के समुचित विषय, शब्द-विन्यास तथा लंबे-लंबे मैथिली मे भी समस्त पद का समावेश इस में किया है। जैसे—

घूमरनयनभसमभमण्डिनि, चण्डमुण्डदुर्दुशिरखण्डिनि।
सबसुरशक्तिरूपधारिणि, सेवक सबहुक उपकारिणि। इत्यादि।

इसी प्रकार संस्कृत में भी एक नान्दी श्लोक है जिस में कवि ने वाराहावतार भगवान का वर्णन किया है। इस वर्णन से भी यह सूचित होता है कि इस उपरूपक में वीर-रसप्रधान है, तथा किसी का उद्धार हुआ है। इस के अतिरिक्त यह कविता का प्राचीन होना भी सूचित करता है। नवीन कवि प्राय इतने प्राचीन भाव को नही ग्रहण करते।

मैथिली के अन्य प्राचीन नाटको के समान इस में भी संस्कृत का मिश्रण है। प्रधान पुरुष पात्र संस्कृत मे तथा स्त्रियाँ प्राकृत [1] में बोलती है। गान सब मैथिली में है। संस्कृत के श्लोक बहुत ही सरल किंतु अत्यन्त मधुर है। इस से भी इन का प्राचीनत्व सूचित होता है। इस के अन्त में भरतवाक्य भी मैथिली तथा संस्कृत में है। इस नाटक में, मालव, वसन्त, बराड़ी, असावरी, पचम, राजविजय, नट, श्रीडाव, विभास, केदार तथा ललित आदि रागो के उत्तम उदाहरण है।

मैथिली गान सब बहुत ही उच्च कोटि के, अत्यन्त मधुर, भाव गंभीर तथा सरस है। कुछ पद्य तो अतुलनीय मालूम होते है। विद्यापति से भी बढ़े-चढ़े है। इन के पद्य तो बहुत ही थोड़े है, किंतु सभी चुने हुए है। उपमाएँ भी बहुत कुछ मौलिक कही जा सकती है। पाठको के विनोदार्थ थोड़े से पद्य यहाँ उद्धृत किए जाते है—

चानकला नयनानल धापल
मानल सुख भुजग वरा।
अमिय सार हरि अविरल होमल
हसल सकल सुर असुर नरा॥१॥

---

[1] सर जार्ज ग्रीयर्सन ने इसे शौरसेनी प्राकृत बतलाया है। देखो 'जर्नल अव् दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द ३, पृ० २३

गांग भिजाय भांग भउ भोजन
सेज ओछाओल बाघछला।
दीप समीप बरय फणिमणिगण
देवि देव दुहु मन मिलला ॥२॥
भाव भगति भावित भगवति भव
देयु सदा जय अभयवरा ॥३॥

इन में अनुप्रास तथा उपमानोपमेय की छटा कैसी है! और फिर भी भाव कितना सुंदर तथा गभीर है। ये सब गुण अन्य कविताओं में भी मिलते हैं।

वसंत-वर्णन—

अनगनित किंशुक चारु चम्पक बकुल बकुट्टल फुल्लिआ।
पुनु कतहु पाटलि पटलि नीप नवारि माधवि मल्लिआ॥

अति मंजु बजुल पुञ्ज पिञ्जल चारचअ विराजहीं।
निज मधुहि मातल पल्लवच्छवि लोहितच्छवि छाजहीं॥

पुनु कैलिकल कतहु आकुल कोकिला-कुल कूजहीं।
जनि तीनि जग जिति मदन नृप मनि विजयराज सुराजहीं॥

नवमधुर मधुरस मुगुध मधुकर निकर निकरस भावहीं।
जनि माननीजन मान-भंजन मदनगुण गुरु गावहीं॥

वह मलय परिमल कमल उपवन कुसुम सौरभ सोहहीं।
रितुराज दैवत सकल दैवत मुनिहु मानस मोहहीं॥

नारद आकाश से नीचे उतर रहे हैं किंतु दूर होने के कारण तथा उनका तेजमय शरीर होने से ठीक पता नहीं चलता है कि यह कौन है। इसी के संबंध कवि ने कहा है—

अवतरु अवनी तेजि अकास।
न थिक दिवाकर न थिक हुतास॥
धोती धवल तिलक उपवीत।
ब्रह्मतेज अति अधिक उदीत॥

वेणवदंड वेद कर शोभ।
आवयि नारद दरसन लोभ।।

इसी भाव का श्लोक हमें 'माघ' काव्य में नारद ही के संबध में मिलता है। संभव है उमापति के मन में रचना के समय माघ का भी श्लोक रहा हो। माघ का श्लोक यों है—

द्विधा कृतात्मा किमयं दिवाकरो
विधूमरोचिः किमयं हुताशनः।
—सर्ग १, श्लोक २

कृष्ण का वर्णन—

कनक मुकुट मँह मणि भल भासा।
मेरुशिखर जनि दिनमणि बासा।।
सुन्दर नयन बदन सानंदा।
उगल युगल कुवलय लय चंदा।।
पीअर वसन तनु भूषण मनी।
जनि नवघन उग दामीनि।।
बन माला उर उपर उदारा।
अंजनगिरि जनि सुरसरि धारा।।

सत्यभामा के मान का वर्णन—

कि कहव माधव तनिक विशेषे।
अपनहु तनु धनि पाब कलेशे।।
अपनुक आनन आरसि हेरी।
चानक भरम कोप कत बेरी।।
भरमहु निज कर उर पर आनी।
परसए तरस सरसीरुह जानी।।
चिकुर निकर निज नयन निहारी।
जलधर जाल जानि हिय हारी।।

अपन वचन पिसरब अनुमाने ।
हरि हरि तेहु परि तेजय पराने ॥
माधव आबहु करिअ समधाने ।
सुपुरुष निठुर रहय न निदाने ॥

सत्यभामा कृष्ण के प्रेम के संबधमें कहती हैं—

हरि सउँ प्रेम आस कए लाओल
पाओल परिभव ठामे ।
जलधर छाहरि तर हम सुतलहुँ
आतप भेल परिनामे ।
सखि हे मन जनु करिअ मलाने
अपन करमफल हम उपभोगब
तोहें किअ तेजह पराने । ध्रु० ।
पुरुब पिरिति रिति हुनि जउँ बिसरब
तइओ न हुनकर दोसे ।
कतेक जतन धरि जउँ परिपालिअ
साप न मानय पोसे ।
कबहु नेह पुनु नहिं परगासिअ
केवल फल अपमाने ।
धेरि सहस्र दस अमिअ भिजाबिअ
कोमल न होअ पखाने ।

उमापति ने अपने नाम के साथ 'गुरु' शब्द का कई बार प्रयोग किया है[१] । इस से कभी मन मे यह आता है कि प्राय राजा हरिहरदेव के यह दीक्षागुरु थे । अन्यथा अपने को 'गुरु' कहना किसी प्रकार सगत नही मालूम होता है। इस से यह भी सूचित होता है कि उमापति तो मैथिली ब्राह्मण थे, और हरिहरदेव क्षत्रिय थे, जिन्हो ने उमापति मे

[१] भन गुरु उमापति—पा० ह०, पृ० ३, ५, १४

दीक्षा ग्रहण की थी। और इसी से भरतवाक्य में तथा मंगलाचरण में जो आशीर्वाद है वह भी चरितार्थ होता है।

उमापति शक्ति के उपासक थे, यह एक तो उन के मैथिल होने ही से सिद्ध है, द्वितीय उन के ग्रंथ में शक्ति की आराधना देख कर भी मालूम होता है। यह अन्य मैथिलों के समान वैष्णव तथा शैव भी थे। वैष्णव थे, इस के प्रमाण में तो उन के 'पारिजातहरण' में विष्णु की चरितगाथा ही पर्य्याप्त कही जा सकती है। उन के शैव होने का भी एक प्रमाण स्पष्ट है। इस ग्रंथ में एक स्थान में इन्हों ने लिखा है 'मोर शंभुक मीत'[1]। यहाँ 'मोर' शब्द से उन का शैव होना भी स्पष्ट है। इस के अतिरिक्त सदा के लिए यह कह देना आवश्यक है, कि मैथिल लोग अनादिकाल से शाक्त, वैष्णव तथा शैव तीनों होते आए हैं। शक्ति की उपासना से शाक्त, जिस के चिन्हस्वरूप वे लाल वस्त्र तथा मस्तक पर लाल तिलक लगाते हैं। ब्राह्मणमात्र को शालग्राम शिला का पूजन कर्त्तव्य है। अत वे विष्णु के आराधयिता होते हैं, जिस के कारण वे ललाट में श्रीखंड चंदन का ऊर्ध्वपुंड्र चिह्न रखते हैं। तथा शिव ही मोक्षदाता है इस विचार से अंत में शिव ही के भजन-भक्ति से मोक्ष मिलेगा और मोक्ष ही जीवन का एकमात्र उद्देश है यह जान कर सभी मैथिल शैव होते हैं। नित्य पार्थिव-शिवलिंग का पूजन करते हैं। अतएव ललाट पर त्रिपुंड्र भस्म लगाते हैं। मैथिल विद्वान धनसंपन्न होने से शिवलिंग की स्थापना करना अपना मुख्य उद्देश्य समझते हैं। इस प्रकार शक्ति, विष्णु और शिव की साम्यावस्था का ध्यान रखते हुए अविरोधभाव से वे अपना जीवन व्यतीत करते हैं। यही बात विद्यापति तथा अन्य सभी मैथिल विद्वानों में थी और अभी भी वर्तमान है।

---

[1] पा० ह०, पृ० ५

प्राचीन भारत में वास्तुविद्या और मानसार शिल्प-शास्त्र

[लेखक—श्रीयुत सत्यजीवन वर्मा, एम्० ए०]

(क्रमागत)

मकानो की नीव और उसे रखने की विधि को 'गर्भविन्यास' कहते थे। नगर, ग्राम, दग, हर्म्य, वापी, कूप, तडाग आदि के लिए भिन्न-भिन्न गर्भविन्यास की विधि लिखी है। ग्राम, नगरादि के लिए 'गर्भभाजन' के पाँच भेद किए गए है। मदिरो और मकानो के लिए नीव भिन्न-भिन्न प्रकार की होती थी। वर्णों के अनुसार भवनो की नीव अलग-अलग होती थी। भेद केवल पूजा-पाठ का था। नीव की गहराई 'अधिष्ठान' की ऊँचाई के अनुसार होती थी। इसे ईंट, पत्थर से भरते थे। चारो कोने ईंटो के बराबर बनाए जाते थे। नीव में सात प्रकार की मिट्टी भरी जाती थी—नदी, पहाड, विमोट, कर्कट, समुद्रतट, गिरिशृंग, गोखुराग्र (गोशाला) की मिट्टी। इस पर नीलोत्पल, कुमुदक्द, सौगधि आदि यथास्थान रखते थे। फिर शालि, व्रिह, कडु, कोद्रव आदि शस्य रख कर यथाविधि पूजन करते थे। मकानो की ऊँचाई के अनुसार नीव की चौडाई-लबाई होती थी। ईंटो की माप इस प्रकार होती थी। चौडाई ७ से २९ वा ३० अगुल तक, लबाई चौडाई से $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{4}$ या $\frac{3}{4}$ अधिक वा दूनी, मोटाई चौडाई की आधी। ईंटे, पाषाण वा मिट्टी की होती थी। पहली ईंट रखते समय विशेष प्रकार की पूजा वा उत्सव होता था। साधारणत नीव एक पुरसा गहरी होती थी।

गर्भविन्यास

स्तभ के निचले भाग को 'उपपीठ' कुर्सी कहते थे। 'मानसार' मे इसे बनाने का सविस्तर वर्णन दिया है। इस में गोले-गल्ते और पटरी आदि के ५१ भेद 'मानसार' में आए है —

उपपीठ विधान

१—अब्ज, अबुज, सरोरुह, २—अतर, अतराल, अतरिक, ३—अघ्रि, ४—अशु, ५—अर्गल, ६—आधार, ७—आलिग, ८—आसन, ९—भद्र, १०—बोधिका, ११—दल, १२—

गल, ग्रीव, कंठ, कंधर, १३–घट, १४–गोपानक, १५–हार, १६–जन्मन; १७–कप, कपन; १८–कुमुद, १९–वेद्र, २०–क्षेपण, २१–मुष्टिबंध, २२–मूल, २३–मृणाल, मृणालिका, २४–नाटक, २५–नासि, नासी, नासिका, २६–पट्ट, पट्टिका, २७–प्रतिक, २८–प्रतिवक्त्र; २९–प्रतिवाजन, ३०–प्रतिबंध, ३१–प्रतिमा, ३२–पादुक, ३३–प्रस्तर, ३४–फलका; ३५–रत्नकप, ३६–रत्नवप्र, ३७–ताडिका, ३८–तुग, ३९–उत्तर, ४०–उपान, ४१–वप्र, ४२–वल्लभ, ४३–वपवर्ण, ४४–कर्णपद्म, ४५–क्षुद्रकप, ४६–क्षुद्रपद्म; ४७–महाबुज, ४८–पद्मकप, ४९–रत्नकप, ५०–रत्नपट्ट, ५१–वज्रपट्ट।

इस प्रकार उपरोक्त भेदों में से ले कर 'उपपीठ' की रचना होती थी। इन के आधार पर उपपीठ के प्रथम तीन भेद वेदिभद्र, प्रतिभद्र और मचभद्र और पुन प्रत्येक के चार भेद होते थे। उदाहरण के लिए 'वेदिभद्र' का वर्णन निम्न है—

(क) प्रथम प्रकार में कुल २४ भाग का क्रम यों है। उपान ५ + कप १ + ग्रीव १२ + कप १ + वाजन ४ + कप १ = २४

(ख) दूसरे प्रकार में कुल १२ भाग। जन्म २ + पद्म १ + कप $\frac{1}{2}$ + कंठ ५ + क्षेपण १$\frac{1}{2}$ + पद्म १ + पट्टिका $\frac{1}{2}$ + कप $\frac{1}{2}$ = १२

(ग) तीसरे में १२ भाग। पादुक १$\frac{1}{2}$ + अब्ज १$\frac{1}{2}$ + कप $\frac{1}{2}$ + ग्रीव ५$\frac{1}{2}$ + क्षेपण $\frac{1}{2}$ + पद्म १ + वाजन १ + कप $\frac{1}{2}$ = १२ भाग

(घ) चौथे में १२ भाग। उपान १$\frac{1}{2}$ + अब्ज $\frac{1}{2}$ + कप $\frac{1}{2}$ + वर्ण $\frac{1}{2}$ + पट्टिक १ + उपान २ + कप $\frac{1}{2}$ + वाजन ५ + कप $\frac{1}{2}$ = १२ भाग।

क्रम 'उपपीठ' में ऊपर से रक्खा गया है।

पूरे स्तंभ के पाँच भाग होते थे—१ भाग उपपीठ, १ अधिष्ठान, २ स्तंभ, १ भाग बोधिक (ऊपरी भाग)। अधिष्ठान 'उपपीठ' के ऊपर होता था।

अधिष्ठान-विधान

इस की ऊँचाई ३० अंगुल से चार हाथ तक होती थी। इस के १२ भेद होते थे। अधिष्ठान की ऊँचाई, ४ हस्त तो ब्राह्मणों के घर में, ३ हस्त क्षत्रियों, २ हस्त वैश्यों और एक हस्त शूद्रों के घर होती थी। 'मानसार' ने अधिष्ठान के १८ भेद दिए हैं और इन के कुल उपभेद ६४ हैं। प्रत्येक का सविस्तर वर्णन 'मानसार' ने दिया है। उदाहरण के लिए १८ में एक भेद 'पादबंध' का एक उपभेद यों होगा। कुल २४ भाग—नीचे से क्रमानुसार—वप्र ८ + कुमुद ७ + कप १ + वर्ण

३ + कप १ + पट्टिका ३ + कप १ = २४ भाग।

अधिष्ठान के १८ भेद और उपभेद यो हैं।

१–पादवध—४ भेद
२–उरगवध—४ भेद
३–प्रतिकर्म—४ भेद
४–कुमुदवध
५–पुष्प पुष्कल—४ भेद
६–श्रीवध—४ भेद
७–मचवध—४ भद
८–श्रेणीवध—४ भेद
९–पद्मबध—४ भेद
१०–कुभवध—४ भेद
११–वप्रवध
१२–वज्रवध
१३–श्रीभोग—२ भेद
१४–रत्नवध
१५–पट्टवध
१६–कुक्षिवध—४ भेद
१७–श्रीकात
१८–केसवध

विमान (मदिर), शाला, मडप, निधान, सद्म और गोपुर आदि के लिए अधिष्ठानो मे विशेष भेद और प्रकार होते थे। इन का भी उल्लेख 'मानसार' ने किया है।

स्तभ के माप, आकार, प्रकार, अलकार आदि के विषय में 'मानसार' के १५वें अध्याय म सविस्तर वर्णन है। इन के १२ नाम आए हैं—जघ, चरण, स्तली, स्तभ, अधिक, स्थाणु, स्थूण, पाद, स्कभ, अरणि, भारक, और धारण।

स्तभ

इन नामो से भिन्न-भिन्न स्तभो की उपयोगिता का अनुमान होता है। पूरे स्तभ की ऊँचाई 'अधिष्ठान' से 'प्रस्तर' तक, 'उपपीठ' के नीचे 'उत्तर' के नीचे से 'जन्मन' तक, इस प्रकार पूरे स्तभ के पाँच भाग होते थे—अधिष्ठान, उपपीठ,

स्तभ, बोधिक और प्रस्तर। स्तम की लबाई 'अधिष्ठान' की दूनी तक होती है। इस के १२ भेद हैं, जो २½ हस्त से ८ हस्त तक होते हैं। प्रत्येक में केवल ६ अगुल का अतर होता था। दीवाल से लगा स्तभ (कुडयस्तभ) तीन, चार, पाँच और छ अगुल चौडाई मे होता था। उस की ऊँचाई उपपीठ की तिगुनी अथवा अधिष्ठान की छगुनी वा आठगुनी हो। स्तभ का 'वृत्त', ऊँचाई का १/६, १/७, १/८, १/९, वा १/१० अथवा १/४, १/५, १/६, (केवल कुडयस्तभ—के लिए)। रूप (पूर्ण स्तभ) की चौडाई कुडयस्तभ की दूनी, तिगुनी वा चौगुनी हो। स्तभ के अनेक भेद उस के आकार के अनुसार किए गए है। गोलाकार, चतुष्कोण, समवृत को 'ब्रह्म-कात', अष्टकोण को 'विष्णुकात' षट्दशकोण को 'रुद्र-कात', पचकोण को 'शिवकात' और षट्कोण को 'स्कध कात' कहते थे। नीचे से ऊपर तक ये आकार में स्तभ की पूरी लबाई में समान होते थे। माप और अलकार के अनुसार इन के नाम चित्रकर्ण, पद्मकात, चित्र-कुभ, पालिक-स्तभ और कुभ-स्तभ। इन के अतिरिक्त कोष्ठ-स्तभ और कुडय-स्तभ भी हैं। प्रथम पाँच भेद स्तभ के आकार के आधार पर है, शेष पाँच उन के 'बोधिक' के आकार और अल्कार विशेष के अनुसार। मुख्य स्तभो के पास छोटे-छोटे स्तभ भी रखने का रिवाज था। इस दृष्टि से छोटे स्तभ को 'उपपाद' कहते थे। और एक, दो, तीन वा चार सहायक उपपाद वाले मुख्य स्तभ को 'एक-कात', 'द्विकात', 'त्रिकात' वा 'ब्रह्मकात' कहते थे। स्तभ विधान का सविस्तर वर्णन जो 'मानसार' ने किया है उस से उस समय के वास्तु-विशारदो की विस्तृत जानकारी और तत्कालीन समाज की सुरुचि का अच्छा परिचय मिलता है।

ऐसा जान पडता है कि 'मानसार' के समय में स्तभ अधिकतर पाषाण और काष्ठ के बनते थे। ईंटो के स्तभ का विशेष रूप से कही उल्लेख नही है। यो तो प्रस्तर के स्तभ

स्तभ के लिए वस्तु

सपूर्ण रूप से नीचे से ऊपर तक एक वस्तु के और इसी प्रकार लकडी के होते थे। परतु 'मानसार' ने शुद्ध, मिश्र, और सकीर्ण तीन भेद 'वस्तु' के अनुसार किए है। अत ऐसा जान पडता है कि पत्थर, लकडी, वा अन्य वस्तु (ईंट) सब को मिला कर भी स्तभ रचना करते थे जैसे 'स्तभ-दड' लकडी का और उपपीठ ईंटा वा प्रस्तर के। 'स्तभ-वेदान' के समय विशेष प्रकार की पूजा भी होती थी जिस पर ग्रथकार ने विशेष महत्त्व दिया है, जो उस समय के विश्वास की परिचायक है।

स्तभ के ऊपर एक दूसरे को जोडने वाले पाटन और उस के ऊपर की छत के नीचे की दीवाल को 'प्रस्तर' कहते थे। इस के बनाने के अनेक विधान दिए हैं। 'प्रस्तर'

प्रस्तर-विधान

की चौडाई 'अधिष्ठान' की ऊँचाई के बराबर, ¾, १¼, १½, १¾, वा दूनी—इसी प्रकार छ तरह की हो सकती है। अथवा सात हस्त से ४½ हस्त तक, ½ हस्त के अतर से ६ प्रकार की जैसे, ७, ६½, ६, ५½, ५, ४½। इन में भी ब्राह्मण, देवता, क्षत्रिय, (राजा) युवराज, वैश्य और शूद्र का भेद है। भिन्न भिन्न आकार प्रकार के अनुसार उन के नाम—कपोत, प्रस्तर, मच, प्रच्छादन, गोपान, वितान, वल्लभी, मत्तवारण, विधान और लुपा—'मानसार' मे आए हैं। 'प्रस्तर' के अलकारो के अनुसार आठ भेद 'मानसार' ने माने हैं—२७ भाग, ३४½ भाग, ३६½ भाग, ३०½ भाग के दो प्रकार, २९ भाग के दो, और २४ भाग। गोले गल्ते के हेर-फेर मे इन के भेद होते थे, जिस प्रकार अधिष्ठान और उपपीठ वा 'वेदिक' का होता था। उन का परिमाण 'मानसार' में दिया है। 'प्रस्तर' में विशेष कर 'नाटक' (प्रसाद का एक अग) के प्रस्तर मे भूत, गण, विद्याधर आदि की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं।

'प्रच्छादन' प्रस्तर के ऊपर होता था। इस से तात्पर्य छत वा पाटन से है। ईंटो की बनाई इमारतो की छत लकडी की होती थी। पत्थर के मकानो की अवश्य पत्थर

प्रच्छादन

की होती थी। छत या तो एक वस्तु की अर्थात् 'शुद्ध' होती थी, या दो वस्तुओ की 'मिश्र' वा अनेक वस्तुओ की 'सकीर्ण'। छत में पट्टिका (पटरी) काम मे आती थी और उस की शोभा 'वर्ण' वा वारनिस से बढाई जाती थी। प्रस्तर के ऊपर छज्जे भी बनते थे—उन्हे 'दल' कहते थे। प्रच्छादन—चौरस वा समतल, गोलाकार अडाकार, गुबदाकार अथवा छाजन सा होता था। इस में 'फलक' (लकडी के पटरे) पत्थर की पट्टियाँ वा चौके, लकडी की शहतीरें (दड) काम में आती थीं।

प्राकार की रचना 'बलिकर्म', परिवार के रहने के लिए, शोभा अथवा रक्षार्थ होती थी। प्राकार से तात्पर्य दीवार से घिरे आगन से होता है। प्राकार के पाँच भेद

प्राकार

'मानसार' के ३१वें अध्याय में वर्णित है। पहला ९ पद का होता था, दूसरा ४९ का, तीसरा १६९ पद का, चौथा ४४१ पद का और पाँचवाँ ९६१ पद का। सब से भीतरी प्राकार वा प्रथम प्राकार को 'अतर-

मडल' कहते थे। दूसरे को 'अतनीहार' और तीसरे को 'मध्यम-हार' । चौथे का नाम 'प्राकार' और पाचवें को 'महामर्य्यादा' कहते थे। क्रम से एक को घेर कर दूसरा होता था, और इस प्रकार पहला सब के बीच में और पाँचवाँ सब के घेरे हुए होता था । प्रत्येक में शालाएँ होती थी। जाति, छद विकल्प और आभास के अनुसार 'प्राकार' के भी चार भेद होते थे। पाँचवे 'प्राकार' की सुरक्षा के लिए कभी कभी छठा और सातवाँ प्राकार भी होता था। प्रथम प्राकार में प्रासाद वा मुख्य हर्म्य होता था। इन प्राकारो की दीवाले पत्थर, ईंटो अथवा शहतीरो की होती थी। इन में द्वार होते थे जो क्रमश बडे छोटे होते थे ।

प्राकार में जब अनेक देवी-देवताओ के मदिर बनाए जाते थे तो उसे 'परिवार-विधान' कहते थे। 'मानसार' में नाना देवी-देवताओ के मदिरो को प्राकार में यथास्थान रखने का सविस्तर वर्णन दिया है जो हमारे प्रस्तुत कार्य के लिए कदाचित् उतना उपयोगी नही होगा ।

परिवार-विधान

प्रधान-द्वार की इमारत को गोपुर कहते थे। आजकल भी 'गेट' अथवा मुगल समय के 'दरवाज़े' से उस का बोध हो सकता है। प्राकार के प्रत्येक प्रागण में आने के लिए एक गोपुर होता था। 'अतरमडल' प्राकार के द्वार को 'द्वारशोभा' कहते थे। दूसरे प्राकार के गोपुर को 'द्वारशाला', तीसरे प्राकार के गोपुर को 'द्वारप्रासाद'। चौथे प्राकार के गोपुर को 'द्वारहर्म्य' और पाँचवें प्राकार के गोपुर को 'महागोपुर' कहते थे। ये क्रम से १ से पाँच तल्ले के होते थे। 'मानसार' ने इन अनेक प्रकार के गोपुरो की रचनाविधि का सविस्तर वर्णन किया है। उन की लबाई, चौडाई, ऊँचाई, आकार, प्रकार, अलकारादि का वर्णन विशद है। गोपुर केवल फाटक मात्र नहीं होता था उस के साथ उस में मीनार, कमरे आदि भी होते थे जिस में रक्षकगण अथवा द्वाररक्षक, राजपुरुष आदि सभवत रहते थे। उन के कमरो के नाम गर्भगेह, मध्यकोष्ठ, नालि-गेह, महानाग, क्षुद्रशाला, आदि मिलते है। उन में अलिंद होते थे, धुर ऊपर छत पर कूटशाला होती थी, भद्र (मुख्य) द्वार के अगल-बगल स्तभ होते थे। ऊपर के तल्ले में पजर (खिड़कियाँ), उन पर जालक होते थे। उन का प्रच्छादन ईंटो और चूने का बनता था। खिड़कियाँ अथवा वातायन

गोपुर-विधान

का नाप-जोख 'मानसार' ने दिया है। ऐसा जान पडता है कि वातायन बनाने के लिए मध्य में एक दड (लकडी) होना था उस के दोनो पक्ष में 'जालक' अथवा 'फलक' लगाए जाते थे। जालक या जालियाँ अनेक प्रकार की होती थी। उन के नाम—नागबध, वल्ली गवाक्ष, कुजराक्ष, स्वस्तिक, सर्वतोभद्र, नद्यावर्त और पुष्पबध आदि मिलते हैं। ये नाम उन के छिद्र के परिमाण और उन की बनावट के अनुसार हैं, इस से पता चलता है कि उस समय जालियाँ बडी सुदर और कलापूर्ण होती थीं। साधारणत खिडकी की लबाई चौडाई बनाने वाले के ऊपर छोडी जाती थी—परतु कुछ लोगो का मत है कि चौडाई १½ से पाँच हाथ तक होती थी और ६ अगुल की वृद्धि कर उस के अनेक भेद किए जाते थे।

'मडप' का साधारण अर्थ मदिर, कुज, चौपाल, छाजन अथवा खुली हुई (दीवाल-रहित) 'शाला' से होता है। परतु 'मानसार' में 'मडप' शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

मडप-विधान

इस से तात्पर्य्य देहात में बनी खुली शाला से है अथवा नदी, समुद्र, तडाग आदि के तट पर बने हुए हर्म्य से है। 'मडप' उस इमारत को भी कहते थे जो मदिरो आदि के समीप बनाई जाती थी। 'मडप' से आवास-गृहो का तथा प्रासादो के कमरो का भी अर्थ लिया गया है। 'मानसार' मे ३४वें अध्याय में इस पर सविस्तर लिखा है। 'मडप' के तीन मुख्य अग हैं। अलिंद, प्रपाग और भित्ति—अर्थात् बरामदा, आँगन, और दीवाल। प्रपागवाले मडप में 'अधिष्ठान' नही होता था। इस मे लकडी के स्तभ होते थे। लकडी में खदिर (खैर का वृक्ष) पूति-पादप (पाइन) हेमपादप और क्षीरणी काम मे आते थे। इन की अनुपस्थिति में पत्थर के स्तभ भी बनते थे। बाँस के भी स्तभ बनते थे। शहतीरें सुपारी के वृक्ष की होती थी। इन पर बल्लियाँ बाँस की होती थीं। आच्छादन के लिए नारियल की जटा बिछाई जाती थी, अथवा अन्य कोई वस्तु। चारो ओर घेरा अथवा 'प्रपा' ऐसी बनती थी कि जिस से हवा से उड न सके। 'प्रपा' मदिरो, आवासो आदि के भी चारो ओर बनाई जाती थी। मडप का निर्माण बलिकर्म, राज्या-भिषेक, रहने के लिए, विवाह आदि के लिए होता था। 'सतो' के लिए भी मडप बनाया जाता था। इन के लिए उचित स्थान बहुधा तो प्रासाद के सामने होता था। इस प्रकार के मडप या तो स्नान के लिए, अथवा अध्ययन के लिए अथवा पूजनादि के लिए होते थे। तीर्थ स्थानो तथा नाच-रग या नाटक के लिए भी मडप बनाए जाते थे। प्राय यह मडप अ-स्थाई होते थे। प्रासाद के सामने बनाए जाने वाले सात प्रकार के मडपो के नाम

'मानसार' में इस प्रकार दिए हैं—हिमज, निषाधज, विजय, माल्यज, पारियात्र, गंधमादन और हेमकूट। इन में प्रथम स्नान के लिए, दूसरा अध्ययन, अध्यापन, पुस्तकालय के लिए होता था। इन के अतिरिक्त 'मेरुज मडप'—ग्रथागार के लिए, 'विजय'—विवाह-कर्म के लिए, 'पद्मक'—भोजनालय के लिए, 'भद्र'—जलागार के लिए, 'शिव'—धान कूटने के लिए, 'वेद'—सभा के लिए होते थे। 'सुत्यग'—अतिथिगृह था, 'दर्भ'—हाथियो के रहने के काम में आता था। 'फूलधारण' मडप गौवो के लिए काम में आता था। 'द्रोण' मडप में तीर चलाने की शिक्षा होती थी। 'खल्रिका' से भोजनालय का काम लिया जाता था। इस प्रकार 'मानसार' में मडपो के अनेक भेद और उन के बनाने की विधियाँ दी है। 'मडप' में स्तभो की सख्या सहस्र तक होती थी।

शाला

देवताओ और राजाओ आदि के रहने के मकान को 'शाला' कहते थे। यह एक से १२ तल्ले तक होती थी। ग्रामविधान के भेदानुसार इन के भी छ भेद है। इन की लबाई, चौडाई, ऊँचाई के अनेक भेद दिए गए है। 'मानसार' में गृह-प्रवेश विधान बहुत विस्तार के साथ दिया हैं, जिस से तत्कालीन रीति-रवाज का परिचय मिलता है।

विशेष

मकानो में द्वारस्थान, उस का माप तथा निर्माण विधि का भी विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। मदिरो में चारो दिशाओ में चार द्वार होते थे। पानी के लिए जलद्वार होता था। मुख्य द्वार ऊँचा होता था, जहाँ दरवाजे नहीं हो सकते थे, वहाँ खिडकियाँ रक्खी जाती थीं। द्वार साधारणत १½ हाथ से ७ हाथ तक होते थे। इन द्वारो में कपाट होते थे। उन पर बेल बूटे खुदे होते थे। चौखट के ऊपरी भाग के मध्य में गणेश, सरस्वती वा अन्य देवताओ की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। आजकल भी काशी आदि स्थानो में हिंदुओ के घरो तथा मदिरो में यही बात देखने में आती है।

राजगृह-विधान

राजाओ के प्रासाद के नौ भेद 'मानसार' में दिए है। यह भेद उन के 'पद' के अनुसार हैं। उन की लबाई, चौडाई आदि में भी उन के पद और आवश्यकतानुसार ही भेद किए गए है। चक्रवर्ती राजा के महल में एक से सात तक शालाएँ होती थीं। 'अधिराज' के प्रासाद में छ प्रकार हो सकते थे। इसी प्रकार नरेंद्र के पाँच, पार्ष्णिक के चार, पट्टभज, मडलेश और पट्टाधार

के तीन प्राकार, प्राहारक और अस्त्रग्राह के लिए दो प्राकार (अथवा दोहरी दीवार या कुड्य) होते थे। दीवालें पत्थर, मिट्टी या ईंटों की होती थी। मुख्यगृह का द्वार पूर्व की ओर होना था, अतःपुर उत्तर की ओर या दक्षिण-पश्चिम या उत्तर-पश्चिम की ओर। अभिषेक-मडप मुख्य हर्म्य के दक्षिण। 'मानसार' में राजप्रासाद के भिन्न-भिन्न अंगों का पदन्यास निश्चय किया गया है। उन्हे देखते हुए उस समय के राजाओं की आवश्यकताओं का पता चलता है। कंचुकी का घर महल के पास अतःपुर के उत्तर होता था, विलासिनी महिलाओं का अलग, गोपुर की बाईं ओर अश्वशाला, या गजशाला, दाहिनी ओर रक्षकगण, नाई का घर अलग, रथशाला अलग। राजकुमार का आवास अलग, 'आस्थान मडप'—तालाब के दक्षिण ओर, मंदिर अलग, उस के पुरोहित का मकान अलग। इस प्रकार राजमहल से संबद्ध सभी आवश्यक वस्तुएँ होती थी। यहाँ तक कि मुर्गे, मेढ़े आदि की युद्धशालाएँ, मयूर के लिए घर, शेरो के लिए घर आदि आदि। राजमहल से संबध रखनेवाली इमारतों के नाम उन की उपयोगिता के विषय में प्रकाश डालेंगे। जैसे, अभिषेक-मडप, आयुधालय, वस्तुनिक्षेप-मडप (गोदाम), भूषणालय, भोजन-मडप, पाचनालय (रसोई), पुष्प-मडप, मज्जनालय (स्नानगृह) शयनालय (शयनागार), अंतःशाला (अतःपुर) स्थान-मडप (दीवाने-आम) मेषयुद्धार्थ-मडप, कुक्कुट-युद्धार्थ मडप, कारागार (जेल) आदि। राजप्रासाद बहुत ही सुंदर सुरक्षित स्थान में बनाया जाता था। चारो तरफ वाटिकाएँ, जलाशय और इन सब की रक्षा के निमित्त दृढ़ प्राचीर, परिखा, आदि सभी होती थी।

वास्तुविद्या के अंतर्गत रथादि का बनाना भी आता है, यह पहले ही कह चुके हैं। 'मानसार' के ४३वे अध्याय में रथ के बनाने की विधि लिखी है। रथ का उपयोग वाहन तथा राजाओं और देवताओं के जुलूस निकालने के काम में होता था। युद्धार्थ भी रथ बनता था। रथ साधारण-तया एक तल का परंतु दिखावे के रथ ९ तले तक के होते थे। रथ के भागो में प्रधान अंग चक्र है। उस में प्रधान कुक्षि (गूडी) है। यह रथ के पूरे नाप की $\frac{1}{4}$ होती थी। गूडी अथवा कुक्षि गोल होती थी, इस में छिद्र (धुरे के लिए) गोल होता था। इस के अनेक माप दिए हैं। धुरा तथा अन्य भाग लकड़ी के होते थे। इस काम के लिए शाल (साखू) जबूक, सार, सरल, बबुल, अर्जुन, मधूक, तिंत्रिणी, बर्बुर, व्याघ्री,

रथलक्षण-विधान

क्षीरणी, खदिर, श्रीकर, कृतमाल, शमी आदि वृक्षों की लकड़ियों यथावश्यकता काम में आती थीं। रथों के, उन की ऊँचाई, आकार प्रकार के अनुसार, अनेक भेद होते थे। देवताओं के रथ चौकोर, षट्कोण, अष्टकोण, गोलाकार, अंडाकार आदि होते थे। युद्ध के रथ में तीन पहिये होते थे, नित्योत्सव के रथ के लिए पाँच पहिये, महोत्सव के लिए छ पहिये से १० पहिये तक होते थे। 'मानसार' मे साधारणतया महाराजो और महोत्सवो के रथो ही की दृष्टि में रख कर निर्माणविधि लिखी गई है। तेज चलने वाले, हल्के या अन्य नित्य के काम में आने वाले रथो का सविस्तर वर्णन नही है।

देवताओं, द्विजो और अन्य वर्ण के लोगो के लिए शयन अथवा पर्यंक-रचना विधि 'मानसार' के ४४वें अध्याय में है। साधारणत बड़ाई-छोटाई के आधार पर पर्यंक या शयन दो प्रकार के होते थे—पर्यंक और बाल-पर्यंक। बाल-पर्यंक अथवा बच्चो का पलग चौडाई में ११ से २५ अगुल तक होता था और पर्यंक २१ से ३७ अगुल तक चौडाई में बनता था। साधारणत इन में चार पैर या पाए होते थे। बच्चो के पलग में पहिए लगते थे। पहियो की चौडाई पैर की मोटाई के बराबर होती थी—पट्टिका या पाटी की मोटाई दो, या तीन अगुल, चौडाई इस की दूनी। चारो कोने पर 'कर्ण' या लट्टू होते थे। पलग सूत, रस्सी, बाँस की तीली या बेंत (?), ताल की रस्सी आदि से बुना जाता था। राजाओ के पलग के पैर का नीचे का भाग शेरो के पजे जैसा होता था। साधारणत पर्यंक आयताश्र होते थे। पलग के अतिरिक्त डोला (झूले), पीठ, आसन आदि भी बनते थे।

शयन

'सिंहासन' शब्द से तात्पर्य्य ऐसे आसन से है जिस में 'सिंह' की मूर्ति बनी हो। ऐसे आसन प्राय राजाओ और देवताओं के लिए बनते थे। 'सिंहासन' चार प्रकार के होते थे, प्रथमासन (जिस का उपयोग प्रथमाभिषेक के लिए होता था) मागल, वीर और विजय। ये एक ही राजा के जीवन में चार अवसरो के लिए होते थे। देवताओ के लिए तीन प्रकार के आसन होते थे—नित्यार्चन, विशेषार्चन महोत्सव—इन तीन कामो के लिए। आकार और प्रकार के अनुसार सिंहासन के दस भेद 'मानसार' में मिलते हैं—पद्मासन, पद्मकेसर, पद्मभद्र, श्रीभद्र, श्रीविलास, श्रीबंध, श्रीमुख, भद्रासन, पद्मबंध और पादबंध। इन में पद्मासन—विष्णु या शिव के लिए, पद्मकेसर—अन्य देवताओं या चक्रवर्ती राजा के लिए, पद्मभद्र—अधि-

सिंहासन

राज के लिए, श्रीभद्र—नरेंद्र के लिए होते थे, इसी प्रकार पद क्रम से अन्य राजाओ के लिए। सिंहासनो के बनाने तथा उन के नाप-जोख, अलकार आदि का वर्णन 'मानसार' के ४५वे अध्याय म मिलेगा।

तोरण-विधान

भूपतियो, देवताओ आदि के गृह की शोभा के लिए तोरण वा मेहराव होते थे। तोरण स्थानक (गृह) और राजाओ तथा देवताओ के सिंहासनो के ऊपर भी शोभा के लिए बनाया जाता था। तोरण के आधार 'अघ्रि' अथवा छोटे-छोटे स्तभ होते थे। ये कई आकार के होते थे—वृत्त (गोल), त्रियुग्म वा अर्धचद्राकृत, त्रिकोण, धनुपाकार आदि आदि। इन सब प्रकार के तोरण के नापने की विधि 'मानसार' में दी है जिस से उस समय की जानकारी और भूमिति के ज्ञान का पता चलता है। अलकार की दृष्टि से तोरण चार प्रकार के होते थे पत्र-तोरण, पुष्प-तोरण, रत्न-तोरण और चित्र-तोरण। पत्र-तोरण में लताऐं और पत्तियाँ बनाई जाती थी, पुष्प-तोरण में अनेक प्रकार के फूल, रत्न-तोरण म मणियो का जडाई का काम होता था, चित्र-तोरण में यक्ष, विद्याधरो के चित्र अकित होते थे। तोरण के ऊपर नारद और उन के 'तुबुर' (वाद्यविशेष) का चित्र होता था। तोरण के ऊपर और अधर भाग में 'मकर' अकित किया जाता था। तोरण के आधार में 'व्यालि' अथवा व्याघ्र की मूर्ति बनाई जाती थी। साधारण 'चित्र-हीन' तोरण भी बनाए जाते थे।

मध्यरग विधान

'मध्यरग' वा 'मुक्तप्रपाग' से तात्पर्य आँगन से है अथवा घिरी हुई ऐसी खुली जगह से, जिस मे किसी उत्सव के लिए लोग एकत्र हो सके। प्राय इस का उपयोग राज्याभिषेक, नाटकादि वा देवमदिरो में उत्सवादि अवसरो के लिए होता था। चारो तरफ से स्तभवाली बारहदरी (शाला) से घिरे हुए लबे-चौडे आँगन के बीच में एक सिंहासन वा मच होता था। इस मे छोटे-छोटे स्तभ (अघ्रि) होते थे। यह सब प्रकार अलकृत होता था।

कल्पवृक्ष

मुक्तप्रपाग, मकरतोरण और मडप के सबध में कल्पवृक्ष का उल्लेख आया है। कल्पवृक्ष से तात्पर्य शोभा के लिए बनाए हुए कल्पित वृक्ष से है। यह शुभ समझा जाता था। इस के विषय मे नाप-जोख 'मानसार' ने ४८वें अध्याय में विस्तार के साथ लिखा है।

राजाओं तथा देवताओं के शिरोभूषण को मौलि कहते थे। आकार और माप के अनुसार 'मानसार' में मौलि के अनेक भेद दिए हैं—जटा, मौलि, किरीट, करड, शिरस्त्रक,

मौलि

कुंतल, केशबंध, धम्मिल, अलक, चूडक, मुकुट, पत्रपट्ट, पुष्पपट्ट और रत्नपट्ट। इन का व्यवहार इस प्रकार 'मानसार' में दिया है —

जटा और मुकुट—ब्रह्मा के लिए। करड और मुकुट—अन्य देवताओं के लिए। किरीट और मुकुट—नारायण के लिए। जटा, मौलि, मुकुट, और कुंतल—रति के लिए। केशबंध और कुंतल—सरस्वती के लिए। करड और मुकुट—अन्य देवियों के लिए। किरीट—सार्वभौम और अधिराजा के लिए। करड—नरेंद्र श्रेणी के राजाओं के लिए। शिरस्त्रक—पार्सनिक राजाओं के लिए अथवा करड और मुकुट—चक्रवर्ती तथा अन्य राजाओं के लिए। पत्रपट्ट—पट्टाधार राजाओं के लिए। रत्नपट्ट—पार्सनिक के लिए। पुष्पपट्ट—पट्टभज राजाओं के लिए। प्राहारक और अस्त्रग्राह राजाओं के लिए केवल पुष्पमाल पहनने की व्यवस्था है। कुंतल और मुकुट चक्रवर्ती की रानी (पट्टमहिषी) के लिए। केशबंध—अधिराजा और नरेंद्र की रानी के लिए। धम्मिल और मुकुट—पार्सनिक, पट्टभज—मंडलेश आदि राजाओंके लिए। अलक और चूडा—प्राहारक और अस्त्रग्राह—राजाओं की रानियों के लिए।

इन भिन्न शिरोभूषण के नाप दिए हैं। साधारणतया मुकुट की ऊँचाई चेहरे की लंबाई की दूनी या तिगुनी होती थी। स्त्रियों के लिए चेहरे की लंबाई की दूनी ऊँचाई (मुकुट की) रखने का नियम था। मुकुट की चौड़ाई (नीचे के भाग की) चेहरे की चौड़ाई के बराबर होती थी। भिन्न भिन्न राजाओं और देवताओं के मौलि का नाप 'मानसार' में दिया है। चक्रवर्ती राजा के मुकुट में ५००, १०००, २०००, या २५०० निष्क (स्वर्णमुद्रा) खर्च होते थे। रानी के मुकुट में इस का आधा लगता था। सब से छोटा मौलि मूल्य की दृष्टि से पट्टभज का होता था। इस का मूल्य १०० से ३०० स्वर्ण मुद्रा होता था। कह नहीं सकते कि यह 'निष्क' संख्या मौलि में लगे सोने की तौल के रूप में थी अथवा मूल्य-रूप में। 'मानसार' में मौलि-लक्षण शीर्षक ४९ अध्याय में 'मौलि'-रचना का विशद वर्णन किया है, जिस से उस समय के कलाकौशल और रुचि का प्रमाण मिलता है।

आभूषण के चार भेद वास्तुविद्या की दृष्टि से 'मानसार' में मिलते हैं। पत्रकल्प, चित्रकल्प, रत्नकल्प और मिश्रीय। पहले तीन देवताओं के लिए। प्रथम चक्रवर्ती राजा के लिए, दूसरा और मिश्रीय अधिराज और नरेंद्र के लिए और मिश्रीय शेष के लिए। आभूषणों के नाम और लक्षण इस प्रकार है। आभूषण दो प्रकार के हैं अंगभूषण और बहिर्भूषण। पहला शरीर के लिए दूसरा शोभा के लिए।

आभूषण

अंग-भूषणों में —

किरीट—सिर के लिए।

शिरोभूषण—सिर के लिए।

चूडामणि—बालों के लिए।

कुंडल—कान के लिए।

ताटंक—कान के लिए।

मकर-भूषण—कान के लिए।

कंकण—कलाई के लिए।

केयूर, कटक—भुजा के लिए।

मणिबंध-कल्प—बाँह के लिए।

किंकिणी-वलय—कलाई के लिए।

अंगुलीयक—उँगली के लिए।

रत्नांगुलीयक—उँगली के लिए।

हार, अर्धहार—गले के लिए।

माला—गले के लिए (यह कंधों पर से लटकती थी)।

वनमाला—गले के लिए (यह बहुत नीचे तक लटकती थी)।

नक्षत्रमाला—गले के लिए (२७ मोतियों की)।

दामन—गले के लिए (गले में सूत्र की भाँति)।

स्तनसूत्र—स्तन के लिए (स्त्रियों के लिए)।

स्वर्णसूत्र—स्तन के लिए (स्त्रियों के लिए)।

पुरसूत्र—वक्षस्थल के लिए।

उदरबंध—कमर के लिए।

कटिसूत्र—कमर (नितंब) के लिए।

मेखला—कमर के लिए।

स्वर्णकंचुक—छाती के लिए (एक प्रकार की चोली का काम देता था)।

नूपुर—टाँग (टखनी) के लिए।

वलय (कड़ा)—टाँग के लिए।

पादजाल भूषण—पैर के लिए (पद के पीठ पर)।

बहिर्भूषण में दीपदंड, व्यजन, दर्पण, मंजूषा, डोला, तुला, पंजर, नीडादि की गणना होती थी।

दीपदंड

दीपदंड दो प्रकार के होते थे—चल और अचल। दीपदंड की ऊँचाई ११, १२ अंगुल से २७, २८ अंगुल तक होती थी। हर्म्य के मुख्यद्वार पर दीपदंड मकान की ऊँचाई के अनुसार होता था, कोई प्रस्तर तक, कोई वेदिका तक, कोई ग्रीव तक, कोई स्तंभदंड तक, कोई नासिक तक, कोई फलक, पद्म, घट अथवा स्तूपिका तक। चौडाई में दीपदंड १, २ अंगुल से ५, ६ अंगुल तक बनता था। यह लकड़ी या लोहे का होता था। लोहा अधिक उपयुक्त समझा जाता था। दीपदंड का ऊपरी भाग पाण्याग्र (हथेली के अग्र भाग) के समान होता था, नीचे का भाग 'पद्मासन' के आकार का। अचल दीपदंड पत्थर का भी बनता था। दीपदंड तरह तरह से अलंकृत किया जाता था।

व्यजन

पंखे (व्यजन) का दंड लोहे या लकड़ी का होता था। पंखा चमड़े का बनता था। इस पर विष्णु या अन्य देवताओं के चित्र बनते थे।

दर्पण

दर्पण ५, ६ अंगुल से २१, २२ अंगुल तक होता था। इस का किनारा १ जौ से नौ जौ तक, क्रमशः मोटा होता था। यह वृत्ताकार होता था। दर्पण स्वच्छ और उसके किनारे पर 'रेखा' अथवा किनारी होना चाहिए। बाहरी ओर (पृष्ठ की ओर) दर्पण में लक्ष्मी का चित्र होना चाहिए। उस में एक मूठ होता था जिसे हाथ में पकड़ कर दर्पण में मुँह देखते थे। यह लकड़ी या लोहे का होता था। वर्णों के अनुसार दर्पण की छोटाई-बड़ाई, तथा बनावट में भेद होता था।

मंजूषा या पेटारी वस्त्रादि रखने के लिए होती थी। यह लकड़ी, लोहे की

बनती थी। इस का आकार चौकोर, समकोण, वृत्ताकार होता था। इस में एक, दो, तीन कोष्ठ होते थे। पर्ण-मजूषा बक्स की तरह होती थी। तेल-मजूषा—तेल रखने के लिए होती थी। वस्त्रमजूषा से तात्पर्य वस्त्रादि की पेटारी से था। इन सब की चौडाई एक से तीन हाथ और ऊँचाई, लबाई उसी के अनुसार रक्खी जाती थी।

मंजूषा

डोला से तात्पर्य झूले से था। यह प्राय देवताओ और राजाओ के काम में आता था। बबई की ओर अभी तक इस का रिवाज है। धनी लोग सुदर से सुदर 'डोला' बनवा कर काम में लाते है। 'मानसार' से पता चलता है कि उस समय डोले की अर्गला लोहे की बनती थी। डोले को अनेक प्रकार से सुदर बनाते थे। 'तुला' उस 'तराजू' को कहते थे जिस पर तौल कर राजा लोग दान देते थे—इसे 'तुलादान' कहते थे। 'तुला-दड' गावदुम होता था—यह लकडी या लोहे का बनता था। इस के कोने पर 'वलय' लगते थे। इस की अर्गला लोहे की और पलरे भी उसी के होते थे। उसे 'पत्र' कहते थे। उस की मेखला वा 'ओष्ठ' से रस्सी बाँध कर दड से लटकाई जाती थी।

डोला और तुला

ऐसा जान पडता है कि उस समय अनेक प्रकार के जानवर तथा पक्षी पाले जाते थे। 'मानसार' ने उन के पिंजरो के बनाने की विधि लिखी है। वह सक्षेप में इस प्रकार है।

पिंजर

नाम पशु-पक्षी	माप पींजरा
मृग-नाभ-विडाल (एक प्रकार की बिल्ली)	१ से दो हाथ
शुक	९ से २३ अगुल तक
चातक	७ से २३ अगुल तक
चकोर	७ से २३ अगुल तक
मराल	७ से २३ अगुल तक
पारावत (कबूतर)	७ से २३ अगुल तक
नीलकठ	२५ से ७३ अगुल तक
कुक्कुट (मुर्ग)	१५ से ३१ अगुल तक
कुलाट	१५ से ३१ अगुल तक

नकुल (नेवला)	११ से २७ अगुल तक
गोधार (गोह)	९ से २५ अगुल तक
व्याघ्र	१½ से ३½ हस्त तक
खजरीट	७ से २३ अगुल तक

पींजरो की बनावट कई आकार की होती थी। एक बात विचारणीय यह है कि 'मानसार' के दिए हुए माप के अनुसार कुछ पींजरे आवश्यकता से अधिक छोटे जान पड़ते हैं। सभव है कि उन के माप का परिमाण अगुल वा हस्त—लबाई में अधिक माना जाता हो अन्यथा इतनी विशदता से वर्णन करने वाला शिल्पशास्त्रज्ञ ऐसी भूल नहीं कर सकता।

लकड़ी आदि जहाँ 'मानसार' के अनुसार हर एक काम में लगती थी वहाँ उस के जोड़ने आदि की विधि देना भी आवश्यक है, इस लिए 'मानसार' में एक अध्याय 'सधिकर्म' से सबध रखता है। साधारणत शहतीर का नीचे का भाग ऊपरी भाग से अधिक मजबूत समझा जाता है। 'मानसार' कहता है कि 'दारु' या शहतीर का चुनाव करते समय इस पर ध्यान रहे कि 'दारु' वक्र न हो, टूटा न हो और न नीचे और ऊपर के भागो में अधिक असमानता हो—अर्थात् समान मोटा हो। 'मानसार' के अनुसार आठ प्रकार के 'सधिकर्म' (जोड़) हो सकते हैं। वे यो हैं —

सधिकर्म-विधान

मल्लबध—दो लकड़ियो का।

ब्रह्मराज—तीन या चार लकड़ियो का।

वेणुपर्व—पाँच लकड़ियो का।

पूगपर्व—छ लकड़ियो का।

देवसधि—सात लकड़ियो का।

कृपिसधि—आठ लकड़ियो का।

इपुपर्व—नौ लकड़ियो का।

दडिका—नौ के ऊपर।

छोटे, बड़े अथवा सम (बराबर) दारु इसी प्रकार जोड़े जाते थे। मल्लबध में एक दारु के मध्य में एक दूसरा दारु खड़ा जोड़ा जाता था अथवा लबाई में एक पर दूसरा रख कर। नद्यावर्त में चौखटे की भाँति चार लकड़ी के टुकड़े समकोण जोड़े जाते थे।

सर्वतोभद्र मे चारो लकडियाँ कुछ झुकी हुई दशा में होती थी। स्वस्तिक-बध में आकार स्वस्तिक की भाँति बनता था। इन बधनो के अतिरिक्त मेपयुद्ध-बध, महाव्रत, सूत्रग्रहण-बध आदि अनेक प्रकार की सधि विधियाँ 'मानसार' ने दी है।

मूर्तियाँ

मूर्तियाँ हिरण्य (सोना), रजत (चाँदी), ताम्र (ताँबा), पत्थर, लकडी, सुधा (चूना आदि), शर्करा, आभास (सगमर्मर) तथा मिट्टी इन नौ द्रव्यो की बनती थी। मूर्तियाँ चल और अचल अर्थात् स्थावर और जगम दोनो प्रकार की बनती थी। स्थावर वा अचल मूर्तियाँ पत्थर वा लकडी की बनाई जाती थी। तीन प्रकार की मूर्तियाँ बनाई जाती थी—चित्राग, अर्ध चित्राग और आभास। 'चित्राग' से तात्पर्य उस मूर्ति से है जिस में अगादि स्पष्ट पूर्णरूप से बने हो। 'अर्ध-चित्राग' में आधा अग स्पष्ट दिखाई पडता है। 'आभास' में केवल चौथाई दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्तियाँ 'दशताल' माप के अनुसार बनती थी, उन की परिचारिकाओ वा शक्तियो की नौ ताल माप के अनुसार। 'लिगविधान' नामक अध्याय में शिवलिग बनाने, उन के माप आदि का सविस्तर वर्णन है—इन के छ भेद किए गए है। शैव, पाशुपत, कालमुख, महाव्रट, वाम और भैरव। ४ वर्णो के अनुसार 'लिग' के चार भेद माने गए है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए क्रमानुसार (१) सस्वरण, (२) वर्धमान, (३) शिवाक और (४) स्वस्तिक। ये 'लिग' आत्मार्थ (अपने घर में पूजने के लिए) और परमार्थ (जन साधारण के लिए) बनते थे। स्थायी रूप से पूजनकार्य के लिए वा 'क्षणिक' प्रयोजन के लिए लिग-रचना होती थी। यजमान (पूजन करने वाले) के हिसाब से 'लिग' की ऊँचाई रक्खी जाती थी। कभी उस के बराबर ऊँची, कभी उस की आँखो, ठुड्डी, नाक, स्कध, आदि की ऊँचाई तक। इस प्रकार नौ प्रकार की ऊँचाई होती थी। लिग और उस की 'पीठ' प्राय एक ही वस्तु की बनाई जाती थी। परतु यदि 'लिग' सोने, चाँदी वा मणि-जटित हो तो 'पीठ' आभास वा सगमर्मर की होती थी।

देवियो की मूर्तियो की रचनाविधि भी 'मानसार' ने दी है। देवियो में सरस्वती, लक्ष्मी, सावित्री, मही, मनोन्मानी (रति) दुर्गा और सप्तमात्री की मूर्तियाँ बनती थी।

शक्तियाँ

सरस्वती के चार हाथ होते थे, वर्ण स्फटिक, दोनो दाहने हाथो में सदर्श (दर्पण?) और अक्षमाला, बाएँ हाथो में पुस्तक और कुडिका। उन के कानो मे 'ग्राहकुडल' होता था। पद्मासन मुद्रा मे पद्म पर

बैठी होना चाहिए। माथे पर भ्रमरक (तिलक) अथवा 'मौक्तिपट्ट' हो। गले में हार अथवा मोतियो की माला। कुचबंध, बाहुमाला, केयूर, कटक, प्रकोष्टवलय आदि आभूषणो से सुसज्जित होना चाहिए। इस प्रकार अन्य देवियो के भी आभूषणादि का उल्लेख किया गया है। 'मही' से तात्पर्य पृथ्वी से है। इस का रग 'श्याम' और इस के एक हाथ में नीलोत्पल और दूसरे में 'दान मुद्रा' होनी चाहिए। मनोन्मानी या 'रति' के तीन आँखो का होना लिखा है और सिर पर जटा होनी चाहिए।

शक्तियो के अतिरिक्त 'मानसार' में जिन, बुद्ध, मुनि, भक्त, वाहन (देवी देवताओ के) गरुड, वृषभ (नदी) सिंहादि के बनाने के लिए माप दिए है जिन से

अन्य मूर्तियाँ

आवश्यक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। विशेष रूप से उन्हे अध्ययन करने की इच्छा रखने वाले को 'मानसार' के ५४ से ६१ तक के अध्यायो को पढने की आवश्यकता होगी।

'मानसार' के अनुसार किसी प्रतिमा की सपूर्ण ऊँचाई नख से शिख तक मानी जाती थी। इस के भाग माने जाते थे और उसी के अनुसार प्रतिमा के समस्त अगो का

दशताल-विधान

निर्माण होता था। दशताल के उत्तम और मध्यम दो वर्ग माने गए है। उत्तम में १२४ भाग, मध्यम में १२० भाग। उदाहरणार्थ उत्तम दशताल के अनुसार किसी मूर्ति का माप यो होगा।

सपूर्ण प्रतिमा के भाग १२४।

उष्णीष से केशात तक	= ४	भाग
केशात से चिबुक तक	= १३	भाग
गला	= ४½	भाग
गले से हृदय तक	= १३½	भाग
हृदय से नाभि तक	= १३½	भाग
नाभि से मेढ्र सीमत (पेडू तक)	= १३½	भाग
जघ से घुटने तक	= २७	भाग
घुटना	= ४	भाग
घुटने के नीचे से टखने तक	= २७	भाग
पैर	= ४	भाग
	१२४	भाग

चेहरे की लंबाई के तीन भाग होने चाहिए। बाँह की लंबाई २७ भाग होनी चाहिए—कोहनी २ भाग, पहुँचा २१ भाग + हाथ १३½ भाग। बिचली अँगुली की लंबाई ६½ भाग, शेष हथेली। पैर की लंबाई १७ भाग, अँगूठे की लंबाई ४½ भाग, उस की आधी चौडाई। इस की आधी नाखून की चौडाई और अँगुली की चौडाई की पौनी नाखून की लंबाई। इस प्रकार 'मानसार' ने शक्तियो की प्रतिमा के लिए मध्यम ताल माप उचित समझा है और इस के अनुसार उस में कुल १२० भाग माने गए है और इस में भिन्न-भिन्न अगो के परिमाण निश्चित किए गए है। ये माप चित्रकारो या मूर्तिकारो के बडे काम के है।

मधूच्छिष्ट-क्रिया

मूर्तियो को ढालने के लिए और मोम की प्रतिमा बनाने की मधूच्छिष्ट-क्रिया कहते थे। मूर्तियो का चुनाव कर के उन पर मोम लगाते थे। मूर्ति के किसी किसी अग को ताम्रपत्र मे भी मढते थे फिर उस पर दो तीन अगुल मोम लगाते थे। इस के ऊपर मिट्टी आदि पोत कर साँचा बनाया जाता था फिर इच्छानुसार उस में मूर्तियाँ ढाली जाती थी।

फुटकर

'मानसार' से पता चलता है कि मूर्तियो के बन जाने के पश्चात् उन की 'नयनोन्मीलन' (नेत्र खोलना)-क्रिया बडे समारोह से होती थी। और मूर्तियों या हर्म्यों के बनाने में बडी सावधानता रक्खी जाती थी। 'मानसार' के एक अध्याय में केवल 'अग-दोष-विधान' लिखा गया है, और वास्तुकार की असावधानी से यदि कोई दोष रह जाय तो उस का क्या फल होता है, यह भी लिखा है। इस से पता चलता है कि अशुद्ध मापने वाले या शास्त्रो के नियमो को उल्लघन करने वाले को भारी पाप लगता था। हिंदुओ को सावधान रखने के लिए उन्हे पाप के भय के अतिरिक्त और कोई अन्य अमोघ उपाय नही मिलता था, जिस का प्रभाव चिरस्थायी रह सके।

अन्य उपयोगी बातें

राजाओ के प्रासाद, मुकुट आदि के लक्षण लिखने समय मानसार ऋषि ने राजाओ के विषय में कुछ ऐसी बाते भी लिखी है जो यद्यपि 'मानसार' शिल्पशास्त्र के काम की नही परतु उन से तत्कालीन राज्यव्यवस्था तथा सभ्यता के विषय में कुछ उपयोगी ज्ञान प्राप्त होता है। 'मानसार' के ४१वें और ४२वें अध्याय का साराश यो है—राजा को, चार वेद, उस के छओ अग

(शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष) शास्त्र, अस्त्रशास्त्र, दर्शन, आदि का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। वह धीरोदात्त हो, धीरललित हो, धीरोद्धत हो। राज्य के विषय में उसे स्वयं सब ज्ञान होना चाहिए। उसे स्वयं योद्धा होना चाहिए। राजाओं के नौ भेद हैं—(१) चक्रवर्तिन्, (२) महाराज (अधिराज), (३) महेंद्र (नरेंद्र), (४) पार्षणिक, (५) पट्टाधार, (६) मंडलेश, (७) पट्टभज, (८) प्रहारक, और (९) अस्त्रग्राहिन्। इन में 'अस्त्रग्राहिन्' सब से छोटा होता था। उन की सेनादि का उल्लेख यों हुआ है।

(१) अस्त्रग्राह—५०० अश्व, ५०० गज, ५०,००० पदातिक, ५०० वरांगना और १ महिषी (रानी)।

(२) प्रहारक—६०० अश्व, ६०० गज, १००,००० सैनिक, ७०० वरांगना और दो महिषियाँ।

(३) पट्टभज—८०० अश्व, ८०० गज, १५०,००० पदातिक, १००० वरांगना और तीन रानियाँ।

(४) मंडलेश—१००० अश्व, १००० गज, २ लाख सैनिक, १५०० वरांगना और चार रानियाँ।

(५) पट्टाधार—१५०० अश्व, १२०० गज, २ लाख सेना, दो सहस्र वरांगना और पाँच रानियाँ।

(६) पार्षणिक—२००० अश्व, १५०० गज, ४ लाख सैनिक, ३ हजार वरांगना और ६ रानियाँ।

(७) महेंद्र या नरेंद्र—१०,००० अश्व, कई सहस्र गज, १ कोटि सेना, ५०,००० वरांगना, और १० रानियाँ।

(८) अधिराज वा महाराज—१ कोटि अश्व, १०,००० गज दस कोटि पदातिक (तत्रक्रम्), दस लाख मरण्य (वह स्त्री जो राजा के साथ मरने को तैयार हो) और १००० रानियाँ।

(९) चक्रवर्ती—१ अर्बुद (दस करोड़) अश्व, १ नर्बुद (सौ करोड़) गज, १ महासत्त्व सैनिक, १ पद्म गणिका और एक परार्ध पट्टमहिषी। यह सब से बड़ा और सब का स्वामी होता था।

चारो दिशाओ का जीतने वाला चक्रवर्ती माना जाता था। अधिराजा सात देशा का नायक होता था। नरेंद्र तीन राज्य का अधिपति माना जाता था। इन से छोटे पार्ष्णिक पट्टधार, पट्टभज आदि होते थे। इन के पद और श्रेणी के अनुसार उन के पास सिहासन चमर, छत्र आदि राजलक्षणो का नियम भी 'मानसार' ने दिया है। एक बात जानने की यह है कि यह आवश्यक नही था कि राजा क्षत्रिय ही हो। चारो वर्णो के लोग राजा होते थे यहाँ तक कि 'मानसार के अनुसार 'प्रहारक' नृप शूद्र ही होना था।

प्रजा से कर की व्यवस्था भी प्रसगवश मानसार ने दे दिया है—चक्रवर्ती १/१० कर लेना था, महाराज उपज का षष्ठांश १/६ और नरेंद्र १/५, पार्ष्णिक १/४, पट्टधार १/३ इसी प्रकार और भी। ऐसा जान पडता है कि 'मानसार के समय में भारत की राजनैतिक व्यवस्था बहुत अच्छी थी। न्याय और दड का उचित विधान था—साधु महात्माओ और ब्राह्मणो आदि को राज्य से सहायता मिलती थी। मदिरो, धर्मशालाओ आदि की देख-रेख राजा की ओर से होती थी।

वयणसगाई

[लेखक—श्रीयुत सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०]

"इण भाखा आवै अवस, वंणसगाई वेस।"

(मुरारिदान)

राजस्थानी साहित्य के मध्यकाल मे काव्यभाषा डिंगळ का प्राधान्य रहा। यह बोलचाल की भाषा नही थी, कृत्रिम काव्य-भाषा थी जिस का चारण, ढोली भाट आदि कवि अपने काव्यो में प्रयोग करते थे। डिंगळ का साहित्य-भडार बहुत विस्तृत है और वह मुख्यत शृगार और वीररसात्मक है। महाकाव्य, खडकाव्य, लोक-गीत, ऐतिहासिक महापुरुषो के गीत, धार्मिक स्तोत्र आदि का इस में अखूट भडार भरा है। मुख्यत गीत-साहित्य अधिक है। सयुक्त-वर्ण और द्वित्व-प्रयोग इस की विशेषताए है, जिन के कारण यह भाषा समझने में दुरूह और उच्चारण मे कठिन हो गई है। विक्रम की बारहवी शताब्दी से उन्नीसवी शताब्दी तक डिंगळ काव्य का अनुक्रम विकास-सूत्र मिलता है। प्रधान रचनाओ में श्रीधर-कृत 'रणमल्ल छद' (वि० स० १४५५ के लगभग) 'खीची अचलदास री वचनिका' (वि० स० १४७०) 'छद राउ जइतसीरउ' (स० १५९० के लगभग), 'वेलि क्रिसन-रुक्मणी री' (स० १६३७), 'राव रतनदास महेसदासोत री वचनिका' (स० १७१५), 'वरालपुर-गढ-विजय' (स० १७६९) 'सूरज-प्रकाश', गोपीनाथ गाडण कृत 'ग्रथराज' (स० १८०० के लगभग) आदि उल्लेखनीय है। शृगाररस में म० पृथ्वीराज कृत 'वेलि क्रिसन-रुक्मणी री' और वीररस में वीठू सूजोकृत 'राउ जइतसी-रउ छद' उत्कृष्ट रचनाएँ है।

काव्य-भाषा डिंगळ की सबसे बडी विचित्रता वयणसगाई का प्रयोग है। प्राय सभी डिंगळ ग्रथो में वयणसगाई का निर्वाह हुआ है। 'वयणसगाई' का अर्थ है वर्णों की मित्रता। इसे दूसरे शब्दो मे अक्षर-साम्य भी कह सकते है। डिंगळ भाषा का

वयण-सगाई व्यापक और अनिवार्य अलंकार है जो छंद के प्रत्येक चरण में पाया जाता है। रीति-ग्रंथो में इस के महत्त्व के सम्बन्ध मे लिखा है—

आवै इण भाखा अमल, वेंगसगाई वेस।
दगध अगण वद दुगणरो, लागत नहिं ल्वलेस॥

(रघुनाथ-रूपक)

[इस भाषा (डिंगळ) में वयणसगाई का प्रयोग होता है, जिस के नियमानुकूल निर्वाह से दग्धाक्षर, गणदोष आदि का भी लवलेश मात्र दोष नही लगता।]

वयणसगाई के सम्यक् निर्वाह के लिए डिंगळ के रीतिग्रंथो में नियम बने हुए है। चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर के साथ उसी चरण के अंतिम शब्द के प्रथम अक्षर का अक्षर-साम्य अथवा अनुप्रास संघटित होने को वयणसगाई कहते है।

उदाहरण—

खूंन कियां जीमे खलक, हाड थेर जो होय।
वयणसगाई वरणतो, कळपत रहे न कोय॥

(रघु०)

ऊपर के दोहे के चारो चरणो मे क्रमश खून-खल्क, हाड-होय, वयणसगाई-वरण, कल्पत-कोय में उत्तम प्रकार की वयणसगाई का निर्वाह हुआ है।

साधारणत समान अक्षरो की आवृत्ति से वयणसगाई सिद्ध होती है और वह उत्तम कोटि की गिनी जाती है, परन्तु कही कही भिन्न परंतु समान ध्वनि वाले वर्णों मे भी वयणसगाई घटित होती है। वर्णों का यह पारस्परिक संबंध-निरूपण इस प्रकार किया गया है। इसे अखरोट कहा गया है।

चौपाई

आई ऊए यव मित आणो,
जझ, बव, पफ, नण, गघ विध जाणो।
तट, धद, दड, धढ मछ जतावे,
वेंदग ए अखरोट यतावे॥

(रघु० १।३५)

दोहा

अक्षराद पट बरण अे, जुग जुग अवर सु जाण।
इधक और सम न्यून इम, जित तीनू पहिचाण॥

(रघु० १।३६)

[आ ई ऊ ए य व ये छ मित्र-वर्ण है। जझ, बव, पफ, नण, गघ तट, घढ, दड, चछ इन के जोडे है। कवि लोग इस को 'अखरोट' कहते है।]

आद तिको इज अत में, इधक सु खुलतो अक।
अक्षरादि कहिया इता, सम अखरोट असक॥

(रघु० १।३७)

जझ बवादि आपर जिके, आंणे सुकवि उमाह।
ताहि मछ कवि कहत है, नून मित्र नरनाह॥

(रघु० १।३८)

[जो वर्ण चरण के प्रथम शब्द के आदि मे और वही अत के शब्द का प्रथम अक्षर हो, उसे 'इधक' अर्थात् अधिक वयणसगाई कहेगे। आ ई ऊ ए य व इन छ मित्र-वर्णों मे से किसी का किसी के साथ अक्षर-साम्य हो तो उसे 'सम' वयणसगाई कहेंगे और जझ, बव, पफ, नण, गघ, तट, धढ, दड, चछ आदि जोडो मे अक्षर-साम्य हो तो उसे 'न्यून' वयणसगाई कहेगे।]

ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के मित्रवर्णों के आदि, मध्य और अत में रखने के प्रकार-भेद से भी क्रमश, अधिक, सम, और न्यून वयणसगाई बनती है। अक्षरो को स्थान के अनुसार रखने की इस विधि को 'अखरोट' कहा गया है।

वरण मित्त जू धरण विध, कवियण तीन कहत।
आद इधक सम मध अवर, अक न्यून सो अंत॥

(रघु० १।३९)

इन के उदाहरण नीचे दिए जाते है —

विकट करो तीरथ बरत, धरा भेष के धार।
विना नाम रघुवीर रे, परत न उतरै पार॥

(रघु० १।४०)

इस में चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर का चरण के अन्तिम शब्द के प्रथम अक्षर के साथ अक्षर-साम्य है—यथा, विकट-वरन, धरा-धार, विना-वीर, परन-पार। अतएव इसे अधिक अर्थात् उत्तम अलगोट कहेंगे।

सम अल्वरोट—उदाहरण—

> नाम लियां थी मानवां, सलवै कलुष दिमाळ।
> महि 'जैसे मेटै तिमर, रस अपरस किरणाळ॥
>
> (रघु० १।४१)

इस में चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर का चरण के अन्तिम शब्द के मध्यवर्ती अक्षर के साथ साम्य है, यथा—नाम-मानवाँ, सलवै-विमाळ, महि तिमर, रस-किरणाल। इसे सम अल्वरोट कहा गया है।

न्यून अल्वरोट—उदाहरण—

> मरद जिके ससार में, लपजै जीव विमाल।
> रान दिवस रघुनाथ रा, लेवै नाम रसाल॥
>
> (रघु० १।४२)

यहाँ पर चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर का चरण के अन्तिम शब्द के अन्तिम अक्षर के साथ अक्षर-साम्य है। यथा,—मरद में, लपजै विमाल, रान-रघुनाथरा, लेवै-रसाल। इसे न्यून अलगोट कहा है।

इन तीनों भेदों से भिन्न वयणसगाई का एक चौथा भेद भी उपलब्ध होता है। उसे 'अरधमेल अल्वरोट' अथवा अनन्य वयणसगाई कहते हैं। उदाहरण—

> अरधमेळ अल्वरोट इम, चल्लुक किणि कवि चाल।
> नाम हेक नर राम रै, किता कटै जग जाळ॥
>
> (रघु० १।४३)

अथवा—

> संमवतनि सुरपनि, जोवण न जाप्रनि।
>
> (वेलि, छंद १५, प्रथम चरण)

यहाँ पर चरण को दो पृथक् विभागों में विभक्त कर के साधारण नियम के अनुसार दो वयणसगाई उपस्थित की गई है, जिस से यह चमत्कार प्रतीत होता है मानो चरण

एक नहीं, दो हैं। यथा,—नाम-नर, राम-रै, किता-वटै, जग-जाल, संसव-सुपपति, जोवण-जाग्रति।

डिंगळ में छद के चरण या पाद को 'मोहरा' कहते हैं। किसी छद के चरणों को सम, अर्धसम अथवा विषम रीति से रखने के ढग को 'मोहरामेल' अर्थात् चरण-साम्य कहा गया है। 'मोहरामेल' भी तीन प्रकार का होता है—अधिक, सम, और न्यून। जिस छद के सभी चरणो में 'अधिक' प्रकार की वर्णमैत्री और 'अधिक' प्रकार की ही अखरोट हो, उसे 'अधिक मोहरामेल' कहते हैं। जिस के चार चरणो मे से दो-दो एक समान हो, अर्थात् दो-दो मे एक ही प्रकार की वर्णमैत्री और अखरोट हो उसे 'सम मोहरामेल' कहते है, और जो इन दोनो भेदो से पृथक हो अर्थात् जिस में तीन चरण तो एक समान हो, और चौथा भिन्न हो, उसे न्यून कोटि का मोहरामेल कहते हैं।

मोहरा-मेल

अधिक मोहरामेल—उदाहरण—

> वारज द्रग वारज धरण, गहर धरण गुणगाय।
> करुणानिध अकरण करण, नमो नमो रघुनाथ॥

(रघु० १।४५)

यहाँ पर छद के चारो चरणो में अधिक वर्णमैत्री और अधिक अखरोट का प्रयोग हुआ है। सभी चरणो की यह समता 'अधिक मोहरामेल' कहलाती है।

सम मोहरामेल—उदाहरण—

> तिरयो चहं भव पार तो, उवर धार हर एक।
> तिण रै नाम-प्रताप-थी, उधरै जीव अनेक॥

(रघु० १।४६)

इस उदाहरण के प्रथम और तृतीय चरणो में 'अधिक' वर्णमैत्री और 'न्यून' अखरोट है। अतएव इन दो चरणो का समान जोडा हुआ। इसी प्रकार द्वितीय और चतुर्थ चरणो में 'सम' कोटि की वर्णमैत्री और 'अधिक' कोटि की अखरोट है। अतएव इन का भी जोडा हुआ। चरणो की यह अर्द्धसमता 'सम मोहरामेल' कहलाती है।

न्यून मोहरामेल—उदाहरण—

गुणा करे रीझव गुणी, कोसल राजवँवार।
जिकण जिसो फिर जगत में, अवर न कोय उदार ॥
(रघु० १।४७)

इस उदाहरण में वर्णमैत्री की दृष्टि से प्रथम, द्वितीय, तृतीय चरण तो 'अधिक' है और चौथा 'सम' है। अखरोट की दृष्टि से पहला, तीसरा, चौथा 'अधिक' है और दूसरा 'सम' है। वर्णमैत्री और अखरोट दोनो की दृष्टि से तीन चरण एक समान है और चौथा भिन्न है। चरणो की यह विषमता 'न्यून मोहरामेल' कहलाती है।

यह तो वयणसगाई के सबध में शास्त्रीय नियम निर्देश हुआ। साधारणत डिंगळ कवियो मे इसका पालन सर्वत्र देखा जाता है। परतु जहाँ नियम है, वहाँ अपवाद भी है। कही-कही कवियो ने नियमो की जटिलता को तोड कर अपनी स्वच्छदवृत्ति का परिचय भी दिया है। सक्षेप में कुछ अपवादो का यहाँ उल्लेख कर देना भी अप्रासगिक न होगा।

अपवाद

(१) यदि कोई चरण क्रियाविशेषण, अव्यय, सर्वनाम अव्यय, समुच्चय-बोधक अव्यय, अथवा अन्य किसी अव्यय या उपसर्ग अथवा कारक चिन्ह से प्रारभ हो तो वह अव्यय अथवा उपसर्ग अथवा कारक-चिन्ह चरण का प्रथम शब्द न समझा जायगा, वह सज्ञा, जिस का कि वह अगीभूत अग है प्रथम शब्द मानी जायगी और इस सज्ञा के प्रथम अक्षर की वयणसगाई साधारण नियमानुसार चरण के अतिम शब्द के प्रथम अक्षर के साथ घटित होगी।

यथा—

फिरि वैकुण्ठ अयोध्यावासी
(वलि, छद १०६ तृतीय चरण)

यहाँ पर 'फिरि' अव्यय 'वैकुण्ठ' सज्ञा से सबध रखता है। अतएव 'वैकुण्ठ' शब्द प्रथम माना जा कर उस की वयणसगाई अतिम शब्द (अयोध्यावासी) का प्रथम अक्षर (अ) अथवा मध्यवर्ती (व) के साथ सघटित हुई है।

इसी प्रकार के और भी उदाहरण हैं, जैसे—

(१) किरि नीपायौ तवि नीकुटिअे ।

(वेलि, छंद ११० तृतीय चरण)

(२) तिणि आपही करायो आदर ।

(वेलि, छंद १६८ तृतीय चरण)

(३) जिम तिणगार अकीधै सोहति ।

(वेलि, छंद २२८ तृतीय चरण)

(४) करि परिवार सकल पहिरायौ ।

(वेलि, छंद २३७ तृतीय चरण)

(२) डिंगळ भाषा में संज्ञा का कारक-चिन्ह संस्कृत, बंगला, इत्यादि संयोगात्मक भाषाओं की तरह उस का अभिन्न भाग ही गिना जाता है। अतएव यदि चरण के अंतिम शब्द के स्थान पर कोई कारक-चिन्ह अथवा उपसर्ग हो तो वह संज्ञा का अभिन्न भाग ही गिना जाता है और वयणसगाई उस संज्ञा शब्द के प्रथम अक्षर के साथ संघटित होती है।

यथा,—

अम्ब जात्र अम्बिका-तणी ।

(वेलि, छंद ७९ चतुर्थ चरण)

यहाँ पर 'तणी' पृथक् शब्द न गिना जा कर 'अम्बिकातणी' समस्त पद गिना गया है।

(३) कहीं कहीं चरणों में वयणसगाई न होने पर भी उस का अभाव इसलिए नहीं अखरता कि उस छंद में अथवा उस चरण में कवि ने पर्याप्त रूप में शब्दानुप्रास का अन्य रीतिसे उपयोग किया है

यथा,—

सरा मास सभापति सरस सौध रति ।

(वेलि, छंद २२९ प्रथम चरण)

वयणसगाई के प्रयोग से काव्य का भाषा-संबंधी बाह्य सौंदर्य अवश्य

कालिदास के ग्रंथों में वर्णित भारतीय शासनपद्धति

[लेखक—श्रीयुत भगवत शरण उपाध्याय, एम्० ए०]

(क्रमागत)

राजधानी साम्राज्य-शासन का हृदय थी। यही से सारे शासन-सूत्र सर्वत्र फैले हुए थे। इस कारण इसे मूल कहते थे। यह शासन रूप अश्वत्थ का वास्तव में मूल[1] थी जहाँ से यह वृक्ष अपना भोजन पाता था। शासन का प्राण रूप राजा यही वास करता था और राजधानी का शासन एक प्रकार से उस की दृष्टि के सामने ही होता था। यही साम्राज्य का न्यायमंदिर था जहाँ सारे साम्राज्य के नागरिकों के अभियोग सुनने, आवेदनपत्र ग्रहण करने और उचित न्याय करने म कठिन परिश्रमी भारतीय सम्राट् सारा दिन व्यस्त रहता था।[2]

राजधानी

राजसभा की श्री अनेक सामंतराजाओं की उपस्थिति से, जो साम्राज्य के कितने ही उच्च पदों को सुशोभित करते थे, और भी कांतिमती हो जाती थी। कालिदास की राजसभा के वर्णन से प्रतीत होता है कि दरबार मुगल दरबारों की द्युति धारण करता था। साम्राज्य के उच्च पदाधिकारों के निमित्त सामंतराजाओं के बडे बडे प्रयत्न होते होंगे, बडे बडे षड्यंत्र रचे जाते होंगे। उन की इस चेष्टा से उन के दमन में सम्राट् को बडी सहायता मिलती होगी।

अमात्यपरिषद् के राजधानी में होने से विदित होता है कि अधिकरणाध्यक्षों

---

[1] स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वित ।
रघुवंश, ४।२६

[2] स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीय कृत्वोपभोगोत्सुकमेव लक्ष्म्या ॥
रघुवंश, १४।२४

के हेडक्वार्टर राजा के दृष्टि-पथ के अंतर्गत ही थे। राजधानी की रक्षा का साधारण भार 'नागरिक' (अर्थशास्त्र का पौर) के ऊपर निर्भर था जो कि पुलीस विभाग का अध्यक्ष था और रात्रि के उपद्रवियों को दंड से शांत करता था।

जब राजा दिग्विजय या अन्य कार्यवश राजधानी छोड़ कर राज्य के बाहर जाता था उस समय राजधानी (मूल) और सीमाप्रांत (प्रत्यंत) की रक्षा का प्रबंध कर[1] राज्यशासन की बागडोर सचिवों के हाथ में छोड़ जाता था।[2]

नगर एक प्रबल प्राकार से परिवेष्टित था और इस परिवेष्टन के चतुर्दिक एक चौड़ी, गहरी खाई[3] बराबर जल से भरी रहती थी। उस समय, जब कि दुर्ग रक्षा का एक प्रबल आश्रय था, नगर, प्राकार और खाईं बाहरी आक्रमणकारियों के मार्ग में भारी अवरोध सिद्ध होते थे।

राजधानी का शासन साम्राज्यांतर्गत अन्य नगरों के लिए एक आदर्श था जिस का वे अनुकरण करते थे। विदिशा नगरी की भाँति वाइसरायों की भी राजधानियाँ थीं, जिन का शासन मुख्य राजधानी के अनुरूप ही होता था। देश में जल और स्थल मार्गों से बहुत व्यापार होने के कारण[4] यह कहा जा सकता है कि सामुद्रिक नगर अथवा बंदरगाह भी साम्राज्य में काफी रहे होंगे।

---

[1] रघुवंश, ४।२६

[2] तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे।
रघुवंश, १।३४

...राजर्षिममात्येषु निवेशित राज्यधुरम्।
विक्रमोर्वशीयम्, ४

स्वन्मति केवला तावत्परिपालयतु प्रजा।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

[3] श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्संगमोत्सुकः।
महार्णवपरिक्षेपं लंकायाः परिखालघुम्॥
रघुवंश, १२।६६

तथैव
स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम्।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव॥
रघुवंश १।३०

[4] अमात्य पिशुन की अर्थ-संबंधी सूचना।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

राजप्रासाद आभ्यतर[1] और बाह्य कक्षो से भरा एक बहुत बडा स्थान था। राजप्रासादो के विमानपरिच्छद, मणिहर्म्य, देवच्छदक, अभ्रंलिहाग्र आदि जितने ही नाम रक्खे जाते थे जिन से उन की वृहती स्थित का पता सरलता से चल सकता है। 'विक्रमोर्वशीय', 'मालविकाग्निमित्र', 'अभिज्ञानशाकुतल' और 'मेघदूत' से इन नामो का पता चलता है। इन प्रासादो में अनेकानेक छोटे बडे कमरे होते। उन में एक को अग्निशरण[2] अथवा अग्न्यागार कहा गया है जो शायद आधुनिक ड्राइग रूम की भाँति व्यवहृत होता था। इस में अग्नि रक्खी जाती थी। परतु ऊँचे बरामदे वाला यह अग्न्यागार आजकल का साधारण ड्राइग रूम नही था वरन् वह स्थान था जहाँ विशेष कार्यों के निमित्त राजा वैद्यो और तपस्वियो से मिलता था। यह उस प्रकार का कमरा नही था जिस में सर्दी के मौसम में राजा शीत शात करता वरन् इस में गार्हस्थ्य अग्नि निरतर प्रज्वलित रक्खी जाती थी। यदि ऐसा न होता तो वहाँ बँधी यज्ञ सबधी गौ (होमार्थ धेनु)[3] की क्या आवश्यकता थी?

राजप्रासाद

इन राजप्रासादो के अपने वन्यपशुओ को रखने के लिए उपवन भी थे, जहाँ पिंगल, कपि[4] आदि रक्खे जाते थे।

राजप्रासाद की रक्षा एक सुसगठित रक्षकसैन्य द्वारा होती थी। इन को 'अवरोधरक्षक'[5] कहते थे। दिल्ली के मुस्लिम शासको के हरम की तातारी बाँदियो की भाँति कालिदास के समय के हिंदू राजप्रासाद के अवरोधगृहो की रक्षा भी विदेशी स्त्रियो द्वारा होती थी। ये दासी रूप में हिंदू राजाओ द्वारा क्रय की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में हिंदू राजा इन को अतपुर की रक्षा के लिए बराबर नियुक्त

---

[1] या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञ.।
अभिज्ञानशाकुतल, ५।३

[2] अग्निशरणमार्गमादेशय।
वही।

[3] अग्न्यागारतः कार्यम्पश्येद्वंद्यतपस्विनाम्—भाष्यकार।

[4] कुमारी वसुलक्ष्मी. कन्दुकमनुधावन्ती पिंगलवानरेण...
मालविकाग्निमित्र, ४

[5] दुकूलवासाः स वधूसमीप निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः।
रघुवंश, ७।१९

करते थे। विशेष कर ये 'यवनी' राजा के शस्त्रास्त्रों को वहन करती थी। 'यवन' शब्द से यूनानियों अथवा अयोनियनों (तातारा अथवा वैक्ट्रियनों) का बोध होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन यवनियों का उल्लेख हुआ है। उस में लिखा है कि आखेट के समय शस्त्रास्त्रों से मुसज्जित वे राजा को चतुर्दिक घेरे रहें और प्रातःकाल शय्या छोड़ते समय राजा उन्हीं का मुख देख कर उठे। यवनी शब्द का कालिदास द्वारा उल्लेख एक प्रकार से और मुख्यता रखता है। यूनानी राजदूत मेगस्थेनीज के लेखों से विदित होता है कि जब सम्राट् चंद्रगुप्त राजप्रासाद से बाहर निकल कर नगर के राजमार्ग पर घूमता था तब उस की पालकी धनुर्बाण-ग्राहिणी यवनियों द्वारा घिरी रहती थी। कालिदास ने भी उन को सदा अस्त्रों से सुसज्जित[1] ही लिखा है। समय समय पर इन यवनियों ने राजा की प्रेयसी का भी आचरण किया होगा क्योंकि विदेशी ग्रीक नारियों का शरीर-गठन दुर्बल काश्मीर-कुसुम से कुछ कम आकर्षक नहीं होता।

राजप्रासाद का चार्ज कंचुकी अथवा प्रतीहार के अधीन था। उस की नियुक्ति असाधारण थी। पर्याप्त वयस का बड़ा ईमानदार, सत्यवादी और असाधारण शीलाचरण-पूत राजसेवक ही इस भार को वहन करने के लिए चुना जाता था। राजा के अवरोधगृहों में सिवा प्रतीहार के और किसी पुरुष के प्रवेश करने की आज्ञा नहीं थी। इस प्रकार यह कार्य बड़ी जिम्मेदारी का था। कालिदास के नाटकों में उस का प्रवेश असाधारण सा होता है। वह शांतिप्रिय और विचारशील व्यक्ति वृद्धावस्था के नाना कष्टों का स्मरण कराता हुआ आता है और वयस से प्राप्त उस की प्रशांत मुद्रा पाठकों पर असाधारण प्रभाव डालती है। नियुक्ति के समय वह बड़ा बलवान होता था परंतु क्रमशः वयस की वृद्धि के साथ साथ वह दुर्बल होता जाता था, फिर भी शील, सत्यता और आचार पर ध्यान देते हुए यह कहा जा सकता है कि अपने पद के लिए उस की योग्यता और भी बढ़ती जाती थी। इसी कारण वृद्धावस्था में भी उस को अपने अधिकार से छुट्टी नहीं मिलती थी। यह बात उस की उक्ति से स्पष्ट हो जाती है—"प्रत्येक गृहस्थ प्रारंभिक जीवन में

---

[1] धनुर्ग्राहिणी यवनी
विक्रमोर्वशीयम्, ५
एषा बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिः
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २

धन अर्जन करने का उद्योग करता है और जब उस का गार्हस्थ्य-भार उस के पुत्र ग्रहण कर लेते हैं तब वह शांतिपूर्वक विश्राम करता है, परंतु हमारी वृद्धावस्था शरीर को जीर्ण करती हुई सेवा में ही संलग्न रहती है। हा शोक! अवरोधगृहों में (स्त्रीसमुदाय का) सेवा-कार्य बड़ा कष्टकर होता है।"[1] इस प्रकार वह स्त्रियों की रक्षा और उन के प्रबंध के लिए नियुक्त होता था और इस रूप में वह अशोक के शिलालेखों के 'स्त्र्याध्यक्ष' संज्ञा वाले पदाधिकारी से कुछ कुछ मिलता है।[2] राजा उस का बड़े आदर के साथ संबोधन करता है और उस के संबंध में 'भवान्' सर्वनाम का प्रयोग करता है।

वह राजप्रासाद के सारे कर्मचारियों का अध्यक्ष था और इस हेतु सत्तास्वरूप एक वेत्रदंड धारण करता था।[3] 'अभिज्ञानशाकुंतल' के द्वितीय अंक के 'दौवारिक' की भाँति वेत्रयष्टि हाथ में धारण किए द्वार में खड़े दौवारिकों की अनेक सुंदर सौम्य मूर्तियाँ मथुरा के पुरातत्व-संबंधी कर्ज़न म्यूज़ियम में देखने में आती हैं।

पुलीस विभाग का अध्यक्ष 'नागरिक' था जिस के नीचे नगर के सारे 'रक्षक' कार्य करते थे। मध्यकाल के कोष्ठपाल की भाँति वह नगर का रक्षा-भार वहन करता था।

पुलीस-विभाग

'अभिज्ञानशाकुंतल' के छठे अंक में यह नागरिक अभियुक्त को न्याय-मंदिर में दंडार्थ ले जाता है। अभियुक्त को नागरिक के अधीनस्थ रक्षक या पुलीस कांस्टेबुल पकड़ कर ले जाते हैं। यही रात्रि में पहरेदारों

---

[1] सर्वः कल्पे वयसि यतते लब्धमर्थान्कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय।
अस्माकं तु प्रतिदिनमियं सादयंती प्रतिष्ठां
सेवा कारापरिणतिरभूत्स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः॥
विक्रमोर्वशीयम्, ३।१

[2] अथा व्यापता धम्ममहामाता च इथीझख महामाता च वचभूमिका च...
अशोक के चतुर्दश शिलालेख,
(शहबाजगढ़ी संस्करण)

[3] आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।३

का कार्य भी करते होगे। 'विक्रमोर्वशीय' के अनुसार नागरिक का सबध नगर के शासन से है। परतु वहाँ भी वह पुलीस के योग्य कार्य सौंपा गया है। वहाँ भी वह एक चोर पक्षी के पीछे भेजा जाता है। वहाँ नागरिक शब्द का बहुवचन मे प्रयोग इस बात को सिद्ध करता है कि नागरिक अपने सारे समुदाय के साथ 'नागरिका' कहलाता था।[1] 'अभिज्ञानशाकुतल' मे हमारा जिन अभियुक्त 'रक्षको' से साक्षात् होता है वे अपने चरित्र और इच्छा में ठीक आज कल के कास्टेबुलो की तरह प्रतीत होते हैं। उन में से एक के हाथ अभियुक्त के वधार्थ फूल बाधने के लिए प्रस्फुटित[2] होते हैं परतु ज्योही अभियुक्त पुरस्कृत कर के छोडा जाता है उन में से एक उस के द्रव्य को ईर्ष्यापूर्वक[3] देखता है और चातुरी भरे शब्दो में कहता है कि नागरिक ने धीवर का कार्य खूब बनाया है। इस पर धीवर उन को अपने पुरस्कार-द्रव्य का आधा उन के 'सुमनमूल्य'[4] (आज कल के 'पान खाने के लिए' की तरह) के अर्थ देना है, जिसे रक्षक बहुत उचित समझते हैं[5] और स्वय नागरिक कहता है "धीवर, तुम महत्तर हो। आज से तुम मेरे परम मित्र हुए। इस मित्रता का साक्षी मदिरा होगी। अत हम लोग मदिरा की दूकान पर चलें।"[6] ऊपर के उद्धरणो से यह स्पष्ट है कि पुलीस का आचरण बहुत उच्च नहीं था। यदि वे घूसखोर नहीं थे तो कम से कम पुरस्कार ग्रहण करते थे। मदिरा की तृष्णा उन में बडी बलवती थी।

परतु जब तक अभियुक्त का अभियोग सुन कर अदालत अपना निर्णय नही दे देती तब तक उस के प्रति रक्षको का आचरण बडा कठोर रहता था। न्याय के सिद्धातो

---

[1] मद्वचनादुच्यन्ता नागरिकाः साय निवासवृक्षाग्रे विचीयतां विहगाधम ।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

[2] जानुक, प्रस्फुटतो मम हस्तावस्य वधार्थं सुमनसः पिनद्धुम् ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

[3] इति पुरुषमसूयया पश्यति ।
वही ।

[4] भट्टारक, इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु ।
वही ।

[5] एतावद्युज्यते ।
वही ।

[6] धीवर, महत्तरस्त्वं प्रियवयस्क इदानीं मे सवृत्तः। कादम्बरी सक्षित्वमस्माकं प्रथमशोभितमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः।
वही ।

को विफल करने के लिए वे घूस नहीं खाते थे। जो द्रव्य रक्षकों ने धीवर से लिया था उस को घूस नहीं कहा जा सकता क्योंकि तब तक अभियुक्त का आचरण जाँचा जा कर उचित पाया जा चुका था। उसे न्यायालय ने मुक्त कर दिया था। बाद जो द्रव्य उन्हों ने ग्रहण किया था वह एक प्रकार की छूटने की खुशी में बखशीश थी। यदि यही द्रव्य उन्हों ने अभियोग सुने जाने के पहले लिया होता तो इसे घूस कहते और उस दशा में उन का आचरण न्याय के विपरीत होता। इस से न्याय का हनन हो जाता। फिर भी तब की पुलीस का यह आचरण क्षम्य और सराहनीय नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्याश्रम में शास्त्रों के मनन से राजा 'व्यवहार' का पंडित हो जाता था। दंडविधान में व्यवहार का पूर्ण ज्ञान अनिवार्य था। अभियुक्त को उस के दुष्कर्म के अनुसार ही दंड देना था। यह तभी हो सकता था जब व्यवहार ग्रंथों के निदध्यासन से शास्त्रों में बुद्धि अकुंठित होती। इस प्रकार यथापराधदंड[1] में न्याय की नींव, व्यवहार, का पांडित्य राजा प्राप्त करता था। राजा एक प्रकार से व्यवहार का रक्षक मात्र था। न्यायार्थ दंड में वह व्यवहार का प्रयोग करता था। राजा व्यवहार का उद्गम नहीं केवल 'व्यावहारिक' मात्र था क्योंकि कालिदास के सारे ग्रंथों में अथवा सारे संस्कृत साहित्य में हम कहीं राजा का संबंध व्यवहार-निर्माण से नहीं पाते। जैसा वह व्यवहार को नीति-शास्त्रों में पाता था वैसा ही वह उस का प्रयोग करता था। सर्वत्र वह प्रजा का शास्त्रानुसार रक्षक बनाया गया है। व्यवहार के उद्गम, ईर्ष्या और स्वार्थ-रहित अरण्यवासी सांसारिक बंधनों के छेत्ता साधु-तपस्वी थे। उन के बनाए व्यवहार को साधारण अवस्था में राजा किंचिन्मात्र भी नहीं बदल सकता था। राजा सामाजिक नियमों और वर्णाश्रमधर्म का रक्षक था और प्रजा को न्याय्य आचरण से संबद्ध रखने में सदा 'जागरूक'[2] रहना था। उस का यह

व्यवहार और न्याय

---

[1] रघुवंश, १।६

[2] निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास॥
रघुवंश, १४।८५

वर्णाश्रमाणं रक्षिता।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५

कर्तव्य था कि वह बराबर देखता रहे कि कहीं कोई वर्णाश्रमधर्म के नियमों का उल्लंघन तो नहीं करता। जिस प्रकार कुशल सारथी अपने रथ को पूर्व गए हुए रथों की लीक पर ही ले जाता है, वैसे ही राजा भी शास्त्रानुमोदित मार्ग से अपनी प्रजा को 'रेखा मात्र की चौड़ाई' के बराबर भी नहीं हटने देता था।[1]

दंड-नीति का एक वैज्ञानिक विधान था। राष्ट्र की स्थिति[2] के लिए अपराधियों को न्यायपूर्वक दंड देना आवश्यक था। दंड का रूप राजा की स्वेच्छाचारिता नहीं थी वरन् उस की नींव एक सुंदर, सुव्यवस्थित और सुस्पष्ट व्यावहारिक नीति थी जिस के ऊपर अभियोग को जाँच कर उस की गुरुता और लघुता के अनुसार दंड दिया जाता था।[3] राजा अपनी प्रजा का शासन 'रजोरिक्तमन'[4] से—क्रोधादि विकारों से मुक्त हो कर—करता था। रजोगुण के प्रभाव से जो स्वेच्छाचारिता के फलस्वरूप और शास्त्रविमुख आचरण होते हैं, उन से वह दूर था। दंडशक्ति धारण करने वाला राजा 'विमार्ग' पर आरूढ़ व्यक्तियों को रोक कर व्यवहार के मार्ग पर चलाता था, 'विवादों' का 'शमन' करता था और इस प्रकार प्रजा की रक्षा करता था। लोगों का कहना था कि धन के आगमन के साथ साधारण मित्रों की अतिशय वृद्धि होती है परंतु राजा में सारे 'बंधुकृत्यों' की पराकाष्ठा हो जाती है।[5] प्रजापालन में लीन राजा प्रजा का अद्वितीय बंधु है। उस के प्रेम का अंत नहीं।

दंड-नीति

---

[1] रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तय ॥
रघुवंश, १।१७

[2] स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्मएव मनीषिणः ॥
रघुवंश, १।२५

[3] यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥
रघुवंश, १।६

[4] ... राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥
रघुवंश, १४।८५

[5] नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।८

न्यायालय राजप्रासाद के ही बाहरी भाग में होता था, जहाँ न्याय का अंतिम आश्रय, राजा, व्यवहार के आधार पर दंडविधान करता था। वह वहाँ अपने व्यवहारासन पर बैठा शास्त्र द्वारा बताए गए समय पर पौरकार्यों का निरीक्षण करता था,[1] नागरिकों के आवेदनपत्रों को सुनता था। इस कार्य के अनंतर ही वह अपनी ओर ध्यान देता था। इसी कारण राजा का यह आसन व्यवहारासन,[2] धर्मासन[3] और कार्यासन[4] के नामों से विख्यात था। व्यवहारासन से राजा के दंडकार्य विशेष का ही बोध होता है। यह आसन वह प्रजा के कार्यों की पूर्ण रूप से परीक्षा[5] करने के लिए ग्रहण करता था। यह धर्मासन था क्योंकि यहाँ वह किसी प्रकार के अधर्म का आचरण नहीं कर सकता था। कार्यासन से उस का न्याय में निरंतर व्यसन सिद्ध होता है। इस आसन पर बैठा वह प्रजा के विवाद सुन कर उन पर अपना न्यायपूर्ण निर्णय देता था। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायालय वादियों और प्रतिवादियों से बराबर भरा रहता था क्योंकि 'जनसंपात'[6] शब्द

---

[1] स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा ।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥
रघुवंश, १४।२४

[2] नृपतिः प्रकृतिरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥
रघुवंश, ८।१८

[3] तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधिकारी कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम् ।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५

धर्मासनम् ।
उत्तररामचरितम्, १

तद्यावत्तराजा धर्मासनगत इत आयाति ।
विक्रमोर्वशीयम्, २

[4] एष पुन प्रियवयस्यो कार्यासनमुत्थित इति एवागच्छति ।
वही ।

[5] नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
रघुवंश, ८।१८

[6] अविदावित भो निमन्त्रणिक परमासेनेव राजरहस्येन स्फुटम् शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्तनेनात्मनो जिह्वां धारयितुम् । तद्यावत्तराजा धर्मासनगत इत आयाति तावदेतस्मिन्विरलजनसंपाते देवच्छन्दकप्रासाद आरुह्य स्थास्ये ।
विक्रमोर्वशीयम्, २

से आधुनिक अदालतों की भीड़ का स्मरण हो आता है।

जाब्ता फौजदारी मौर्य सम्राटों के समय की दंडपद्धति की भाँति ही कठोर प्रतीत होती है। चोरी का प्राणदंड होता था। 'अभिज्ञानशाकुंतल' का धीवर केवल चोरी के अपराध का अभियुक्त है, फिर भी शूली अथवा कुत्तों[1] द्वारा उस के प्राणहरण की आशंका है। चोरी में प्राणदंड की व्यवस्था मनुस्मृति में बताई दंडनीति के अनुरूप है।[2] कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी केवल सुनार की दूकान में प्रवेश मात्र का प्राणदंड विधान है।[3]

ज़ाब्ता फौजदारी

जिस व्यक्ति के पास चुराई हुई वस्तु का कोई हिस्सा मिलता था उसी से पूरी वस्तु वसूल की जाती थी। यह भारतीय प्रमाण-सिद्धांत का उदाहरण था। इस पद्धति का प्रयोग चोरी का पता लगाने में करते थे। सिद्धांत यह था कि जिस के पास अंश की प्राप्ति होती थी वह पूर्ण का उत्तरदायक हो।[4] यह एक व्यावहारिक सिद्धांत था। क्योंकि निष्कर्ष यही निकलता है कि आधे का रखने वाला चोर होगा और सारा उसी के पास होगा।

प्रमाण पेश करते समय अदालत में साक्षियों के आचरण और उन की सामाजिक अवस्था को भी ध्यान में रक्खा जाता था। शार्ङ्गरव के व्यंगपूर्ण वक्तव्य से ज्ञात होता है कि

---

[1] गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनोमुखं वा द्रक्ष्यसि
अभिज्ञानशाकुंतलम्, ६
एषनामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः
वही।
एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः
वही।

[2] पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे बधमर्हति॥
मनुस्मृति, ८

[3] अर्थशास्त्र, ४

[4] यदि हंसगता न ते नतभ्रू
सरसो रोधसि दृष्टपूर्व प्रिया मे।
मदखेलपदं कथं नु तस्या
सकलं चोरगतं त्वया गृहीतम्॥
विक्रमोर्वशीयम्, ४।३२

सदाचारी साक्षी का दुराचारी साक्षी से अधिक विश्वास किया जाता था। उस के साक्ष्य की गुरता का अदालत आदर करती थी। शार्ङ्गरव का वक्तव्य इस प्रकार है—"आश्चर्य! जो व्यक्ति 'जन्म' से ही 'शाठ्य' में 'अशिक्षित' है उस के 'वचन' 'अप्रमाणित' किए जाते है और जिन्हो ने औरो को धोका देना 'विद्या' की भाँति सीखा है उन के वचन प्रामाणिक समझे जाते है।"[1]

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है चोर के लिए प्राणदड दिया जाता था (यमसदन)[2]। प्राणदड बडा भयावह था। या तो प्राणदड पाए हुए को मार कर उस के शव के टुकडे गिद्धो के सम्मुख डाल देते थे[3] अथवा उस का आधा शरीर पृथ्वी में गाड कर उस पर कुत्ते ललकार दिए जाते थे।[4] प्राणदड के पूर्व उसे फूलो से सुसज्जित करते थे।[5] शूली पर चढा कर ही शायद गृध्रबलि दी जाती थी। 'राजशासन'[6] राजा की उन आज्ञाओ को कहते थे जो वह अपने हस्ताक्षर के साथ लिख कर देता था। प्राणदड के पूर्व इस लिखे शासन की अनिवार्य आवश्यकता होती थी। बिना इस के प्राणदड नही हो सकता था। राजशासन लिख कर उपयुक्त अधिकारियो को दे दिए जाते थे, जो उन के पालन का उचति प्रबध करते थे।

ऊपर के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि दडनीति बडी कठोर थी। 'मालविकाग्निमित्र' के एक स्थल से विदित होता है कि स्त्री अपराधियों को भी बेड़ियाँ[7] पहनाने का विधान था। परतु ब्राह्मणो के दड की भाँति उन का दड भी अवश्य मर्दों की

---

[1] आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो य–
स्तस्याप्रमाणं वचन जनस्य ।
परातिसंधानमधीयते यै–
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥
अभिज्ञानशाकुंतलम्, ५।२५

[2] वही, ६ [3] वही। [4] वही।

[5] प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधार्थं सुमनसः पिनद्धम् ।
वही।

[6] एष नो स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्यतो मुखो दृश्येत ।
वही।

[7] मालविका वकुलावलिका च पातालवासं निगलपद्यावदृष्टसूर्यपादं नागकन्यके इवानुभवतः.................... ।

मालविकाग्निमित्रम्, ४

अपेक्षा कुछ कम कठोर रहा होगा, जैसा संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रंथों से पता चलता है। दंड की कठोरता के होते हुए भी चोरी वगैरह अपराध होते थे। 'चौर' और 'गंडभेदक' आदि शब्दों का कालिदास में प्रयोग मिलता है। राजमार्ग पर दस्युता का प्रमाण भी 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के एक श्लोक से[1] उपलब्ध होता है, जिस से ज्ञात होता है कि दस्यु सशस्त्र पर भी आक्रमण कर बैठते थे। उस का उल्लेख इस प्रकार है—"धनुष हाथ में लिए, कोलाहल करते हुए प्रतिरोधकों का एक दल आ पहुँचा। उन के वक्ष तूणीर-पट्ट से आच्छादित थे और वे मयूर-पुच्छ पहने हुए थे, जिन के पंख उन के कानों तक लटके हुए थे। उन का प्रथम आक्रमण अमोघ होता था।"

कारागार शायद किसी अँधेरे स्थान में होते थे। संभव है वे प्रासाद के ही किसी निचले बहिर्भाग में होते हों जहाँ सूर्य का प्रकाश न पहुँचता हो और पाताल लोक का भ्रम होता हो।[2]

कालिदास के ग्रंथों में एक स्थल को छोड़ कर और कहीं दीवानी विधान का प्रमाण नहीं है। संभव है उस समय फौजदारी और दीवानी व्यवहार के भिन्न-भिन्न अंग पूर्णरूप से अलग न किए गए हों। 'अभिज्ञानशाकुंतल' के छठे अंक में जब राजा मंत्री को प्रजा के वाद-प्रतिवादों को सुन कर एक रिपोर्ट देने की आज्ञा करता है तब मंत्री उस दिन का एक मात्र विषय इस प्रकार लिखता है—

जाब्ता दीवानी

"समुद्रमार्ग से व्यापार करने वाला धनमित्र नामक सार्थवाह जहाज के साथ डूब गया है। लोगों का कहना है कि वह बेचारा निर्वंश है। अतः उस का संचित धन राज-कोष में जाएगा।"[3]

---

[1] तूणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तराल-
मापार्ष्णिलम्बिशिखिपिच्छकलापधारि।
कोदण्डपाणि विनदत्प्रतिरोधकाना-
मापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम्॥
मालविकाग्निमित्रम्, ५।१०

[2] पातालवास....अदृष्टसूर्यपादं ....।
वही, ४

[3] राजा—समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अन-

रिपोर्ट पढ कर राजा मत्री को यह पता लगाने की आज्ञा देता है कि धनमित्र की कई पत्नियो में से कोई गर्भवती तो नही है। पता लगाने पर यह विदित होता है कि उस की एक पत्नी का शीघ्र ही पुसवन सस्कार किया गया है। फिर राजा मत्री को धनमित्र का धन लौटा देने की आज्ञा देता हुआ कहता है कि "गर्भ का बालक पैतृक सपत्ति का अधिकारी होता है।"

ऊपर के लेख से ज्ञात होता है कि मृत व्यक्ति का धन पुत्र की अनुपस्थिति में राजगामी होता था। इस से यह भी पता चलता है कि विधवा पत्नी अपने स्वामी के धन की स्वामिनी नही हो सकती थी। मत्री ने यह जान कर कि धनमित्र के कोई पुत्र नही है उस का धन राजकोष में समिलित कर लिया था, परतु राजा ने फिर अनुसधान करा कर सारा धन लौटा दिया। इस से यह सिद्ध होता है कि गो विधवा मृत स्वामी के धन की हकदार नही थी, परतु पुत्र की आशा में गर्भ धारण करती हुई वह धन पा सकती थी।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि राजा किस प्रकार न्याय-सपादन करता था। राजा की प्रजा के हितार्थ चिंता बडी सराहनीय है। उस ने अपने राज्य में घोषणा करा दी कि जिस-जिस प्रजा का जो-जो आत्मीय मृत हो जाय उस-उस की स्थान-पूर्ति राजा स्वय करेगा। वह केवल प्रजा के पाप का भागी नही होगा।[1]

विशेष अवसरो पर बदियो को मुक्त करने की एक प्राचीन प्रथा थी। राजा का पुत्रोत्सव एक ऐसा ही अवसर था।[2] राजा के दुर्ग्रहो की शाति के अर्थ भी बंदी छोडे जाते

पत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसञ्चय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्ट खल्वनपत्यता। वेत्रवति, बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्र भवता भवितव्यम्। विचार्यतामयदि काचिदापन्नसत्त्वा भार्यासु स्यात्।

प्रतीहारी—इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुसवनाजायास्य श्रूयते।

राजा—ननु गर्भं पित्र्य रिक्थमर्हति, गच्छ, एवममात्य ब्रूहि।

अभिज्ञानशाकुंतलम्, ६

[1] येन येन वियोज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासा दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥

अभिज्ञानशाकुतलम्, ६।२३

[2] न सयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्य सुतजन्महर्षित.।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवल तदा पितृणा मुमुचे स बन्धनात्॥

रघुवश, ३।२०

थे।[1] भविष्यवक्ता राजसभाओ में रहते थे, जो दुष्टग्रहो की सूचना राजा को देते थे।

वंदिमोक्ष

त्यौहार के दिन भी कैदियो का छुटकारा होता था। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में एक ऐसे अवसर का वर्णन इस प्रकार है—"अपराधी होने पर भी सेवको को बधन में उत्सव के अवसर पर नही रखना चाहिए—यही विचार कर मैंने उन को बधनमुक्त करा दिया, जिस से वे कृतज्ञता में मुझे प्रणाम करने यहाँ आ पहुँचे।"[2] राजा के विदेश विजय का उत्सव एक ऐसा ही उत्सवदिवस[3] था। सभव है शुभ अवसरो पर वंदिमोक्ष की अशोक की प्रणाली कभी जीवित रही हो और यह उत्सवदिवस वैसा ही शुभदिवस हो। राज्याभिषेक के समय भी वदी बधनमुक्त किए जाते थे। उस समय प्राणदड पाए हुए अपराधी भी क्षमा कर दिए जाते थे।[4]

सेना

कालिदास ने चतुरगिणी[5] सेना का कई बार वर्णन किया है। ये चारो अग थे—

(१) पदाति

(२) हयदल

(३) रथदल

(४) गजदल

इन में से रथदल तो केवल चतुरग के समाहार के कारण लिखा गया है, नही तो

---

[1] दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा। सोपसर्गं वो नक्षत्रम्। तदवश्य सर्वबन्धमोक्षः क्रियतामिति।

मालविकाग्निमित्रम्, ४

[2] नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धुम्।
इति मोचिते मयैते प्रणिपतितु मामुपगते च॥

वही, १७

[3] मौद्गल्य, यज्ञसेनश्यालमूरीकृत्य मोच्यन्ता सर्वे बन्धनस्थाः।

वही, ५

[4] बन्धच्छेद स बद्धाना वधार्हाणामवध्यताम्।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोह चादिशद्गवाम्॥

रघुवश, १७।१९

[5] प्रतापोऽग्रे तत शब्द परागस्तदनन्तरम्।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमू॥

रघुवश, ४।३०

यह तो कालिदास के बहुत पूर्व ही मृत हो चुका था। बहुत प्राचीन काल के युद्धो के प्रसग में ही कालिदास ने चारो अगो का वर्णन किया है। बाकी

सेना

तीनो अग अग्रेजो के भारत में आने के पहले बराबर युद्ध में व्यवहृत होते थे। इन के अतिरिक्त सेना का एक पाँचवाँ स्कध और था जिस का व्यवहार समुद्रतट-निवासी प्राय बहुत प्राचीन समय से करते थे और जिस को कालिदास ने अपने 'नौसाधनोद्यतान्'[1] में कहा है। पूर्व-भारत के बग देश में रघु के शत्रुओ ने उसे अपनी नौकाओ द्वारा लड कर रोकना चाहा था, पर उस ने उन्हे हरा कर बलपूर्वक उखाड फेका था।

कालिदास के समय में सेना को नियमित वेतन मिलता था, जिस से सिद्ध होता है कि उस समय भारतीय राजा सेना प्रस्तुत रखते थे। यह वेतन खानो, खेतो और वनहस्तियो की आय[2] से दिया जाता था। मौर्य सम्राटो की सेनाओ की भाँति नियमित वृत्ति वाली सेनाएँ कालिदास के समय मे भी थी। यह बात विशेष उल्लेखनीय इस कारण है कि प्रबल प्रतापी मुगल सम्राट् भी प्रस्तुत सैन्य कभी नही रख सके थे। मुगल सम्राटो की सेनाएँ सामतराजाओ की अपनी टोलियाँ थी जिन को ले कर वे सम्राट् की सेवाओ के लिए विजय अथवा आपत्ति के समय राजधानी में उपस्थित होते थे। इस प्रकार की सामत राजाओ की सेवाएँ कालिदास के समय के सम्राट् की भी होती थी फिर भी उस समय प्रस्तुत सेना रक्खी जाती थी। वेतन के लिए कालिदास ने 'वेतन'[3] शब्द का ही प्रयोग किया है।

भारतीय सैनिक के शस्त्रास्त्रो में धनुष-बाण, भल्ल, असि आदि मुख्य थे। वह

---

[1] वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान्गंगास्रोतोऽन्तरेषु सः ॥
रघुवंश, ४।३६

[2] खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥
रघुवंश, १७।६६

[3] यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्य-
मापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम्।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टि-
मूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय ॥
वही, १२।१०३

विविध प्रकार के बाण व्यवहार में लाता था। ये बाण लंबे बेंतों के बने होते थे जिन के मुख पैने और तीक्ष्ण लौह द्वारा निर्मित होते और पीछे पक्ष-पुच्छ लगे होते थे। प्रधान और कलाप्रिय सैनिक बाणों पर अपने नाम अथवा नामांक लिखवा रखते थे। पुरूरवा के पुत्र के बाण के ऊपर कंचुकी एक ऐसा ही लेख पाता है, जिसे वह दुर्बलदृष्टि का होने के कारण पढ़ नहीं सकता।[1] कुमार आयुस के बाण का लेख प्रमाण और उदाहरण रूप में उद्धृत किया जा सकता है :—

'यह शत्रुघ्न बाण उर्वशी और ऐल के पुत्र धनुष्मत कुमार आयुस का है'।[2]

उस समय के सैनिक बराबर कवच धारण करते थे। कालिदास ने कवचों का कई बार उल्लेख किया है। युवावस्था के चिह्नों के प्रादुर्भाव के साथ ही युवक कवच धारण करने योग्य समझा जाता था।[3]

क्षत्रियों की नियमवृत्ति बड़ी कठोर थी। क्षत्रिय कुमार जो सर्वदा बढ़ कर सैनिक होता था बचपन से ही विनीत बनाया जाता था। वास्तव में उस की सैनिक शिक्षा तभी से आरंभ हो जाती थी जब वह धनुष धारण करने और उस की प्रत्यंचा चढ़ाने योग्य हो जाता था। क्षत्रिय शब्द में ही रक्षण का भाव रूढ़ि[4] हो गया था फिर बिना धनुष के रक्षा कैसी? अतः कोई क्षत्रिय कभी अपने धनुष-बाण को अपने से अलग नहीं कर सकता

---

[1] नामाक्षिते दृश्यते न तु मे वर्णविचारक्षमा दृष्टिः।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

[2] उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः।
कुमारस्यायुषो बाणः संहर्ता द्विषदायुषाम्॥
वही, ७

[3] गृहीतविद्य आयुः साम्प्रतं कवचार्हः संवृत्तः।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमार-
मादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः
प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव॥
रघुवंश, ८।९४

[4] क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥
वही, २।५३

था। पुरूरवा का पुत्र जब पिता को प्रणाम करने के लिए करबद्ध होता है तब दोनों करो के मध्य अपना बाण दबा लेता है।[1] यह रीति अभी तक कई देशी रियासतो में जीवित है, जहाँ के राजा कभी शस्त्र से रहित नही होते।

कालिदास के समय के भारतीय शस्त्रागार में केवल धनुष-बाण, भल्ल, असि, शूल, शक्ति, गदा आदि ही नही वरन् ऐसे भी कई अस्त्र थे जिन के प्रहार से सैकडा व्यक्ति धराशायी होते थ। ऐसे ही एक अस्त्र का नाम कालिदास न शतघ्नी[2] लिखा है। यह एक प्रकार की चतुस्ताला लाठी होती थी जिस में सहस्त्रो लोहे के तीक्ष्ण कटक लगे रहते थे।[3]

सारी सेना का अध्यक्ष सेनापति[4] होता था जो युद्ध म उस का शत्रुआ के विरुद्ध सचालन करता था। जब राजा उपस्थित होता था तब वह स्वय सेना का अधिपति होता था। सेना के सगठन का पूरा विवरण कालिदास के ग्रथो से नही दिया जा सकता। क्योकि उन म इस विषय की सामग्री बहुत थोडी है। केवल इतना कहा जा सकता है कि सेना की सफलता असाधारण थी। इस सैन्य-शासन की सुचारु पद्धति द्वारा ही पुष्पमित्र 'दुष्ट विक्रात यवनो (यूनानियो) के राजा मिनेंडर को हरा सका और समुद्रगुप्त सारे भारत पर अपना प्रभुत्व जमा सका था।

प्रजा के जीवन और सपत्ति की रक्षा करने के बदले राष्ट्र उनके क्षेत्र की उपज

अर्थ विभाग—भूमि कर और अन्य आय — का षष्ठाश लेता था।[5] यह षष्ठाश प्रजा के उपकार के बदले राजा का वेतन (वृत्ति) अथवा जीवन-वृत्ति था।

---

[1] कुमारो चापगर्भमञ्जलि बद्ध्वा प्रणमति।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

[2] अय शकुचिता रक्ष शतघ्नीमय शत्रवे।
हृता वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत्॥
रघुवश, १२।९५

[3] शतघ्नी तु चतुस्ताला लोहकण्टकसचिता। यष्टि· · —केशव

[4] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २
सेनानी—मालविकाग्निमित्रम्, ५

[5] वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मात।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तु षष्ठाशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥
रघुवश, २।६६
नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २

राजा की आय का वर्णन निम्न-लिखित शीर्षको के अतर्गत करेंगे —

(१) भूमि-कर ।
(२) भूमिसिंचन ।
(३) आबकारी अथवा मद्य-कर ।
(४) राष्ट्र का स्वायत्त व्यापार और अन्य कार्य ।
(५) उपायन और सामत-कर ।
(६) वशरहित व्यक्तियो का राजगामी धन ।

भूमिकर

भूमिकर या लगान सारी प्रजा से पूर्णरूप से इकट्ठा किया जाता था। इस कर की व्यापकता का बोध इस बात से हो सकता है कि ससार-त्यागी अरण्यवासी तपस्वी भी इस से वचित नहीं थे। इतना अवश्य था कि उन को यह कर द्रव्य में नहीं प्रत्युत् अपने पुण्य और तप के षष्ठाश में देना पडता था। उस समय के विचारो की प्रतिध्वनि कालिदास के एक श्लोक में सुन पडती है —'वर्णाश्रमियो से प्राप्त धन क्षयशील है, परतु अरण्यवासियो द्वारा राष्ट्र को दिया गया षष्ठाश अक्षय है।"[१]

भूमि सिचन

कालिदास में भूमिसिंचन का प्रमाण तो नही है परतु भूमिकर ही राष्ट्र के आय की रीढ थी इस हेतु अधिकाधिक भूमिकर के निमित्त भूमिसिंचन विभाग अवश्य रहा होगा। अर्थशास्त्र में इस विभाग का वर्णन आया है, जिस से राष्ट्र को प्रचुर धन प्राप्त होता था और जो राष्ट्र द्वारा भूमिकर के साथ ही वसूल किया जाता था।

मद्य-कर का कोई व्यक्त प्रमाण कालिदास के ग्रथो में नहीं है, परतु मद्यपान के सैकडो वर्णन आए हैं। कितनी ही दूकाने सडको पर सजी रहती थी।[२] साधारणतया ये

---

[१] मूर्खे, अन्यद्भागधेयमेतेषा रक्षणे निपतति, यद्रत्नराशीनपिविहायाभिनन्द्यम्। पश्य।

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणा क्षयि तत्फलम्।
तप षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यकाहि न ।।

अभिज्ञानशाकुतलम्, २।१३

[२] ...कादम्बरीसखित्वमस्माक प्रथमशोभितमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छाम।

वही, ६

दूकानें सर्वत्र थी। इन को राजकर्मचारी भूल न गए होगे और इन से भी यथेष्ट कर वसूल होता होगा। शराब की दूकानो से प्राचीन भारतवर्ष में राज्य को बडी आय थी जैसा कि कौटिलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है। उस के अनुसार राष्ट्र का यह एक स्वतत्र, बहुत बडा विभाग था जिस का एक अध्यक्ष नियुक्त था।

आबकारी अथवा मद्य-कर

खानो की खुदाई[1] और बनो से हाथियो[2] की प्राप्ति (गजवध) राष्ट्र के स्वायत्त व्यापार थे जिन से बडी आय होती थी। रातदिन खोदी जाती हुई खानें, रत्न और धातु धन की बडी प्रसविनी थी।[3] राष्ट्र के युद्ध आदि कार्यों में पूर्णतया व्यवहृत हो चुकने के पश्चात हाथियो के दाँत देश विदेश से बृहत् धनराशि लाते होगे। राष्ट्र के अन्य बहुत से कार्यों से भी राजकोष में बहुत धनसचय होता था। सेतु[4] (पुल) और वार्ता[5] (चारागाह की रखवाली और गृह पशुओ का राष्ट्रीय स्टाक) राष्ट्र की आमदनी के दो बडे जरिए थे। सेतुओ से पार होने का (अथवा नावो से घाटो पर पार होने का) कर लगता था। चारागाहो में पशुओ के चराने पर भी सभव है नाम मात्र का कर लगता हो। गृह-पशुओ के राष्ट्रीय वर्द्धन और पालन से ज्ञात होता है कि आधुनिक सरकार की भाँति तब की सरकार भी आदर्श पशुओ को जनन-कार्य के लिए अपने पास रखती थी। सभव है सुदर, बडे पशु जुताई के लिए किराए पर भी दिए जाते हो।

राष्ट्र का स्वायत्त व्यापार और अन्य कार्य

---

[1] तस्मिन्गते द्यां सुकृतोपलब्धां तत्सम्भवं शंखणमर्णवान्ता ।
उत्खातशत्रु वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥
रघुवंश, १८।२२

तथापि

वही १७।६६

[2] स सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः ।
अन्यान्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥
वही, १६।२

...वनैर्गजान्...।

वही, १७।६६

[3] ...रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥

वही, १८।२२

[4] वही १६।२

[5] वही।

जल और स्थल-मार्ग से अनंत व्यापार होता था। भारतीय नैगम और सार्थवाह देश-विदेश सर्वत्र व्यापार के लिए भ्रमण करते थे। व्यापार-मार्गों की रक्षा के लिए

उपायन और सामंत-कर

ये राजा को बड़ी-बड़ी संपत्ति भेंट करते थे। अगाध संपत्ति के स्वामी वणिकाग्रगण्य व्यापारी राज-कोष में धन की वर्षा कर देते थे।[1] भेंट और उपायनों के अतिरिक्त व्यापार की वस्तुओं पर कर द्वारा भी राजकीय आय की वृद्धि होती होगी।

उपायन अर्थात् भेंट विजित राजाओं और स्वतंत्रराष्ट्रों से अत्यधिक मात्रा में आते थे। सामंतराजाओं से कर के रूप में भी बहुत द्रव्य प्राप्त होता था। ये भेंट और उपायन परराष्ट्रसचिव के पास भेजे जाते थे[2] जैसा 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से ज्ञात होता है। इस उदाहरण में विदर्भ के राजा ने अग्निमित्र के मंत्री के पास जो वस्तुएँ भेजी है वह कई प्रकार की है। उन में और वस्तुओं के अतिरिक्त निम्नलिखित हैं—

(१) भृत्यवर्ग, मुख्यकर, कलापंडिता कन्याएँ (शिल्पकारिका)।

(२) बहुमूल्य रत्न, और

(३) वाहन, जैसे हाथी, घोड़े, रथ, पालकी आदि।

निर्वंश मृत व्यक्तियों का धन राजकोष में कम धन की वृद्धि नहीं करता था। समय-समय पर नैगम और सार्थवाहों की अगाध संपत्ति पुत्र के अभाव में राष्ट्र-संपत्ति

वंशरहित व्यक्तियों का राजगामी धन

हो जाती थी। राजा ही उन का उत्तराधिकारी था। इसी विषय की बनाई हुई एक रिपोर्ट राजा की स्वीकृति के लिए अर्थसचिव द्वारा 'अभिज्ञानशाकुंतल' नाटक[3] में राजप्रासाद में भेजी गई है। उस को हम

---

[1] विद्युल्लेखा कनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रम्
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरी चामराणि।
धर्मच्छेदात्पटुतरगिरो बन्दिनो नीलकण्ठा
धारासारोपनयनपरा नैगमाश्चाम्बुवाहा ॥
विक्रमोर्वशीयम्, ४।१३

[2] वशीकृतः किल वीरसेनप्रमुखैर्भर्तुर्विजयदण्डैर्विदर्भनाथः। मोचितोऽस्य दायादो माधवसेनः। दूतश्च तेन महासाराणि रत्नानि वाहनानि शिल्पकारिकाभूयिष्ठं परिजनमुपायनीकृत्य भर्तुः सकाशं प्रेषित इति।
मालविकाग्निमित्रम्, ५

[3] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

अन्य स्थल पर उद्धृत कर चुके हैं।

'कर' द्रव्य अथवा वस्तु किसी रूप में दिया जा सकता था। अर्थसचिव की एक दूसरी रिपोर्ट[1] में अर्थगणना का उल्लेख है। यह 'अर्थ' राष्ट्र के भिन्न-भिन्न प्रांतों की आय था, जिस की गणना कर अर्थसचिव कोष में रखता था। यह स्मरण रखने का विषय है कि मौर्य सम्राट् का कोष-गणना का एक स्वतंत्र विभाग ही था जिस का उल्लेख उस के शिलालेखों में आया है। गणना से तात्पर्य है द्रव्य का गिनना और धान्यादि वस्तुओं का हिसाब मिलाना। द्रव्य की गणना भी कुछ असाधारण नहीं है, क्योंकि उस समय में सिक्के खूब चलते थे और कालिदास ने एक विशेष प्रकार के सोने के सिक्के 'सुवर्ण' का कई बार उल्लेख किया है।

प्रजा पर कर राजा के आनंद के लिए नहीं प्रत्युत् प्रजा ही के हित के लिए लगाया जाता था। आय और व्यय की इस प्रकार व्यवस्था की जाती थी कि प्रजा का दिया हुआ कर सहस्र द्वारों से उस के पास पहुँच जाता था। जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी का जल खींच कर फिर उसे सहस्र गुना कर के पृथ्वी को ही लौटा देता है, वैसे ही राजा भी प्रजा का कर ले कर उसे कई प्रकार से पूरा कर देता था।[2] इस अलंकारिक उल्लेख का तात्पर्य शायद उन वापी, कूप, तडाग, दीर्घिका आदि प्रजा की भलाई के कार्यों से है जिन का निर्माण राजा की ओर से बराबर होता रहता था। इन्हीं के ऊपर शायद आय का व्यय किया जाता था। प्रस्तुत सैन्य रखने पर राजकोष का एक बड़ा हिस्सा उस पर व्यय होता है। यह प्रस्तुत सैन्य का एक भारी दोष है जो उस समय भी था। खाना, हाथियों (गजबंध)

तथापि—

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राजा नित्यमितिस्थितिः ।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृप ॥

मनुस्मृति

[1] अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितम् तद्देव पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

[2] प्रजानामेवभूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥

रघुवंश, १।१८

और खेतों से प्राप्त धन का एक बड़ा भाग सेना पर व्यय होता था।[1]

भूमि की उपज का षष्ठांश और वारिसहीन व्यक्ति का धन राजगामी होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि राजा भूमि का स्वामी समझा जाता था।

मुद्राएँ

सभ्यता की उन्नति के साथ व्यापार बढ़ता है और देशव्यापी व्यापार में वस्तु का वस्तु से विनिमय व्यर्थ हो जाता है। ऐसी दशा में हल्के, स्थानांतर ले जाने में सरल धातुओं के बने सिक्कों की बड़ी आवश्यकता मालूम होने लगती है। कालिदास के समय का व्यापार केवल भारत में ही नहीं प्रत्युत दूर विदेश तक फैला हुआ था। भला यह कैसे संभव था कि वस्तुओं के मूल्य में केवल वस्तुएँ लाद कर देश में वणिक लाते। फिर 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के अनुसार ये वणिक अपने राजा के पास धारासार नजरें भेजते थे जो प्राय: द्रव्य के रूप में ही होती होंगी। रत्न और इतर धातुओं की सरकारी खानों से प्राप्ति हो ही जाती थी, फिर उन को साँचे में ढालना क्या बड़ी बात थी जब कालिदास के पूर्व और पश्चात् बराबर सिक्के की ढलाई का प्रमाण हमें मिलता ही है। भूमिकर और दूर के प्रांतों की आय भी अधिकतर सिक्कों में ही अदा की जाती थी। इसी प्रकार के सिक्कों की 'गणना' में कदाचित् 'अभिज्ञानशाकुंतल' के छठे अंक में मंत्री व्यस्त है। संभव है यह गणना स्वर्ण के सिक्कों की ही हो।

कालिदास के ग्रंथों में 'निष्क' और 'सुवर्ण' नाम के सिक्कों का उल्लेख[2] हुआ है। 'निष्क' और 'सुवर्ण' गुप्त सम्राटों और दूसरे राजाओं के समय में खूब प्रचलित थे। 'सुवर्ण' सोने का सिक्का था जो तौल में प्राय: सोलह माशे होता था। गुप्त सम्राटों के शिलालेखों में निष्क और सुवर्ण का बहुधा उल्लेख मिलता है। कालिदास में इन स्वर्ण-सिक्कों के अतिरिक्त और किसी धातु के सिक्कों का वर्णन नहीं है। इस लिए यह नहीं

---

[1] खनिभि: सुषुवे रत्नं क्षेत्रै: सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भू:॥
रघुवंश, १७।६६

[2] यत: प्रभृति सेनापतिपक्षतुरगरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्तत: प्रभृति तस्यायुर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणं दक्षिणं देवी दक्षिणीयैः परिग्राहयति।
मालविकाग्निमित्रम्, ५

कहा जा सकता कि और किन-किन धातुओ के सिक्के, राजा के अक से मुद्रित, देश में प्रचलित थे।

योग्य सरकार के लिए जन-सम्मति आवश्यक हो जाती है। शासन-कार्य में शासक के लिए *यह जानना आवश्यक हो जाता है कि प्रजा उस के कार्यों की किस प्रकार* आलोचना करती है। उस के किस कार्य से वह प्रसन्न और किस से अप्रसन्न है। उस की सरकार और प्रजा के दृष्टिकोण मे कितना अतर है। यह सब बाते जब तक सरकार नही जानेगी, वह उचित रूप से प्रजा का शासन नही कर सकती। इस प्रकार हिंदू राजा जन-सम्मति का बराबर ध्यान रखता था। जन-सम्मति के इसी चट्टान पर राजा राम के गार्हस्थ्य आनद की नौका चूर-चूर हो गई। इसी जन-सम्मति के परिणाम-स्वरूप रानी सीता को वनो में अमानुषिक कष्ट सहने पडे। स्वय कालिदास ने रजक के विचारो की गुरुता पर अपना वक्तव्य कहा है। 'पुरोगो' की 'किंवदती'[1] ऐसी वस्तु नही जिस को राजा अनुचित समझ कर छोड दे। जन-सम्मति का ध्यान कर प्रजा की आलोचना से राजा अपने शासन में सुधार करता था, प्रजा के कष्टो को दूर करता था।

जन-सम्मति और गुप्त-दौत्य

उस समय, जब कि मुद्रण की सुविधाएँ प्राप्त नही थी, देश में समाचार-पत्र नही थे, दूतो के विभाग का सगठन अनिवार्य था। शासनकार्य की आलोचना और प्रजा की अन्य सम्मति दूतो के द्वारा प्राप्त होती थी। गुप्तदौत्य की आवश्यकता गृहनीति और वाह्य शत्रु की चालो की जानकारी के लिए बडी थी। इसी कारण कौटिलीय अर्थशास्त्र में गुप्तदौत्य के एक स्वतत्र विभाग की बडी आवश्यकता बताई गई है और शायद उसी ग्रथ के अनुरूप आचरण करते हुए मौर्य सम्राट् चद्रगुप्त ने अपने शासनतत्र में इस विभाग की सत्ता स्वीकार कर के उस का उद्घाटन किया था। स्वय कालिदास ने भी इस प्रकार के दौत्य का कई स्थलो पर उल्लेख[2] किया है। जन-सम्मति के ज्ञान के लिए जिस दूत को नियुक्त किया गया था, उस के लिए कालिदास ने 'अपसर्पम्' शब्द का प्रयोग

---

[1] स किम्वदन्तीं वदता पुरोग स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्त ।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्प पप्रच्छ भद्र विजितारिभद्र ।।
रघुवश, १४।३१

[2] वही।

किया है। इसी विभाग के योग्य, वाक्कुशल, सुवृद्ध व्यक्ति और उच्च कर्मचारी र
नैतिक दौत्य पद के उत्तरदायित्व के लिए चुने जाते होंगे। दूत लोग कदाचित् परर
सचिव के अधीनस्थ[१] कर्मचारी रहे होंगे।

राष्ट्र, शासन के अर्थ, बहुत से प्रांतों में विभक्त था। प्रत्येक प्रांत राजा द्वा
नियुक्त एक-एक वाइसराय के उत्तरदायित्व में था। ये वाइसराय राजकुल के ही
होते थे। पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र इसी प्रकार का

प्रांत

वाइसराय था जो अपने पिता के साम्राज्य के दक्षिणी प्र
की रक्षा के लिए नियुक्त था। उस की राजधानी विदिशा थी। उस की सत्ता और वै
का अंदाज उस की उपाधि-संज्ञा से लगता है। उस की उपाधि 'भगवान् विदिशेश्व
थी। पिता सम्राट् होते हुए भी सेना से शाश्वत संबंध होने के कारण अपने को के
'सेनापति'[२] कहता था। अग्निमित्र ने, संभव है, उस की उपाधि के अभाव में राज
उपाधि धारण कर ली हो। इस प्रकार वाइसराय अपने प्रांत में राजा था। वह अ
'प्रकृत्यमित्रों'[३] के प्रति संधि और युद्ध की घोषणा कर सकता था। शासनकार्य मे
की सहायता के लिए एक 'अमात्यपरिषद्'[४] नियुक्त था जिस के राष्ट्र-नीति-नि
का वह बड़ा आदर करता और उसे मानता था। अमात्यपरिषद् की सत्ता का
मालविकाग्निमित्र नाटक में उस के प्रति बारबार उल्लेख से हो सकता है। क्रोध
चरम सीमा में भी राजा अपने मंत्रियों से राय लेना नहीं भूलता था।[५]

अग्निमित्र वाइसराय का उदाहरण हो सकता है। सीमाप्रांत अथवा 'प्रत
की रक्षा के लिए वहाँ सैन्य द्वारा रक्षित बड़े-बड़े दुर्भेद्य दुर्ग थे। इन दुर्गों का रक्षाभार
राजसंबंधियों को ही दिया जाता था। अग्निमित्र की दक्षिणी सीमा—नर्मदा के मैदान
की रक्षा का उत्तरदायित्व उस के साले 'अंतपाल' वीरसेन को सौंपा गया था।[६]

---

[१] मालविकाग्निमित्रम्, ५
[२] वही, ४
[३] वही, ५
[४] वही, १ और ५
[५] वही, ५
[६] वही, १
[७] स भर्त्रा नर्मदातीरे अन्तपालदुर्गे स्थापित ।
वही ।

सामंतराजगण अपने राज्यो के आभ्यंतर शासन में पूर्ण स्वतंत्र थे। वे सम्राट् के 'प्रत्यंतो' के पास अपने देशो में शासन करते थे। ये प्रांत, प्रत्यंत और सामंतराज्य साम्राज्य के अंतर्गत उस के अंग थे। सामंत राजाओ की साम्राज्य की राजधानी में प्राय उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि उन के राज्य एक प्रकार से साम्राज्य के ही बाह्य प्रांत थे और ये राजा इन प्रांतो के वाइसराय थे जो अपनी सत्ता के संस्करण[1] समय-समय पर सम्राट् के मुद्राक द्वारा करा लेते थे।

कालिदास ने जिन राजनैतिक भागो का वर्णन किया है उन का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। उन का अध्ययन भारतवर्ष के पुराने मानचित्र के साथ भली प्रकार किया जा सकता है —

भारतवर्ष के राजनैतिक भाग

(१) मगध अथवा दक्षिण बिहार जिस की राजधानी कुसुमपुर थी। कुसुमपुर के कई और नाम थे जैसे पुष्पपुर, पाटलिपुत्र आदि।

(२) विदेह, अथवा आधुनिक तिरहुत मंडल (डिविजन) जिस की राजधानी मिथिला थी। मिथिला विदेह और उस की राजधानी दोनो की सज्ञा थी।

(३) अंग अथवा मुंगेर सहित भागलपुर के चारो ओर का देश।

(४) वंग अथवा आधुनिक बंगाल।

(५) कामरूप अथवा आधुनिक आसाम जिस की राजधानी प्राग्ज्योतिप अथवा गोहाटी थी।

(६) सुह्म अथवा गगा के पश्चिम ओर के प्रांत जिस में तामलुक, मिदनापुर और हुगली और बर्दवान जिले शामिल थे।

(७) उत्कल (उत्कलिंग का अपभ्रंश) अथवा उत्तर कलिंग।

(८) कलिंग, अथवा आधुनिक उत्तरी सरकार, जो उड़ीसा और द्रविड़ के बीच का प्रांत था।

(९) पांड्य अथवा टिन्नेवेली और मदुरा के आधुनिक ज़िले।

(१०) केरल अथवा मालाबार का समुद्रतट।

(११) कंबोज अथवा अफगानिस्तान का पूर्वी भाग।

---

[1] सामन्तमौलिमणिरञ्जितशासनाक ।

विक्रमोर्वशीयम्, ३।१९

(१२) पारसीक अथवा आधुनिक फारस।

(१३) हूण देश अथवा कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रदेश।

(१४) कारापथ अथवा सिंधु के पश्चिम तट का बागान।

(१५) केकय अथवा सतलज और व्यास के मध्य का प्रदेश।

(१६) शूरसेन जिस की राजधानी मथुरा थी। शूरसेन देश मथुरा के चतुर्दिक् था।

(१७) उत्तर-कोसल अथवा अवध के उत्तर का प्रांत।

(१८) कोसल अथवा आधुनिक अवध।

(१९) काशी।

(२०) दशार्ण अथवा पूर्वी मालवा जिस की राजधानी विदिशा थी।

(२१) विदर्भ अथवा बरार, खानदेश, निजामराज्य के कुछ प्रांत और मध्य-प्रदेश के कुछ भाग।

(२२) भोज अर्थात् भोज लोगों का देश जो विदर्भ और दशार्ण के बीच में था।

(२३) क्रथकैशिक वे लोग थे जो विदर्भ देश में वास करते थे।

(२४) अवंती अथवा पश्चिमी मालवा जिस की राजधानी उज्जैनी थी।

(२५) उज्जैनी, अवंती की राजधानी।

(२६) माहिष्मती अथवा नर्मदा के दक्षिण तट पर बसा महेश अथवा महेश्वर।

(२७) नदब।

संस्कृत के अलङ्कार-शास्त्र में कवि और काव्य का आदर्श

[लेखक—श्रीयुत गगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०]

सस्कृत साहित्य में अलकार-शास्त्र के अनेक उत्तमोत्तम ग्रथ मिलते हैं। उन में कवि और काव्य के गुण-दोषो की खूब मीमासा की गई है। इन विषयो का विश्लेषण तथा निरूपण करने में सस्कृत के आलकारिको ने अपनी प्रखर बुद्धि और आलोचनात्मक विचारशैली का खूब परिचय दिया है। उन्होने काव्य के लक्षण और उस के अग प्रत्यग के विषय में जुदे-जुदे सिद्धात प्रतिपादित किए हैं जिन से उन के विचारो की मौलिकता सिद्ध होती है।

कवि-कर्म बहुत कठिन है, कवित्व-शक्ति का होना सुमहत् पुण्य का फल है। जिस ने चाहा वह कवि बन गया, यह सभव नही। कवि जन्म से हुआ करते हैं, शिक्षा-दीक्षा से नही। सस्कृत के आलकारिको ने इस विषय की बडी ही रोचक चर्चा अपने ग्रथो में की है। कवि कैसा होना चाहिए, उस में किन-किन गुणो की आवश्यकता है, और क्या वह शिक्षा-दीक्षा से अपनी कला में सिद्धहस्त हो सकता है, उस के गुणो का कितना अश स्वाभाविक और कितना श्रमसाध्य है, इत्यादि बातो पर हिंदू आलकारिको ने अपने गभीर विचार प्रकट किए हैं, जिन से कवि और कविता-सबधी हमारा आदर्श कितना उत्कृष्टतम था यह मालूम होगा।

सस्कृत के आलकारिको में भामह, दडी, उद्भट, भरत, वामन, रुद्रट, आनदवर्धन, भोज, मम्मट, विद्यानाथ, धनिक, पीयूषवर्ष, अप्पय्य दीक्षित, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि बडे प्रौढ और प्रसिद्ध विद्वान हुए हैं। इन मे सब से प्राचीन विद्वान 'भरत नाट्य-शास्त्र' के प्रणेता थे। वे ईस्वी सन् के आरभ में वा इस से कुछ पूर्व हुए थे। वे अलकार-शास्त्र में रस सिद्धात के प्रवर्तक माने जाते हैं। अलकार-पथ के सब से

पुराने ग्रंथकार भामह थे। आचार्य दंडी और वामन ने रीति-सम्प्रदाय का अलंकार-शास्त्र में प्रचलन किया। इन के उपरांत ध्वनि-प्रधान काव्य-शैली के प्रवर्तक आनंदवर्धन हुए। काश्मीर के धुरंधर विद्वान मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' अलंकार-शास्त्र का 'आकर ग्रंथ' है। इस शास्त्र के इतिहास पर कुछ विहंगम दृष्टि डालने से ही पता चलता है कि काव्य-कला की आलोचना में संस्कृत साहित्य-सेवियों ने आश्चर्य-जनक उन्नति की थी।

कवि कौन हो सकता है?

कविवर दंडी आदर्श कवि में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीन गुणों का होना परमावश्यक मानते हैं। स्वाभाविक प्रतिभा, अत्यंत निर्मल ज्ञान और अमंद उद्योग ये काव्य-संपत्ति के कारण हैं।[1] यद्यपि जन्मसिद्ध अद्भुत प्रतिभा किसी में न भी हो *तथापि यत्न और विद्यानुराग द्वारा आराधित सरस्वती अवश्य उस पर कुछ न कुछ अनुग्रह करती ही है।* दंडी के इस मत का समर्थन संस्कृत के बहुत से आलंकारिकों ने किया है। रुद्रट ने इस मत की और भी विशद व्याख्या की है। 'काव्यालंकार' में रुद्रट ने लिखा है—"असार के त्याग और सार के ग्रहण से सुचारु काव्य रचा जाता है और उस की रचना में तीन गुण काम आते हैं—शक्ति, व्युत्पत्ति, अभ्यास। 'शक्ति' उसे कहते हैं जिस के द्वारा सदा एकाग्र किए हुए मन में विचारों का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता रहे तथा कोमलकांत (अक्लिष्ट) पद बराबर सूझते रहें। दूसरे लोग इस शक्ति को 'प्रतिभा' कहते हैं। वह 'सहजा' और 'उत्पाद्या' दो प्रकार की होती है। इन में 'सहजा' मनुष्य के जन्म से होने वाली उत्कृष्टतर होती है, क्योंकि अपने संस्कार के हेतु-रूप से वह दूसरी प्रकार की प्रतिभा का आश्रय लेती है। किंतु 'उत्पाद्या' प्रतिभा परम व्युत्पत्ति से कथंचित् उत्पन्न होती है। छंद, व्याकरण, कला, लोकस्थिति, शब्द, अर्थ, युक्त और अयुक्त का विवेक—यही संक्षेप में

---

[1] नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः॥
न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
काव्यादर्श, १, १०३ तथा १०५

'व्युत्पत्ति' कही जाती है।"[1]

प्रसिद्ध आलकारिक भामह ने भी प्रतिभा ही को काव्य का कारण माना है और अन्य शास्त्रो के ज्ञान को केवल उपकरण रूप से काव्य के लिए उपयोगी बतलाया है। भामह के मत में कवि में प्रतिभा का होना नितात आवश्यक है।[2] मंदबुद्धि भी शास्त्रो को गुरु के उपदेश से सीख सकते है, किंतु काव्य-रचना तो कदाचित् कोई विरला ही प्रतिभाशाली मनुष्य कर सकता है। जो स्वभाव से कवि नहीं है, उस का शास्त्र-ज्ञान वैसा ही निरर्थक है जैसा निर्धन का दाता होना, कायर का शस्त्र-विद्या में निपुण होना तथा अज्ञानी का चतुर होना।[3] भामह के उपर्युक्त अवतरणो से स्पष्ट है कि प्रतिभा के विना कवि होना असभव है। इस विषय मे दडी का मत उन से भिन्न है। दडी के मतानुसार कवित्व-शक्ति के कृश होने पर भी श्रम करने वाले मनुष्य कवियो की गोष्ठी में मनोविनोद कर सकते है। अर्थात् विद्या और अभ्यास से—सरस्वती की निरतर उपासना से—मनुष्य कवि-पदवी का अधिकारी हो सकता है।[4]

'काव्यालकार सूत्र' में वामन ने भी केवल प्रतिभा ही को काव्य का कारण कहा है। उस के विचार मे प्रतिभा ही कवित्व का बीज है।[5]

अलकार-शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य मम्मट शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन

---

[1] तस्या सारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारणः करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥
मनसि सदा सुसमाधानि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥
प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसा सहजातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा॥

[2] विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता॥
गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः॥ भामहालंकार १, ४-५

[3] अधनस्य दातृत्वं क्लीबस्यास्त्रकौशलम्।
अज्ञस्येव प्रगल्भत्वं, अकवेः शास्त्रवेदनम्॥

[4] तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जना कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥काव्यादर्श, १,१०५

[5] 'कवित्वबीजं प्रतिभानम्'

तीनो को समिलित रूप में काव्य का कारण मानते है।[1] उन का कथन है कि लोक-व्यवहार, शास्त्रो और काव्यादिको के आलोचन से निपुणता प्राप्त होती है और काव्य के मर्मज्ञो द्वारा शिक्षा ग्रहण करना ही 'अभ्यास' है।

शक्ति से कवित्व उत्पन्न होता है और अभ्यास से वढता है, किंतु कवित्व में चारुता लाने के लिए व्युत्पत्ति ही अधिक अपेक्षित है।[2] यदि प्रतिभा काव्य का कारण है तो व्युत्पत्ति उस का भूषण है। यदि प्रतिभा कविता-लता का बीज है तो व्युत्पत्ति और अभ्यास उस के पल्लवित और पुष्पित करने में कारण होते है।[3] यदि केवल प्रतिभा के बल पर कवि कविता करने लगे तो वह सिर्फ अपने विचित्र मनोविजृंभणो को ही अपनी कृति में दरसा सकेगा। उसका वाह्य जगत से सबध विच्छिन्न हो जाता है। उस की स्वप्न-सृष्टि सहृदय को रोचक नही होती। उस की कल्पनाएँ दुरूह मालूम होती है। अतएव कवि में जगत के प्रति अतिशय सहानुभूति होनी चाहिए उसे जगत के व्यवहारो से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। लोक शिक्षण को अपने जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए। वाह्य जगत में अनत विभूतियाँ है जिन के ज्ञान से कवि की प्रतिभा प्रदीप्त हो जाती है। अतएव, व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा कवि को अपनी प्रतिभा प्रखर और प्रौढ बनाना चाहिए।

प्रतिभा क्या वस्तु है ?

प्रतिभा का होना कवि और कवि-कर्म के लिए परम आवश्यक है, इस को सभी आलकारिको ने स्वीकार किया है। प्रतिभा क्या वस्तु है, इस का भी सूक्ष्म विवेचन उन्हो ने किया है। दडी के अनुसार पूर्व-जन्म की वासना के गुण जिस के पीछे लगे हुए है वही ससार को चकित कर देने वाली प्रतिभा है।[4] जिस मन में भाँति

---

[1] शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

[2] कवित्व जायते शक्तेर्वर्धतेऽभ्यासयोगत ।
तस्य चारुत्वनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी॥ अलकारशेखर

[3] प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कविता प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसबद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥ चद्रालोक

[4] पूर्ववासना गुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्। दडी

भाँति के अर्थों की स्फूर्ति होती हो और सरल सुंदर पद सूझ पड़ते हों वही प्रतिभा है। वह दो प्रकार की है—एक 'सहजा' जो ईश्वर-दत्त शक्ति और दूसरी 'उत्पाद्या' जो गंभीर और व्यापक ज्ञान के उपार्जन से उत्पन्न होती है। रुद्रट ने प्रतिभा की उक्त रीति से व्याख्या की है। वाग्भट ने उस में कुछ और विशेषण जोड़ कर 'प्रतिभा' की व्याख्या को विशद कर दिया है। उस ने लिखा है—

'सरल और सुंदर पद और नवीन अर्थ और युक्तियाँ सुझाने वाली उत्तम कवि की चमकती हुई बुद्धि ही प्रतिभा है जो सब ओर देखने वाली है।'[1]

बुद्धि का 'सर्वतोमुखी' होना ही उत्तम कवि का लक्षण है। स्फूर्ति और संस्कार तो साधारण कवि में भी होते हैं। जहाँ कहीं कवि की दृष्टि पड़े वहीं उसे अपनी कृति के लिए कुछ न कुछ उपकरण मिलना चाहिए। उस का दृष्टि-क्षेत्र विशाल होता और कल्पना-शक्ति सजीव रहती है। जैन आचार्य हेमचंद्र का मत है कि जिस में नए-नए विचारों का उन्मेष होता हो उस प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है और वह कवि है जो ऐसी प्रज्ञा के आवेश में वस्तु का सजीव चित्रण करने में चतुर होता है। ऐसे चतुर चितेरे का कर्म ही काव्य कहलाता है।[2]

सभी संस्कृत के आलंकारिकों ने एक मत हो कर यह मान लिया है कि कवि में नैसर्गिक शक्ति या प्रतिभा अवश्य होनी चाहिए। अपूर्व वस्तु के निर्माण करने की शक्ति रखने वाली, अभिनवोन्मेषशालिनी, सर्वतोमुखी प्रज्ञा ही कवि का विशिष्ट गुण है।[3] यदि उस में यह गुण नहीं है तो उस की कृति सहृदय की दृष्टि में उपहासा-स्पद ही होगी। भामह का कथन है कि कविता न करने से कोई अधर्म, व्याधि या दंड नहीं होता, किंतु कुकविता को विद्वान साक्षात् मृत्यु ही मानते हैं।[4] कवित्व-शक्ति

---

[1] प्रसन्नपदनव्यार्थं युक्त्युद्बोधविधायिनी।
स्फुरन्ती सत्कवे बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी।
वाग्भटालंकार, १, ३

[2] प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणो कविः॥
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्। हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, ३

[3] प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। ध्वन्यालोक

[4] नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ भामह

के विकास का दूसरा हेतु 'निपुणता' है जो कि, शास्त्र, काव्य आदि के अवलोकन से प्राप्त होती है। कवि को बहुश्रुत अनेक शास्त्रो का पारदर्शी होना चाहिए। उसे दुनिया का खूब ज्ञान होना चाहिए। मानव-प्रकृति का उसे पूरा अनुभव होना चाहिए। सृष्टि का सूक्ष्मरूप से निरीक्षण करने की उसे योग्यता होनी चाहिए। 'प्रतिभा' और 'व्युत्पत्ति' के समिश्रण से कवि-भारती में अपूर्व चमत्कार आ जाता है। जिस व्युत्पन्न और प्रतिभाशाली कवि ने बारबार उन सहृदय विद्वानो की शिक्षा से लाभ उठाया है जो काव्य की रचना और आलोचना में बडे प्रवीण है, नि सदेह उस की कला के सर्वांग-सुदर होने में कोई कसर नही रहती। अतएव आचार्य मम्मट का ही सिद्धात समीचीन प्रतीत होता है कि कवित्व-शक्ति के पूर्ण विकास के लिए, प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनो ही गुण आवश्यक है।[1] 'कवि जन्म से होते है, अभ्यास से नहीं' इस अग्रेजी की कहावत मे सत्य का सिर्फ अश-मात्र है—पूर्ण तथ्य नही।

आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषा में हम 'प्रतिभा' को कल्पना-शक्ति[2] कहते है। पूर्व अनुभव का अनुचिंतन करना मन का साधारण व्यापार है, जो वस्तु पहले अनुभव में आ चुकी है उस का सस्कार कालान्तर में मन में फिर से स्फुरित हो जाता है। ऐसे मनो-व्यापार को पुनरोद्बोधक कल्पना-शक्ति[3] कहते है। यह शक्ति स्वाभाविक और न्यूनाधिक अश में सभी मनुष्यो को प्राप्त है, किंतु कवि की इस शक्ति में यह विशेषता है कि उस के मन में पूर्व-सस्कार विशद रूप से उदित होते है और वह उन्हे प्रस्फुट रूप से प्रकट कर सकता है। परतु कवि की प्रतिभा में इस से भी अधिक उत्कृष्ट कल्पना शक्ति रहती है। इसे सस्कृत के आलकारिक 'अपूर्व-वस्तु निर्माण-क्षमता'[4] कहते है। मेधावी मनुष्य अपने ज्ञान-कोष से वा सचित सस्कारो से यथेष्ट तत्व ग्रहण कर, उन से एक नवीन वस्तु की कल्पना कर सकता है। मन की यह निर्माण-क्षमता कवि में बहुत अधिक मात्रा में हुआ करती है। जिस में जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी

---

[1] प्रतिभा बहुशास्त्रदर्शिता बहुधा काव्यविदा च शिक्षया।
मुहुरभ्यसन मनोधिभि कथित कारणमस्य सभवे॥ एकावली

[2] 'इमेजिनेशन'। [3] 'रिप्रोडक्टिव इमेजिनेशन'। [4] 'क्रिएटिव इमेजिनेशन'।

यह उतनी ही अच्छी काव्य रचना कर सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नए-नए भावों की स्फूर्ति जिस के हृदय में नहीं होती वह कभी सहृदयाह्लादक कविता नहीं कर सकता। महाकवि शेक्सपियर ने लिखा है कि 'जैसे-जैसे कल्पना-शक्ति अज्ञात वस्तुओं के आकारों की रचना करती है, वैसे-वैसे कवि की लेखनी उन्हें शब्दों द्वारा चित्रित कर मूर्तिमान बना देती है और जो वस्तु प्रतीत नहीं होती उसे स्थान और नाम दे डालती है।'

कवि भावमय जगत में विहार करता है। वह सदा स्वप्न की अवस्था में रहता है। जैसे जीव स्वप्न में अनेक प्रकार की रचनाएँ करता है, वैसे कवि भी अपनी कल्पना से लोकोत्तर सृष्टि रचता है। परमात्मा की नियमबद्ध प्रकृति के दृश्यों को अपनी कला से परिवर्तित कर उन से नई सृष्टि रचने में ही कवि अपनी कारीगरी समझता है। कवि के मनोराज्य की कहीं सीमा नहीं—उस की कल्पना की कोई इयत्ता नहीं। इस लिए आचार्य मम्मट ने कवि भारती की रचना को ईश्वरकृत रचना से भी कुछ विलक्षण बतलाया है।[१] यूनान के तत्वदर्शी प्लेटो का कथन है कि जब तक कवि में ईश्वर की प्रेरणा नहीं होती, जब तक उस का चित्त स्वस्थ दशा से उन्माद की अवस्था में नहीं आता और जब तक उस की कल्पना शक्ति अमर्याद नहीं होती, तब तक कवि से कविता नहीं की जा सकती।

अपूर्व वस्तु के निर्माण करने की क्षमता से भी बढ़ कर कवि की प्रतिभा में एक और भी विशिष्ट शक्ति है। इसे हम 'तत्वदर्शिता'[२] कह सकते हैं। 'कवयः क्रान्तदर्शिनः'—कवि लोग क्रांतदर्शी हुआ करते हैं। उन के अंतर्नेत्र खुल जाया करते हैं। वे अतींद्रिय वस्तुओं का सहज ही में साक्षात्कार कर लेते हैं। प्रतिभा की उच्चतम भूमिका में पहुँचने पर कवि के 'दिव्यचक्षु' उन्मीलित हो जाते हैं।[३] ऐसे कवि तत्वदर्शी होते हैं और उन की प्रज्ञा 'ऋतंभरा'—सत्य से भरपूर—कहलाती है।[४] कवि-

---

[१] नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ काव्यप्रकाश

[२] 'इनट्यूइटिव इमैजिनेशन'।

[३] दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्। गीता

[४] 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। योग-सूत्र

वर्डस्वर्थ ने ऐसी प्रतिभा को 'दिव्य दृष्टि और दिव्य शक्ति'[1] कह कर वर्णित किया है।

आनदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में लिखा है—

अपारे काव्य-ससारे कविरेव प्रजापति ।
यथाऽस्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्तते ॥

अर्थात् काव्यरूपी जो अपार ससार है, उस में कवि ही सृष्टिकर्ता है, उसे जिस तरह का विश्व पसद होता है, इस विश्व को उसी प्रकार बदल जाना पडता है।

कवि की महिमा को सस्कृत के आलकारिको ने भली भाँति समझ लिया था, और उन्हो ने उस की गुण-गरिमा की अच्छी विवेचना की है। आदर्श कवि कैसा होना चाहिए, उस में कौन से असाधारण गुण हुआ करते है, उस की प्रतिभा की कहाँ तक पहुँच है, इन विषयो की चर्चा उन्हो ने प्रगल्भ पाडित्य से की है। वे सच्चे कवि को अजर और अमर बतलाते है[2]—

जयन्ति ते सुकृतिन· रससिद्धा कवीश्वरा ।
नास्ति येषा यश· काये जरामरणज भयम् ॥

उत्तम कवि अमर कीर्ति चाहते है। मृत्यु के पश्चात् उन का कीर्ति-कलेवर बना रहे और लोग उन की कोमल-कात कृतियो को अपने हृदय का हार बना ले, इस वासना से प्रेरित हो कर जगत के महाकवि अपने स्निग्धगभीर सगीत की रचना करते है। कालिदास की भाँति इग्लैड के महाकवि मिल्टन ने 'कवियश प्रार्थी' हो कर लिखा है— "अपने स्वभाव की उत्कट प्रवृत्ति के योग से परिश्रम और निरतर अध्ययन कर के मैं भविष्य के लिए कुछ ऐसी कृति का निर्माण कदाचित् कर जाऊँगा जिसे लोग नष्ट न होने देंगे।" हिंदुओ का अटल विश्वास है कि कवि की कृति और कीर्ति बड पुण्यपुज से अजर, अमर हुआ करती है—

प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणा प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ।

भारवि

---

[1] 'दि विज़न ऐंड फैक्ल्टी डिवाइन'।

[2] उपेयुषामपि दिव सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातक कान्त काव्यमय वपु ॥ भामह

भारत के सहृदय विद्वानों ने जैसा कवि का वैसा ही उस की कला का उत्तम आदर्श अपने लक्ष्य में रक्खा था। काव्य क्या वस्तु है, इस के विषय में संस्कृत के अलंकारशास्त्रों में बहुत विचार किया गया है और भिन्न-भिन्न सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं। कोई आलंकारिक रस को प्रधान मान कर 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहता है, कोई 'ध्वनि' को तो कोई 'रीति' को काव्य की आत्मा मानता है। दंडी और पंडितराज जगन्नाथ रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाले शब्द को ही काव्य कहते हैं।[1] अर्थात् वे काव्य में अर्थ-चमत्कृति को प्रधान और शब्द-चमत्कृति को गौण मानते हैं। भामह, मम्मट[2], विद्यानाथ आदि आलंकारिक शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहते हैं। वामन ने 'विशिष्ट पदरचना' को काव्य बतलाया है।[3] जिन पदों से वाङ्माधुर्य टपकता हो वही काव्य है। इन आलंकारिकों में परस्पर मतभेद होते हुए भी इतना तो निर्विवाद सिद्ध है, कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों ही समानरूप से अपेक्षित हैं। शब्द और अर्थ—यह काव्य का शरीर है, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति उस की आत्मा है। काव्य का पद्यमय ही होना आवश्यक नहीं, वह गद्यमय भी हो सकता है। महाकवि बाण की कादंबरी गद्य में हैं तथापि उसे काव्य ही कहा जाता है। वास्तव में गद्य-रचना ही कवियों की परीक्षा की सच्ची कसौटी है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'। सुबंधु-कृत 'वासवदत्ता' गद्यमय काव्य है जिस के विषय में बाण ने लिखा है कि निःसंदेह 'वासवदत्ता' के कारण कवियों का अभिमान जाता रहा—'कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया'[4]।

संस्कृत में कविता और पद्य को एक ही चीज नहीं माना गया है। पद्य नपा-तुला शब्द-विन्यास मात्र है। कविता में शब्द और अर्थ का चमत्कार होना चाहिए, उस में सहृदय-संवेद्य रस वा ध्वनि होनी चाहिए। कविता और पद्य में वैसा ही भेद है जैसा 'पोयेट्री' और 'वर्स' में है। जिस पद्य के सुनने वा पढ़ने से हमारा चित्त चंचल

---

[1] रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रसगंगाधर
इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः। काव्यादर्श

[2] शब्दार्थौ सहितं काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधम्। भामह
तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। मम्मट

[3] विशिष्टा पदरचना रीतिः—रीतिरात्मा काव्यस्य। वामन
रीयते क्षरत्यस्या वाङ्मधुधारेति रीतिः॥ कामधेनु

[4] हर्षचरित।

नहीं होता वह कविता नहीं। तुकबंदी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं। कभी-कभी कविता को अलंकार की भी जरूरत नहीं। मम्मट का मत है कि दोषरहित, गुणयुक्त और बहुधा अलंकार-सहित शब्द और अर्थ ही काव्य है और वह कभी-कभी अलंकार-रहित भी हो सकता है। यदि कोई कवि भावावेश में कुछ सुंदर वर्णन कर रहा है तो उस में कृत्रिम अलंकारों का निवेश करना निष्फल है, यदि उस के हृद्गत सुंदर भाव के व्यक्त करने वाली पद-ध्वनि में अनुप्रास न हुआ, तो उस में क्या क्षति हुई। यदि कविता के बाह्य आभरणों में कुछ त्रुटि भी रहे, इस से उस के सौंदर्य को बट्टा नहीं लगता। कालिदास ने ठीक ही लिखा है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्।
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति॥
. .. .
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥[१]

कविता में प्रतिभा का प्रकाश होना चाहिए। उस में अलौकिक आनंद देने वाला सामान होना चाहिए। उस में कुछ हृदयस्पर्शी भावों का समावेश होना चाहिए। अन्यथा कविता में गुण ही क्या रहा?

कविता को हृदयंगम बनाने के लिए विशिष्ट पद-रचना बड़ी आवश्यक है। यथोचित पद-विन्यास के बिना कविता वैसी हृदय-हारिणी नहीं हो सकती। कवि लोग शब्दों की योग्यता और सामर्थ्य को भली-भाँति समझते हैं। अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए वे चुन-चुन कर पदों की योजना करते हैं। भामह ने कवि की माली से उपमा दे कर कहा—'जैसे माली सुरभित और सुंदर पुष्पों को चुन-चुन कर और उचित स्थान पर लेजा कर एक माला गूँथता है, वैसे ही कवि को सचेत हो कर शब्दों की योजना करनी चाहिए।'[२]

[१] अभिज्ञानशाकुंतलम्।
[२] एतद्ग्राह्यं सुरभिकुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयम्।
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालाम्।
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम्॥ भामह

कवि को वर्ण्य विषय के अनुकूल पदों का संकलन करने में श्रम करना पड़ता है। निरन्तर अभ्यास करने वाले कवियों की कृति में शब्द-चमत्कार देख पड़ता है। संस्कृत के आलंकारिक रस के अनुरूप शब्द और अर्थ की योजना को 'पाक' कहते हैं।[1] कविता में शब्द आपस में ऐसे हिलमिल कर बैठ जाते हैं कि मानो उन में बड़ी घनिष्ट मैत्री है। अतएव ऐसे शब्द-विन्यास को 'मैत्री' या 'शय्या' भी कहते हैं।[2] व पद परस्पर इतने अनुकूल होते हैं कि दूसरे पर्याय पद से उन में से एक भी नहीं बदला जा सकता। जहाँ कविता की पद-पंक्ति में लेशमात्र भी हेर-फेर हुआ वहीं कवि का स्वर बेसुरा होजाता है। ऐसा करने से कविता का शब्द-चमत्कार जाता रहता है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'शब्द-पाक' उस पद-रचना को कहते हैं जो हमारे श्रवण-पुट में रस-सुधा को उडेलती है। परंतु कर्ण-सुखद होना ही कवि की रचना का उत्कृष्ट गुण नहीं है, क्योंकि कानों का सुख तो क्षणिक है। जब-तब कवि के शब्द हमारे कर्ण-रंध्र में प्रविष्ट हो कर अंतरात्मा में न गूंज उठें और हृदय को अभिभूत न करलें तब तक कवि के कला-नैपुण्य में कुछ कमी ही समझी जाती है। कवि की रमणीय शब्दच्छटा क्षण-क्षण में नवीन मालूम हुआ करती है।[3] उस के 'वाच्यार्थ' की अपेक्षा व्यंग्यार्थ ही मनोवेधक हुआ करता है। कवि कीट्स् ने कहा है कि 'कवि के मधुरालाप कानों को प्रियकर होते ही हैं किंतु उन से भी अधिक मनोज्ञ उन की मधुर-ध्वनियाँ होती है जो कानों से नहीं सुनी जाया करती।'[4] कवि रस के अनुरूप शब्द-योजना किया करते हैं। वे शृंगार, करुण, हास्य और शांत रस के वर्णन में माधुर्य गुण-युक्त पदों का और अद्भुत, वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स रस में ओज गुण-युक्त भाषा का प्रयोग करते हैं। 'प्रसाद'-गुण की आवश्यकता सभी रसों में रहती है। प्रसाद-रहित

---

[1] अनवरतमभ्यस्यतामेव कवीना वाक्यानि पाकमासादयन्ति।
पाकस्तु रसोचित शब्दार्थनिबन्धनम्। श्रवणरससुधास्यन्दिनी पदव्युत्पत्ति पाक इत्यन्ये। पदाना परिवृत्ति वैमुख्य पाक इत्यपरे।

एकावली

[2] या पदाना परान्योन्यमैत्री शय्येति कथ्यते।

प्रतापरुद्रीय, पृ० ६७

[3] क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया।

माघ

[4] 'हर्ड मेलोडीज आर स्वीट बट् दोज़ अनहर्ड आर स्वीटर'। कीट्स

काव्य को तो काव्य कहना ही न चाहिए। 'काव्य प्रकाश'[१] में लिखा है कि माधुर्य-गुण सहृदय में मन को आनंदित करता है और शृंगाररस में इस गुण से हृदय पिघल जाता है। यह गुण करुण, विप्रलंभ, शृंगार और शांतरस में उत्तरोत्तर अधिक देखने में आता है। ओज-गुण वीररस का मुख्य अंग है। इस गुण के प्रभाव में आत्मा मानो तेज से प्रदीप्त हो कर फैल जाता है। बीभत्स और रौद्ररस में इस गुण की उत्तरोत्तर अधिक आवश्यकता होती है। प्रसाद-गुण सर्वत्र होना चाहिए। जैसे सूखी लकड़ी में आग और स्वच्छ वस्तु में जल तुरंत सर्वत्र फैल जाता है, वैसे ही प्रसाद-गुण भी सब रसों में व्याप्त होना चाहिए। जैसा कवि का विषय वैसी ही उस की भाषा-शैली होनी चाहिए। गुण-विशिष्ट रचना का नाम 'रीति' है। जैसे अंग की जुदी-जुदी व्यवस्था से उस में सौंदर्य चमक उठता है वैसे ही उत्तम वर्ण-विन्यास से कविता में उत्कर्ष उत्पन्न होता है।[२]

प्रौढ़ कवियों की पद-रचना में इतना चमत्कार होता है कि शब्दों ही से उन के भाव टपकने लगते हैं। यदि भवभूति के सदृश किसी कवि के करुण-काव्य को हम सुनें और उस की शब्दध्वनियों से हमें ऐसा अनुभव हो कि पत्थर भी रो रहा है और वज्र का हृदय भी फटा जा रहा है—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'—तो समझना चाहिए कि कवि अपनी कला में कृतकार्य हुआ है। यदि हरि-स्मरण में मन सलग्न हो और साथ ही शृंगार की विलास-कलाओं के लिए उत्कंठित हो रहा हो तो हमें कवि जयदेव की मधुर, कोमल-कांत पदावली से युक्त सरस्वती का रसास्वादन करना चाहिए।[३] जिस वर्णन में कोई रस विशेष भी न हो उसे भी कवि

---

[१]आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥
दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण तु॥
शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥

[२]रीतिर्नामाङ्गसंस्थानविशेषवद् गुणहेतुको वर्णविन्यासविशेषः।

विद्याभूषण

[३]यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥ गीतगोविंद

अपने वाग्विभव से चित्रवत् सुचारु और हृदयंगम बना देता है। कभी-कभी कौड़ी के मोल के शब्दों को वह ऐसे स्थान पर जड़ देता है जहाँ वे हीरे की तरह चमक उठते हैं।

काव्य में कोरा 'शब्दपाक' ही नहीं किंतु 'अर्थपाक' भी होना चाहिए। जिस में बाहर और भीतर रस स्फुरित हो उसे 'द्राक्षापाक' कहते हैं। जहाँ रस अंतर में बहुत ही गूढ़ हो उसे 'नारिकेलपाक' कहते हैं। जिस कविता में अर्थगंभीरिमा शब्दों में स्पष्ट झलकती हो उस में द्राक्षा (दाख) की तरह इस का—कवि की भावना का—परिपाक माना जाता है। जिस में कवि के अभीष्ट अर्थ का अन्वेषण करना पड़े ऐसी कविता में नारियल का-सा रस-परिपाक समझा जाता है। वाणी का केवल आडंबर मात्र कविता नहीं। काव्य कोरा कर्णकोलाहल नहीं, किंतु वह 'शब्द ब्रह्मवित्' तथा 'परिणतप्रज्ञ' कवि का वाग्विलास है।[1]

कवि होना सुमहत्पुण्य का फल है। कवि-कर्म अत्यंत दुष्कर है। कवि और काव्य के गुणग्राहक भी कुछ विरले ही होते हैं। कविता का मर्मज्ञ तो कवि के समान हृदयवाला 'सहृदय' होना चाहिए।[2] कवि की भाँति उस में भी प्रतिभा, व्युत्पत्ति और काव्यों के अनुशीलन द्वारा उद्बोधित संस्कार होने चाहिएँ। भावुक मनुष्य ही कविता का वास्तव में रसास्वादन कर सकता है, अतः आनंदवर्धन का कथन है कि वही कविता है जिस में शब्द और अर्थ सहृदयों के हृदयाह्लादक हों। काव्य के रसास्वादन के लिए मनुष्य में वासना होनी चाहिए।[3] किसी ने सच कहा है कि संगीत का आधा गुण उस की स्वर-माधुरी में और आधा सुनने वाले कानों में और चित्र का आधा सौंदर्य चित्र-पट में और आधा देखने वाली आँखों में रहा करता है।

---

[1] अर्थगम्भीरिमा पाकः स द्विधा हृदयंगमः।
द्राक्षापाको नारिकेलपाकश्च प्रस्फुटान्तरौ॥
द्राक्षापाकः स कथितो बहिरन्तः स्फुरद्रसः।
स नारिकेलपाकः स्यादन्तर्गूढरसोदयः॥

प्रतापरुद्रीय, पृ० ६७

[2] सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।

ध्वन्यालोक, ७

[3] सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।

कवि की कमनीय कृति के मर्म को समझने वाले सहृदय कतिपय हुआ करते हैं और वे उच्छृंखल नहीं होते। रसमयी लताओं पर भौंरों के समान वे केवल मुख-चुंबन नहीं करते, किंतु हृदय के सार का रसास्वादन किया करते हैं।

सहृदया: कविगुम्फनिकासु ये।
कतिपयास्त इमे न विशृंखला:॥
रसमयीषु लतास्विव षट्पदा:।
हृदयसारजुषो न मुखस्पृशः॥

सुभाषितावलि

राजपूत जाति

[लेखक—पंडित विश्वेश्वर नाथ रेउ]

शास्त्रों से पता चलता है कि पहले आर्य जाति में किसी प्रकार का वर्ण-विभाग नहीं था। परंतु कालांतर में जाति की उन्नति में आवश्यक खास-खास कामों के लिए खास-खास तरह के पुरुषों की नियुक्ति हो जाने से उस में चार[1] वर्णों की उत्पत्ति हुई। 'भागवत'[2] और 'महाभारत'[3] से भी इस बात की पुष्टि होती है। संभव है हमारे इस कथन में कुछ लोगों को आधुनिक विचारों का प्रतिबिंब प्रतीत हो, परंतु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। इस की पुष्टि में हम अपनी तरफ से अधिक न कह कर बुद्धिमान्, विद्वान्, और विद्वानों का आश्रयदाता समझे जाने वाले राजा भोज के (जिस ने वि० सं० १०६६ के करीब से वि० सं० १११० के करीब तक=ई० स० १०१० के करीब से १०५३ के करीब तक मालवे पर राज किया था) मत को उद्धृत कर देते हैं। उसने अपने 'समरांगण सूत्रधार'[4] नामक ग्रंथ में लिखा है—

'ब्रह्मा ने संसार में शांति बनाए रखने के लिए, पृथु को पहला राजा बनाया; और उस ने राज्य-प्रबंध के सुभीते, और जाति की उन्नति के लिए चार वर्णों और चार आश्रमों की स्थापना की। उस समय देव-भक्त, शुद्ध आचार-विचार वाले, विद्वान्, और

---

[1] ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः. ऊरू तदस्य यद्वैश्यः. पद्भ्यां शूद्रो अजायत।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की ऋचा।

[2] एक एव पुरावेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्यः एकोग्निर्वर्ण एव च॥

[3] एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाविभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥

[4] अध्याय ७, श्लो० १-१७

गुणी पुरुष ब्राह्मण बनाए गए, बहादुर, उत्साही, बलिष्ठ, और रक्षा करने में समर्थ क्षत्रिय हुए, चतुर, धन कमाने की इच्छा वाले, विश्वासी, फुर्तीले और दयावाले वैश्य कहलाए, और इज्जत, धर्म, सच्चाई, और पवित्रता के विचार से शून्य, शूद्र बना दिए गए।'

इस कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि, पहले-पहल आर्य जाति में चारो वर्णों का विभाग गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार ही हुआ था।[1] जन्म से इस का कोई संबंध नहीं था।

इस विषय को यहीं समाप्त कर अब हम आर्य जाति के क्षत्रिय वर्ण के विषय में विचार करते हैं।

वैदिक और पौराणिक साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय वर्ण में भी सूर्यवंश और चंद्रवंश नाम के दो विभाग हो गए थे। सर जार्ज ग्रीयर्सन ने भारतीय आर्यों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं का अध्ययन कर उन का दो विभिन्न दलों में भारत आना और इसी से दो भिन्न वंशों में विभक्त होना माना है। परंतु कुछ काल बाद इस वर्ण में अग्निवंश नाम के तीसरे विभाग का उत्पन्न होना भी पाया जाता है।[2] पहले-पहल इस का उल्लेख विक्रम संवत् की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बने पद्मगुप्त के 'नवसाहसांक-चरित' में मिलता है। उस में लिखा है कि—"आबू पर्वत पर रहने वाले वशिष्ठ ने विश्वामित्र से अपनी गाय छीन लाने के लिए अग्नि से एक वीर पुरुष उत्पन्न किया। वह वीर पर अर्थात् शत्रु को मार कर वशिष्ठ की गाय को वापिस ले आया, इसी से मुनि ने उस का नाम 'परमार' रक्खा।"

इस से अनुमान होता है कि, विक्रम की नवीं शताब्दी के प्रारंभ में किसी वशिष्ठ-गोत्री ब्राह्मण ने किसी बौद्धमतानुयायी क्षत्रियवंश को, प्रायश्चित्त द्वारा, फिर से ब्राह्मण धर्म में दीक्षित कर अपनी सहायता के लिए तैयार किया होगा। परंतु पद्मगुप्त

---

[1] चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
(भगवद्गीता अ० ४, श्लो० १३)

[2] वि० सं० ११६६ (ई० स० ११०९) के गोविंदचंद्र के लेख में लिखा है—
प्रध्वस्ते सूर्यसोमोद्भव विदितमहाक्षत्रवंशद्वयेऽस्मिन्।
...उद्धर्तुं धर्ममार्गान् प्रथितमिह तथा क्षत्रवंशद्वये च॥
इस से प्रकट होता है कि, उस समय तक भी क्षत्रिय वर्ण में सूर्यवंश और चंद्रवंश नाम के दो ही प्रसिद्ध विभाग माने जाते थे।

के समकालीन हलायुध ने अपनी 'पिंगलसूत्रवृत्ति' में इस वंश के राजा मुंज को "ब्रह्मक्षत्रकुलीन"[1] लिखा है।

अग्निवंश का स्पष्ट उल्लेख 'पृथ्वीराज रासो' में पाया जाता है। उस में परमार, चालुक्य (सोलंकी), पड़िहार (प्रतिहार), और चौहान वंशों का वसिष्ठ की अग्नि से उत्पन्न होना मान कर उन्हें अग्निवंशी कहा है। इसी के आधार पर डाक्टर आर० भंडारकर[2] आदि देशी, और मिस्टर वी० ए० स्मिथ आदि विदेशी विद्वान् इन वंशों को आर्येतर—विदेशी (खिजर—गुर्जर) जाति की सन्तान अनुमान करते हैं, और ब्राह्मणों का प्रायश्चित्त करवा कर, इन्हें क्षत्रिय जाति में मिला लेना मानते हैं। परंतु एक तो 'पृथ्वीराज रासो' में दिया पृथ्वीराज, उस के कुटुंबियों और समकालीन नरेशों का अधिकांश हाल इतिहास से विरुद्ध सिद्ध होता है, दूसरे उस में मेवाड-नरेश महारावल समरसिंह का वि० सं० १२४९ (ई० स० ११९२) में पृथ्वीराज की तरफ से लड कर मारा जाना लिखा है। परंतु समरसिंह वि० सं० १३२४ (ई० स० १२६७) के बाद मेवाड की गद्दी पर बैठा था, और वि० सं० १३५९ (ई० स० १३०२) में उस का देहांत हुआ। तीसरा 'रासो' में भविष्यकथन के तौर पर मेवाड-नरेश का वि० सं० १६७७ के बाद दिल्ली विजय करना भी लिखा[3] है। ऐसी हालतों में उस के लेख पर विश्वास कर लेना अनुचित ही है।

वास्तव में देखा जाय तो क्षत्रिय वर्ण के ये वंश-विभाग राजवंशों की प्राचीनता और महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए कवियों की कल्पना मात्र हैं। यदि ऐसा न होता तो भारत के सभी प्रसिद्ध राजाओं के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में उन के वंश का उल्लेख अवश्य मिलता। इस के अतिरिक्त यदि किसी वंश के नरेशों की प्रशस्तियोंमें उन के वंश

---

[1] कुछ विद्वान् इस विशेषण से इन का पहले वशिष्ठगोत्री ब्राह्मण होना, और बाद में क्षत्रियत्व ग्रहण करना अनुमान करते हैं।

आजकल परमार वंशवाले अपने को मालव-नरेश विक्रमादित्य का वंशज मानते हैं।

[2] इंडियन ऐंटिक्वेरी, भा० ४०, पृ० ७-३६

[3] सौरेसे सत्योतरं विक्रमसाक वदीत।
दिल्लीधर मेवातपति लैंहि खगबल जीत।
(तीसरा समय, छं० ४४, पृ० २६५)

का उल्लेख मिलता भी है, तो उस में बड़ी गड़बड़ पाई जाती है। यदि एक स्थान पर एक वंश को सूर्यवंशी लिखा है तो दूसरे स्थान पर उसी को चंद्रवंशी, आदि लिख दिया है। परमार वंश के विषय में पहले लिखा जा चुका है। आगे कुछ अन्य वंशों के संबंध में अवतरण दिए जाते हैं।

चालुक्य (सोलंकी) विक्रमादित्य छठे के वि० सं० ११३३ (ई० स० १०७६) के लेख में चालुक्य (सोलंकी) वंश को चंद्रवंशी लिखा है। परंतु 'विक्रमांकदेवचरित' में उस वंश को ब्रह्मा के चुल्लू से और बिलहारी से मिले हैहय (कलचुरी) युवराजदेव द्वितीय के लेख में द्रोण के चुल्लू से उत्पन्न हुआ माना है।

ग्वालियर से मिली प्रतिहार भोज[1] की प्रशस्ति में प्रतिहारों (पड़िहारों) को सूर्यवंशी लिखा है। परंतु बाउक के वि० सं० ८९४ के लेख में उन की उत्पत्ति हरिश्चंद्र नामक ब्राह्मण की क्षत्रिया स्त्री से बतलाई[2] है।

चौहान लुंभा के, आबू से मिले, वि० सं० १३७७ (ई० स० १३२०) के, लेख में चौहानों को चंद्रवंशी लिखा है। परंतु बीसलदेव चतुर्थ के लेख में उन को सूर्यवंशी कहा है।

ऐसी हालत में देशी और विदेशी विद्वानों का 'पृथ्वीराजरासो' के आधार पर ही उपर्युक्त वंशों को अग्निवंशी मान कर विदेशी गुर्जरों (खिजरों) की संतान अनुमान करना उचित प्रतीत नहीं होता।

आगे राजपूतों को अनार्य जाति की संतान मानने वाले विद्वानों के दिए प्रमाणों पर विचार किया जाता है—

पूर्व पक्ष—

'हरिवंश पुराण' में हैहय (कलचुरि) वंशियों का यवनों, पारदों और कांबोजों के साथ उल्लेख किया गया है। इस से हैहय क्षत्रिय विदेशी[3] हैं।

उत्तर पक्ष—

---

[1] इस का समय वि० सं० ९०० और ९५० (ई० स० ८४३ और ८९३) के बीच माना गया है।

[2] उसी में पहले प्रतिहार वंश का लक्ष्मण से, जो अपने भाई रामचंद्र का प्रतिहार (द्वारपाल) था, उत्पन्न होना ध्वनित किया है।

[3] इंडियन ऍटिक्वेरी, भाग ४०, पृ० २९

परन्तु हैहयों की प्रशस्तियों में उन्हें चन्द्रवंशी लिखा है, और पुराणों में भी उन का शुद्ध क्षत्रिय होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में उन का यवनों, पारदों और काबोजों के साथ उल्लेख होने से ही उन्हें विदेशी मान लेना ठीक नहीं है। इस के अलावा मनु ने तो यवनों, पारदों और काबोजों तक को क्षत्रिय माना है। वह लिखते[1] हैं—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥४३॥
पौण्ड्रकाश्चौड्द्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः ॥४४॥

अर्थात्—पौंड्र, चौड्, द्रविड, कावोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश नाम की क्षत्रिय जातियाँ धीरे-धीरे धार्मिक कर्मों को छोड़ देने और ब्राह्मणों के संपर्क में न रहने से शूद्र समझी जाने लगीं।

पूर्व पक्ष—

'हर्षचरित' में बाण ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन का हूणों के साथ ही गुर्जरों को जीतना लिखा है। इस से गुर्जरों का विदेशी होना और हूणों के साथ भारत में आना सिद्ध होता है।

उत्तर पक्ष—

परंतु वास्तव में बाणभट्ट की लिखी—"हूणहरिणकेसरी, सिंधुराजज्वरो गुर्जर-प्रजागर[2]" इस पंक्ति में गुर्जर शब्द से गुर्जर देश-निवासियों का तात्पर्य ही झलकता है। ऐसी हालत में इस स्थान पर गुर्जर (खिजर) जाति के विदेशी लोगों की कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता। इस के अलावा आज तक के प्राप्त इतिहास से भी विदेशी खिजर जाति का भारत में आना सिद्ध नहीं होता।

पूर्व पक्ष—

राजोर (अलवर राज्य) से मिले प्रतिहार मथनदेव के वि० सं० १०१६ (ई० स० ९६०) के लेख में मथनदेव को गुर्जर प्रतिहारवंशी लिखा है। इसी प्रकार दक्षिण के

---

[1] अध्याय १०
[2] उच्छ्वास २, पृ० २४३

राष्ट्रकूटों की प्रशस्तियों में कनौज के प्रतिहारों को 'गुर्जरेश्वर' और अरबों की पुस्तकों में 'जुर्ज' लिखा है। इस से सिद्ध होता है कि प्रतिहार क्षत्रिय भी विदेशीय गुर्जरों की संतान थे।

उत्तर पक्ष—

परंतु वास्तव में वहाँ पर प्रतिहारों के गुर्जर जाति के होने का उल्लेख न हो कर उन के गुजरात के निवासी या गुजरात के शासक होने का उल्लेख है। उस समय राजपूताने का एक बड़ा भाग 'गुर्जरत्रा'[1] या गुजरात के नाम से प्रसिद्ध था, और उस की राजधानी भीनमाल थी।[2] संभव है, इसी से वहाँ के प्रतिहारों के लेखों में, कन्नौज के प्रतिहारों की शाखा से उन की भिन्नता प्रकट करने के लिए ही उन के निवासस्थान का उल्लेख किया गया हो।

कन्नौज के प्रतिहारों ने चावड़ों[3] को हरा कर पहले अपना राज्य भीनमाल में स्थापन किया था। प्रतिहार नागभट प्रथम (नागावलोक) के सामन्त 'भर्तृवड्ढ' के, वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) के, दानपत्र में उस समय भड़ोंच तक के प्रदेश का प्रतिहारों के अधीन होना प्रकट होता है। इस के बाद यहीं से जा कर इन्हों ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया था। ऐसी हालत में यदि राष्ट्रकूटों की प्रशस्तियों और अरब लेखकों की पुस्तकों में इन्हें 'गुर्जरेश्वर' आदि लिखा है तो इस में आश्चर्य की कौन-सी बात है?

पूर्व पक्ष—

गुर्जर वंशी क्षत्रिय विदेशी खिजर जाति की संतान हैं। यह जाति ईसवी सन् की छठी शताब्दी में, यूरोप और एशिया की सीमाओं के संगमस्थान पर रहती थी। कुछ लोग इस जाति का कनिष्क के समय और कुछ हूणों के आक्रमण के समय भारत में आना

---

[1] प्रतिहार भोजदेव का वि० सं० ९०० का ताम्र-पत्र।
(ऐपिग्राफिया इंडिका, भा० ५, पृ० २११)

[2] हुएन्त्सङ्ग का यात्रा-विवरण।

[3] कुछ विद्वान् चावड़ों को भी गुर्जर वंश का मानते हैं। परंतु लाटके चालुक्य (सोलंकी) पुलकेशीराज के कलचुरि संवत् ४९० (वि० सं० ७९६, ई० स० ७३९) के ताम्रपत्र में लिखा है—"सौराष्ट्र चावोटक मौर्यगुर्जरादिराज्ये"। इस से प्रकट होता है कि उस समय गुर्जर और चावड़े (चावोत्कट) दोनों भिन्नवंशी माने जाते थे।
(बांबे गजेटियर, भा० १, खं० १, पृ० १०९)

अनुमान करते हैं। इसी जाति के संबंध से इस के जीते हुए प्रदेश का नाम गुर्जर या गुजरात हुआ[1] था।

उत्तर पक्ष—

परन्तु एक तो पहले लिखे अनुसार, आज तक के प्राप्त इतिहास से इस जाति का भारत में आना ही सिद्ध नहीं होता। दूसरा भडौच के गुर्जर-नरेश जयभट तृतीय के, कलचुरी संवत् ४५६ (वि० सं० ७६२=ई० स० ७०५) के ताम्रपत्र[2] में इस वंश को महाराजा कर्ण की संतान लिखा है। तीसरा विक्रम की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आने वाले चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने भी गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल और वहाँ के राजाओं को क्षत्रिय बतलाया है।

इसी प्रकार बडगूजर भी क्षत्रिय हैं और उन का विवाह-संबंध अब तक उच्चकुल के क्षत्रियों[3] में होता है।

पूर्व पक्ष—

उत्तर-पश्चिमीय भारत से ससेनियन शैली के कुछ सिक्के मिले हैं। उन पर नागरी

---

[1] श्रीयुत सी० वी० वैद्य का अनुमान है कि, जिस प्रकार महाराष्ट्री भाषा को अपनाने के कारण भारत के एक प्रदेश का नाम महाराष्ट्र हो गया, उसी प्रकार गुजराती भाषा के प्रचार के कारण ही दूसरे प्रदेश का नाम गुजरात हुआ होगा। महाराष्ट्री भाषा का वररुचि के समय (अर्थात् ईसवी सन् से पूर्व की शताब्दी में) भी भारत में प्रचलित होना सिद्ध है।

[2] इंडियन ऐंटिक्वेरी, भा० १३, पृ० ७७

[3] यद्यपि प्राचीनकाल में आर्य जाति के तीनों वर्णों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों में अनुलोम विवाह होते थे, तथापि अंत में इस का निषेध कर दिया गया था। इस की पुष्टि आगे के अवतरणों से होती है। ईसवी सन् से पूर्व की तीसरी शताब्दी में आने वाले ग्रीक लेखक मेगॅस्थनीज़ ने लिखा है—'कोई भी पुरुष न तो अपनी जाति से बाहर विवाह ही कर सकता है, और न अपना पेशा ही बदल सकता है।' (मेगॅस्थनीज़ का मॅक्क्रिंडल-कृत अँगरेज़ी अनुवाद, पृ० ८५-८६)। ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने लिखा है—'प्रत्येक जाति का पुरुष अपनी जाति में ही विवाह कर सकता है।' (हुएन्त्सांग का थॉमस वाटर्स-कृत अनुवाद, भा० १, पृ० १६८)।

इस के अलावा यदा-कदा हो जाने वाले अनुलोम विवाहों की संतान माता के वंश की समझी जाने लगी थी। जैसे मारवाड के राठोड मूहण की क्षत्रिया स्त्री की संतान मूहणोत क्षत्रिय और वैश्या स्त्री की संतान मूहणोत वैश्य समझी जाती है।

में "श्रीवासुदेव वहमन" और पहलवी में "तकान जाउलस्तान सपर्द ल्क्षान" लिखा[1] है। कुछ विद्वान् 'वहमन' को 'चाहमान' मान कर इस वासुदेव को चाहमान वंश का सब से पहला ज्ञात नरेश मानते हैं, और सिक्कों में के 'सपादलक्षान' से हिमालय के सिवालक भाग में प्रसिद्ध पहाड़ी प्रदेश का तात्पर्य लेते हैं। उन का अनुमान है कि हूणों के साथ आनेवाले गुर्जर (खिजर) जाति के लोग ही वहाँ जा कर बस गए थे। इस से चाहमानों के गुर्जर होने में कोई संदेह नहीं रहता। ये सिक्के खुसरो द्वितीय (परवेज) के सैंतीसवें राज्य-वर्ष के सिक्कों से मिलते हुए हैं। इस लिए चाहमान वंशी वासुदेव का समय वि० सं० ६८४ (ई० स० ६२७) के करीब होना चाहिए।

उत्तर पक्ष—

परंतु इस विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। जनरल कनिंगहाम इन सिक्कों में के वासुदेव को हूणवंश का और मिस्टर रैपसन ससेनियन वंश का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार अन्य विद्वान् लेख में के कल्पित 'चाहमान' को 'वहमन' पढ़ते हैं।

इस के अलावा राजशेखर सूरि के बनाए 'प्रबंधकोष'[2] के अंत की वंशावली में चाहमान वासुदेव का समय वि० सं० ६०८ (ई० स० ५५१) लिखा है। इस समय में और उपर्युक्त सिक्कों के आधार पर स्थिर किए समय में ७६ वर्ष का अंतर आता है।

चौहानों के इतिहास से ज्ञात होता है कि इस वासुदेव का सातवाँ वंशज गूवक (प्रथम) था। हर्षनाथ से मिले वि० सं० १०१३ के लेख में उस का, अपनी वीरता के कारण, नागावलोक की सभा में वीर की पदवी प्राप्त करना लिखा है। चौहान भर्तृवृद्ध के वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) के लेख में भर्तृवृद्ध को नागावलोक का सामंत कहा है। इस से नागावलोक और गूवक का वि० सं० ८१३ के करीब विद्यमान होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में इस समय में से वासुदेव से गूवक तक के आठ राजाओं के लिए २०० वर्ष का समय निकाल देने से वासुदेव के राज्यारंभ का समय 'प्रबंधकोष' में दिए समय के निकट ही आता है।

---

[1] इन में के अन्य प्रकार के सिक्कों पर पहलवी में "सफ़ सर्स तेफ (श्रीवासुदेव) वहमन मुल्तान मल्का" लिखा है।

[2] यह कोष वि० सं० १४०५ (ई० स० १३४९) में बनाया गया था।

फिर, चौहानों का राज्य पहले-पहल सिंध या मुलतान में न रह कर अहिच्छत्रपुर में रहा था, और वहीं से ये शाकंभरी (साभर) की तरफ आए थे। चीनी यात्री हुएन्त्सग ने (जो वि० म ६९७=ई० स० ६४० के करीब भारत मे आया था) अपने यात्रा-विवरण में इस नगर का वर्णन किया है, और उसी के आधार पर जनरल कनिंगहाम ने उस का बरेली से २० मील पश्चिम म आधुनिक रामनगर के पास होना माना है।[1] 'महाभारत' के अनुसार भी यह अहिच्छत्रपुर उत्तर पाचाल देश की राजधानी था। रही 'सपादलक्ष' प्रदेश के हिमालय में होने की बात। परतु विद्वान् लोग 'सपादलक्ष' से 'सवा लाख' पहाड़ो के सिलसिले वाले प्रदेश का अर्थ न ले कर सवा लाख गाँवों वाले प्रदेश का तात्पर्य लेते हैं,[2] और चौहानों से शासित साँभर नागोर और अजमेर का प्रदेश इस समय भी 'सवालख' के नाम से पुकारा जाता है। ऐसी हालत में चाहमानों का गुर्जर वंशी होना, और हिमालय की तरफ से राजपूताने मे आना नहीं माना जा सकता।

यही हाल राष्ट्रकूट, गुहिल आदि अन्य क्षत्रिय जातियों का भी हैं। मिस्टर विंसेंट स्मिथ आदि ने राजपूत जाति का ईसवी सन् की आठवीं या नवीं शताब्दी मे एका-एक उत्पन्न होना मान कर उन का विदेशी या आर्येतर होना अनुमान किया है।[3] परतु उन का यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि, ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी मे दक्षिण में राष्ट्रकूटो का राज्य विद्यमान था, और इसी शताब्दी के अंतिम भाग में उस पर सोलंकी जयसिंह ने अधिकार किया था। सोलंकी त्रिलोचनपाल के श० स० ९७२ (वि० स०

---

[1] रुहेलखड के पूर्वी भाग में।

(हुएन्त्सग का थॉमस वाटर्स-कृत अनुवाद, भा० १, पृ० ३३२ और 'ऐनशियेंट जीओग्राफी अव् इंडिया', पृ० ३५९)

[2] 'स्कदपुराण' में (जिस का रचनाकाल ईसवी सन् की नवीं शताब्दी अनुमान किया जाता है) साभर, मेवाड, कर्नाटक आदि प्रदेशों में से प्रत्येक में सपादलक्ष (सवा-सवा लाख) गाँव होना लिखा है।

(कुमारखड, अध्याय ३९, श्लो० १३९-१४०)

[3] मिस्टर वी० ए० स्मिथ का चंदेलो, राठोडो और गाहडवालों को अनार्य, गौंड, भर, और खरवारो की संतान अनुमान करना भी प्रमाणशून्य ही है। गाहडवालो के लिए देखो हमारा लिखा 'राष्ट्रकूटो (राठोडो) का इतिहास' या 'भारत के प्राचीन राजवंश', भा० ३

चंदेलों के शिलालेखो में उन को चद्रवंशी लिखा है।

११०७= ई० स० १०५१) के नाम्रपत्र से प्रकट होता है कि, राष्ट्रकूटों के दक्षिण में जाने से पहले उन (राष्ट्रकूटों) का राज्य किसी समय कन्नौज में भी रह चुका था,[1] और अशोक के लेखों में के 'रठिक', 'रिस्टिक' आदि नामों को देखने से उन (राष्ट्रकूटों= राठोडों) का उस समय भी विद्यमान होना सिद्ध होता है।

इसी प्रकार मेवाड राज्य के इतिहास से गुहिल वंश के संस्थापक गुहिल (गुहदत्त) का ईसवी सन् की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में और बापा रावल का ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मौजूद होना पाया जाता है।

मि० स्मिथ आदि का, राजपूत[2] के नाम से प्रसिद्ध होने के कारण भी, वर्तमान क्षत्रिय वंशों के आर्य-संतान होने में संदेह करना उचित नहीं है। क्योंकि यह राजपूत शब्द राजपुत्र शब्द का ही अपभ्रंश है। जिस प्रकार आजकल राजपूत-नरेशों के छोटे पुत्रों के वंशज कुछ पीढ़ी बाद ठाकुर कहाते है और अवध के तालुकेदारों के छोटे पुत्र या उन की संतान अपने नाम के साथ कुँअर शब्द का प्रयोग करती हैं, उसी प्रकार, संभव है पहले के नरेशों की छोटी संतान साधारण क्षत्रियों से अपनी श्रेष्ठता दिखलाने के लिए अपने को राजपुत्र के नाम से प्रसिद्ध करने लगी हो, और कुछ ही शताब्दियों में अनेक राजवंशों के उदयास्त के कारण ऐसे राजपुत्रों की संख्या बढ़ जाने और उन की दशा में समयानुसार परिवर्तन होते रहने से क्षत्रिय जाति का यही अंश राजपूत के नाम से प्रसिद्ध हो गया हो, तथा साधारण क्षत्रिय-समाज अन्य अनेक उपजातियों के पेशों को अंगीकार कर लेने के कारण उन-उन जातियों में विलीन हो गया हो।[3]

---

[1] कान्यकुब्जे महाराज राष्ट्रकूटस्य कन्यकाम्।
लब्ध्वा सुखाय तस्यां स्व चौलुक्यान्पुहि संततिम् ॥६॥
(इंडियन ऐंटिक्वेरी, भा० १२, पृ० २०१) में उद्धृत

[2] 'शब्दकल्पद्रुम' नामक कोष में 'पाराशरस्मृति' का यह श्लोकार्द्ध उद्धृत किया गया है :—

वैश्यादम्बष्टकन्यायां राजपुत्र प्रजायते।

परंतु 'पाराशरस्मृति' की छपी हुई प्रति में इस का पता नहीं चलता। संभव है किसी ने आधुनिक रावणा राजपूत जाति को देख कर ही इस श्लोकार्द्ध को उस में जोड़ दिया हो।

[3] राजपूताने की अनेक उपजातियों में मिलने वाली शाखाओं से इस का समर्थन होता है।

कर्नल टॉड ने अपने 'राजस्थान के इतिहास' में मुगल बादशाहों के यहाँ एक लाख राठोड सैनिकों का होना लिखा[1] है। संभवत. इन में अधिकांश संख्या मारवाड राज्य के संस्थापक राव सीहाजी के वंशज राठोड राजपूतों की ही थी। इस से भी ऊपर लिखे, राजपुत्रों की संख्यावृद्धि वाले, अनुमान की पुष्टि होती है।

ईसवी सन् से पूर्व की छठी शताब्दी में होने वाले पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के

गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुञ्

(४।२।३९)

इस सूत्र में ऐसे राजपुत्रों के समूह के अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय का उल्लेख किया गया है।

विक्रम की दूसरी शताब्दी के कवि अश्वघोष ने भी अपने 'सौंदरानंद' नामक महाकाव्य में राजपुत्र शब्द का उपयोग किया है।

केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः

(सर्ग १, श्लो० १८)

कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक में लिखा है—

मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य...

(अंक ५, पृ० १०३)

बाणभट्ट ने भी वि० सं० ६७७ (ई० स० ६२०) के करीब लिखे अपने 'हर्ष-चरित' में राजपुत्र शब्द का प्रयोग किया है।[2]

इसी प्रकार 'महाभारत' में भी अनेक स्थानों पर क्षत्रिय के लिए राजपुत्र शब्द का प्रयोग स्पष्ट तौर से मिलता है। जैसे—

एतेश्चमरथा नाम राजपुत्रा महारथाः।
रथेश्वस्त्रेषु निपुणा नागेषु च विशांपते ॥२०॥

(द्रोणपर्व, अध्याय ११२)

---

[1] 'ऐनाल्स ऐंड ऍंटिक्विटीज़ अव् राजस्थान', क्रुक-संपादित, पृ० १०५-१०६

[2] (पुष्पभूतिस्तु) अपरेद्युः उत्थाय कतिपयैरेव राजपुत्रैः परिवृतो भैरवाचार्यं द्रष्टुं प्रतस्थे (उच्छ्वास ३, पृ० २४१)

भैक्षचर्या तत प्राहुस्तस्य सद्धर्मचारिण: ।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि ॥
(शांतिपर्व, अध्याय ६४)

इब्नखुर्दादबा ने हिजरी सन् ३०० (वि० स० ९६९—ई० स० ९१२) के करीब 'किताबुल्-मसालिकुल्-ममालिक' नाम की पुस्तक लिखी थी। उस मे लिखा[1] है—

'हिंदुस्तान में कुल सात जातियाँ हैं। १ सब्कौआ, २ ब्रह्म, ३ कतरीअ, ४ सूदरिआ, ५ वैसुरा, ६ सडालिआ और ७ लहूड।

सब्कौआ—यह जाति सब से उच्च मानी जाती है, और राजा लोग इसी जाति में से चुने जाते हैं।

कतरीअ—इस जाति के लोग शराब के केवल तीन प्याले तक पी सकते हैं। ब्राह्मण लोग इन की कन्याओं से विवाह कर सकते हैं। परतु वे अपनी कन्याएँ उन्हें नहीं देते।'

इन विवरणों से सिद्ध होता है कि, उस समय क्षत्रिय जाति के दो विभाग थे। एक सब्कौआ=सुक्षत्रिय अथवा राजपुत्र, (क्योंकि राजा लोग इसी उच्च वंश के होते थे), और दूसरा कतरीअ (साधारण) क्षत्रिय। परतु ब्राह्मणों के साथ उन की कन्याओं का विवाह हो सकने के उल्लेख से उन (कतरीओं) का भी शुद्ध क्षत्रिय होना सिद्ध होता है।

यह भी सभव है कि, ये राजपुत्र या उच्च राजवंशी क्षत्रिय साधारण शुद्ध क्षत्रियों में श्रेष्ठ समझे जाने के कारण ही मुसल्मानों के शासनकाल में खास तौर पर राजपूत के नाम से प्रसिद्ध हो गए हों।

इस के अलावा ईसवी सन् १९०१ की मर्दुमशुमारी के समय राजपूतों के विषय में अनुसधान करने वाले मनुष्य-शरीर की रचना के विशेषज्ञ सर एच० रिज़्ले ने भी उन की सीधी नाक, लबे सिर और लबे शरीर की परीक्षा कर उन का आर्य-सतान होना प्रकट किया था।

आगे हम राजपूत जाति के विषय में दूसरे पहलू से विचार करते हैं।

---

[1] ईलियट्, 'हिस्ट्री अव् इंडिया', भा० १, पृ० १६-१७

उपर्युक्त विद्वानो के कथनानुसार यदि थोडी देर के लिए राजपूतों को बाहर से आकर भारत पर आक्रमण करने वाली शक, कुशान और हूणो की सतान मान भी लिया जाय तब भी उन के आर्य-वशी होने मे बाधा नही पडती। क्योकि रामायण, महाभारत, स्मृति, पुराण और आधुनिक खोज से प्राप्त हुई सामग्री से ज्ञात होता है कि, एक समय भारतीय आर्यो की सतान देशविजय करती हुई शको के निवासस्थान, तिब्बत के उत्तरी भाग, तथा कुशान और हूणो के निवासस्थान मध्य एशिया म जा कर बस गई थी। इसी प्रकार अनेक सूर्य और चद्रवशी नरेशो ने भारत से बाहर अपने उपनिवेश या राज्य स्थापन किए थे। उदाहरण के लिए भरत के पुत्रो के कधार मे राज्य-स्थापन करने, प्रचेता के पुत्रो के भारत के उत्तर मे स्थित म्लेच्छ देश पर शासन करने, और अर्जुन के पाताल (अमेरिका) विजय करने के उल्लेख ही पर्याप्त होगे। हमारे प्राचीन ग्रथो मे अनेक राजाओ का 'त्रिविष्टप' विजय करना भी लिखा है। आजकल के ऐतिहासिक इसे तिब्बत का ही सस्कृत नाम मानते है।

कुछ वर्ष पूर्व डाक्टर स्टीन को चीनी तुर्किस्तान मे, रेत म दबे, खरोष्ठी लिपि के अनेक लेख मिले थे। उन मे प्रयुक्त हमारी भारतीय प्राकृत भाषा और महानुभाव, महाराज, भट्टारक, श्रमण आदि आर्य उपाधियो को देखने से वहाँ पर भी आर्यों के उपनिवेश का रहना सिद्ध[1] होता है।

उदाहरण के लिए उन लेखो मे लिखी भारतीय प्राकृत और आर्य उपाधियो के कुछ नमूने यहाँ पर दिए जाते है—

प्रियदेवमनुशस प्रियदर्शनस प्रियभ्रतु।
महनुभवमहरय जिट्ठघर्मश्रमण देवपुत्रमरो॥

इसी प्रकार जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि टापुओं मे मिली हिंदू देवताओ की अनेक मूर्तियो और सस्कृत भाषा के अनेक लेखो को देखने से वहाँ पर भी आर्यों का अधिकार रहना सिद्ध होता है। अमेरिका की पुरानी 'मय' सभ्यता के चिह्न भी वहाँ पर भारतीयो के उपनिवेश या अधिकार रहने का अनुमान कराते है।

---

[1] इन्हीं प्रमाणो को देख कर आधुनिक विद्वान् उस प्रदेश को 'सेरिंडिया' के नाम से पुकारते है।

चीनी लोग भारतीयों द्वारा अधिकृत रहने के कारण ही चीन और भारत के बीच के प्रदेश को 'शितू'[1] सिंधु का एक भाग कहते थे।[2]

ऐसी हालत में इन शक, कुशान और हूणों को भी उन देशों में जा बसने वाले भारतीय आर्यों की सन्तान मान लेने में कोई आपत्ति नज़र नहीं आती। फिर स्वयं मनु ने भी पहले लिखे अनुसार पौंड्रक, चौड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खशों का क्षत्रिय होना माना है। हाँ, उन के ब्राह्मण-हीन देशों में जा बसने और धार्मिक कृत्यों को छोड़ बैठने से उन्हें वृषल की संज्ञा अवश्य दी है। परंतु ऐसे तो ब्राह्मण धर्मानुयायियों ने द्वेष के कारण भारत के मगध, कलिंग आदि बौद्ध और जैनमत-प्रधान देशों और वहाँ के निवासियों को भी अपवित्र लिख दिया है। ऐसी हालत में पहले तो बिना पूरा प्रमाण मिले राजपूत जाति को शकों आदि की सन्तान मानना ही अनुचित है। फिर यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय तो ऊपर उद्धृत किए प्रमाणों से उन जातियों का भी भारतीय आर्य या क्षत्रिय होना ही सिद्ध होता है।

आगे कुछ और भी ऐसी बातों का उल्लेख किया जाता है, जिन से हमारे इस कथन की पुष्टि होती है।

शक वंश के राजाओं के सिक्कों पर सूर्य, चंद्र और गंगा के चिह्न बने हैं। उन के सिक्कों और लेखों में हमारी प्राकृत भाषा का[3] प्रयोग मिलता है। उन के नाम अधिकतर भारतीयों के नामों के समान ही—रुद्रसिंह, स्वामी सत्यसिंह, स्वामी रुद्रसेन आदि पाए जाते हैं।

कुशान वंश के राजाओं के सिक्कों पर शिव और नंदी की, या हवन करते हुए

---

[1] ई० स० से १२३ वर्ष पूर्व हन वुटी के समय यह प्रदेश चीन राज्य की पश्चिमी सीमा के पास तक फैला हुआ था।

(हुएन्त्संग का थॉमस वाटर्स-कृत अनुवाद, भा० १, पृ० १३३-१३४)

परंतु इस प्रदेश का शितू नाम अशोक से चार-पाँच सौ वर्ष बाद पड़ा था। रोमन लोग इसी को परला हिंद ('फर्दर इंडिया' या 'ट्रांस गैंजेटिक इंडिया' कहने लगे थे)।

[2] हुएन्त्संग के यात्रा विवरण से ज्ञात होता है कि ई० स० ६३० के क़रीब कपिस (काफिरिस्तान या अफ़ग़ानिस्तान) में क्षत्रिय राजा राज करता था।

(हुएन्त्संग का थॉमस वाटर्स-कृत अनुवाद, भा० १, पृ० १२२-१२३)

[3] अप्रतिहतचक्रस छत्रपस रजबुलस।

राजा की मूर्ति बनी होती है। उन पर प्राकृत भाषा से मिलती हुई भाषा[1] लिखी रहती है। उन की उपाधियाँ भी भारतीय नरेशो की उपाधिया के समान ही—महाराज, राजातिराज (या राजाधिराज) ईश्वर, महेश्वर और देवपुत्र मिलती हैं। उन में के एक राजा का नाम वासुदेव था। हूणवश के सिक्को पर त्रिशूल और नदी के चिह्न मिलते है, उन पर संस्कृत भाषा[2] लिखी होती है। उन की उपाधियाँ भी भारतीय नरेशो की उपाधिया के समान ही—वृषध्वज और महाराज मिली है। उस वश के एक राजा का नाम मिहिरकुल था और वह कट्टर शैव था।

हूणवश का उल्लेख विक्रम की १५वी शताब्दी मे बने, 'कुमारपालचरित' म क्षत्रियो के ३६ कुलो में किया गया है, और 'राजतरंगिणी' के कर्ता ने भी क्षत्रियो के ३६ कुल माने है।

कर्नल टॉड ने राजपूतो और सीथियनो के रीति-रिवाजो को मिलता हुआ बतला कर राजपूतो को अनार्य, सीथियन या शक मान लिया है। परतु यह ठीक नही है। क्योकि ऊपर लिखे अनुसार वे सीथियन भी भारतीय आर्यों की सतान ही सिद्ध होते हैं। ऐसी हालत में दोनो के रीति और रिवाजो का बहुत कुछ मिलते हुए होना कोई आश्चर्य की बात नही है।

अस्तु, इस लेख को समाप्त करने के पूर्व हम राजपूतो को अनार्य मानने वाले विद्वानो से एक बात पूछना चाहते है, और वह यह है कि, यदि वास्तव में उन का ही अनुमान ठीक है तो आखिर सुदीर्घ काल से भारत मे राज्य करने वाले वे पुराने क्षत्रिय-वश कहाँ और कैसे लुप्त हो गए?

(१) यदि यह कहा जाय कि उन के बौद्ध या जैनमत ग्रहण कर लेने से उन का वर्ण नष्ट हो गया तो यह बात उचित प्रतीत नही होती, क्योकि वैशाली के लिच्छवि क्षत्रियो के बौद्धधर्म ग्रहण कर लेने और दक्षिण के राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष प्रथम के जैनमत ग्रहण कर लेने पर भी उन के वशज क्षत्रिय ही बने रहे थे।

(२) यदि यह मान लिया जाय कि विदेशी आक्रमणकारियो ने क्षत्रिय वर्ण को

---

[1] महरजस रजदिरजस सर्वलोग ईश्वरस महिश्वरस हिमकपिशस।

[2] विजितावनिरवनिपति श्रीतोरमाणदेव जयति।

समूल नष्ट कर दिया तो यह भी संभव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि हूण नरेश मिहिरकुल के (वि० सं० ५९९=ई० स० ५४२ में) मरने के बाद से क़रीब पौने पाँच सौ वर्ष (अर्थात् महमूद ग़ज़नवी के पंजाब पर अधिकार करने) तक भारतवर्ष बाहरी आक्रमणों से बचा रहा था।[1] और लिच्छवि क्षत्रियों के वि० सं० ८११ (ई० स० ७५४) तक के मिले लेखों[2] से उन का उस समय तक भी विद्यमान होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में 'पाराशर स्मृति' के "कलावाद्यन्तयो स्थितिः" इस वचन की दुहाई दे कर राजपूतों को अनार्य मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता।

---

[1] यद्यपि ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी में अरबों ने सिंध विजय किया था, तथापि उन का प्रभाव भारत के अन्य प्रांतों पर नहीं पड़ा था।

[2] इंडियन ऐंटिक्वेरी, भा० ९, पृ० १६३ और १६७

समालोचना

कोष

ज्ञानकोष—भाग १ (अ—अफसर)। प्रकाशक, डाक्टर श्रीधर व्यंकटेश केतकर, एम्० ए०, पी एच्० डी०, पूना तथा भार्गव-प्रदर्श, गुलेमानी प्रेस, बनारस सिटी। प्रथम सस्करण, १९३४।

साहित्य की वृद्धि के साथ, हमारी भाषा में एक अच्छे विश्वकोष या *'इन्साइक्लोपीडिया'* की आवश्यकता का अनुभव किया जाना स्वाभाविक है। बँगला और मराठी भाषाओ में ऐसे विश्वकोष उपस्थित है। हिंदी भाषा में भी, बँगला विश्वकोष के आधार पर एक विश्वकोष कलकत्ते से प्रकाशित हुआ है। परन्तु उक्त विश्वकोष में अनेक त्रुटियाँ है और अभी एक सुदर सर्वांगीण कोष की आवश्यकता शेष रह जाती है। अतएव हमें इस ज्ञानकोष का स्वागत करना चाहिए। इस कोष के, हिंदी में सपूर्णतया छप जाने पर, हमारे यहाँ एक ऐसी सपत्ति हो जायगी जिस में मराठी कोष पर किया हुआ परिश्रम हमें सुलभ हो जायगा। इस प्रकार हिंदी भाषा में बँगला तथा मराठी दोनो ही विश्वकोषो से लाभ उठाने का अवसर प्राप्त हो जायगा। पुस्तक के आरभ में महामहोपाध्याय डाक्टर गगानाथ झा ने आशीर्वाद रूप 'दो शब्द' कहे हैं। पुस्तक में छ पंक्तियो की एक प्रस्तावना है जिस के लेखक डाक्टर केतकर है, परतु आगे चल कर सपादकीय सचालक श्रीयुत विश्वनाथ प्रसाद भार्गव, बी० ए० बताए गए है। कोष के 'सपादक तथा लेखक-मडल' की सूची में ३३ नाम है जिन में अधिकाश अधिकारी सज्जनो के हैं। हम इस बात को स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इस उद्योग की सफलता के लिए हम हृदय से इच्छुक है।

एक ऐसे विश्वकोष के सबध में, जिस में विभिन्न विषयो के प्रामाणिक लेख अपेक्षित है, किसी एक व्यक्ति के लिए सम्मति देना कठिन है। परतु सपादन-कार्य में साधारणत' असावधानी लक्षित होती है। सब से पहले तो प्रूफ-सशोधन के विषय में

ध्यान दिलाना आवश्यक है। पुस्तक प्रूफ़ की अशुद्धियो से भरी पडी है। उदाहरण के लिए पृष्ठ १२८ के दूसरे स्तम को ले रहा हूँ। यही पृष्ठ सामने खुल गया है। इस स्तम में प्रूफ़ की कम से कम आठ बडी भद्दी अशुद्धियाँ है। 'पदार्थ' चौथी पक्ति में 'पदर्थ' छप गया है; इसी प्रकार सातवी पक्ति में 'सुगन्धित' 'सुगन्धित'। आगे चल कर 'प्रसन्न' का 'न्न' राग-फ़्राट में है। 'आह्लादित' में 'ल्ह' न होना चहिए। फिर 'उत्पन्न' के स्थान पर 'उप्तन्न' छपा है। और आगे 'पुरुष' 'पुरूद' करके छपा है। अत में 'से तव्यार' 'सेत य्यार' हो गया है। इसी अनुपात से ३१९ पृष्ठ के ग्रथ में लगभग पांच हजार अशुद्धियाँ होनी चाहिए। यह अशुद्धियाँ ग्रथ के मूल्य को बहुत घटाती है तथा घोर आपत्ति-जनक है। ग्रथ में विराम-चिन्हो का भी उपयोग त्रुटि-पूर्ण है।

इन पक्तियो का लेखक कुछ और परामर्श देना चाहता है। ग्रथ में आए हुए अंग्रेजी शब्द कहीं-कहीं नागराक्षरो में दिए गए है, जैसे ४२ पृष्ठ पर और बहुत स्थलो पर रोमन अक्षरो में। पृष्ठ ८३ पर तो पुस्तक-सूची सपूर्णतया रोमन अक्षरो में है। इन पक्तियो का लेखक स्वय नागराक्षरो का उपयोग पसद करता है, परतु सपादक-गण जो पद्धति भी उचित समझें उस का सर्वत्र समान रूप से निर्वाह होना आवश्यक है। नामवाची सज्ञाओ के शुद्ध उच्चारण नागराक्षरो में प्रदर्शित किए जाने चाहिए। उदाहरण के लिए 'अकबरपुर' के वर्णन में एक परगने का नाम 'मजारा' दिया गया है। वास्तव में यह मँझौरा है। इसी प्रकार अनुमानत भौगोलिक नामो में अन्य भ्रातियाँ भी होगी क्योकि यह वर्णन अँग्रेजी ग्रथो के आधार पर प्रस्तुत किए गए है। उन को नागराक्षरो में उतारते समय बडी सावधानी की आवश्यकता है।

मुख्य-मुख्य लेखो में लेखको के नाम दे देने चाहिए, जो नही किया गया है। इसी प्रकार मुख्य-मुख्य लेखो में आधार-ग्रथो की सूची भी लगा देनी चाहिए, जो कहीं किया गया है, और कही पर नही। ग्रथ में दिए हुए चित्रो में भी कोई क्रम नही जान पडता। चित्रो का चुनाव किसी सिद्धात पर होना चाहिए, स्फुट रूप से नही। पाठ्य 'मैटर' के साथ विषय को समझाने के लिए भी बहुधा चित्रो की आवश्यकता होगी, जो इस ग्रथ में नहीं है। पुस्तक चिकने कागज पर छपी है, अतएव इस पर हाफ़टोन तथा लाइन दोनो ही प्रकार के चित्र दिए जा सकते है। इस से विषय को समझने में पाठको को सुविधा होगी। ग्रथ के मुख-पृष्ठ पर ज्ञानकोष के विषय में

कहा गया है कि यह "अखिल विश्व की कला, विज्ञान तथा साहित्य का वृहद् भडार है"। ग्रथ को वास्तव में इस प्रकार का 'वृहद् भडार' बनाने के लिए बडा परिश्रम अपेक्षित है। आशा है कि सपादक तथा प्रकाशक इस बात को ध्यान में रक्खेंगे और जहाँ तक सभव होगा आगामी भागो में त्रुटियो से बचने का प्रयत्न करेंगे। यो तो मनुष्यों द्वारा किया हुआ कार्य कब सब प्रकार से पूर्ण हो सकता है।

उपन्यास

तितली—लेखक, श्रीयुत जयशकर 'प्रसाद'। प्रकाशक, भारती-भडार, बनारस। पृष्ठ-सख्या ३८४। मूल्य २॥)

हिंदी के आधुनिक साहित्यिको में श्री जयशकर 'प्रसाद' जी को एक विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। यो तो ऐसे अन्य साहित्यिक भी मिलेंगे, जिन्हो ने एक से अधिक क्षेत्रो में अपनी प्रतिभा दिखाई है, परतु यह अद्वितीय स्थान कदाचित् 'प्रसाद' जी को ही प्राप्त है कि कविता, नाटक, आख्यायिका और उपन्यास सभी के लिखने में वह प्राय समान रूप से प्रसिद्ध हुए है।

'प्रसाद' जी मुख्यतया कवि है, अतएव यह स्वाभाविक ही है कि उन के नाटको, कहानियो और उपन्यासो मे भावुकता का प्राधान्य हो और चरित्र-चित्रण यथार्थवादी न हो कर आदर्शवादी हो जाय। प्रस्तुत पुस्तक में भी चित्रण इसी प्रकार का हुआ है। कोई भी चरित्र नितात दुष्ट-प्रकृति या साधु-प्रकृति का नही हुआ करता। मानव-प्रकृति में गुरुताएँ भी है और दुर्बलताएँ भी। जिसे हम दुष्ट समझे हुए है, उस की अतरात्मा में हम यदि पैठ सके तो हमें कोमल स्थल भी दिखाई देंगे; जिसे हम साधु समझ रहे है, उस का यदि हमें सूक्ष्मतम ज्ञान हो तो कदाचित् उस की त्रुटियो को भी हम देख सकें। हमारे उपन्यास-लेखक मानव-प्रकृति-सबधी इस मनोवैज्ञानिक तत्व को कभी कभी भुला देते है। परिणाम यह होता है कि हमारे श्रेष्ठ से श्रेष्ठ लेखक यथार्थ-वादी नही हो पाते। उन के द्वारा चित्रित चरित्रो में यदि हम मोटे ढग से देखे तो आचरण में स्वाभाविकता तो मिलेगी। परतु इस स्वाभाविकता को यथार्थवादिता का नाम हम न दे सकेंगे। इसी प्रकार यद्यपि 'प्रसाद' जी के इस उपन्यास में स्वाभाविकता का प्रत्यक्ष रूप से प्राय हनन नही हुआ है, परतु पाठक यह अनुभव करता है कि

जो ससार रचयिता ने प्रस्तुत किया है वह काल्पनिक है, यथार्थवादी नही। बुराई वहाँ से आरम होती हैं जब एक पात्र को अच्छा या बुरा स्वीकार कर के चलते है।

उपन्यास का कथानक प्रधानतया देहाती-जीवन से सबध रखता है। लेखक ने अपनी कल्पना और बुद्धि के अनुसार ग्रामीण समस्यायो के सुलझाने के ढग निश्चित किए है। जान पडता है कि लेखक ने अपने पात्र इस दृष्टि से चुने है कि उन के द्वारा उस ग्राम-सुधार की स्कीम अग्रसर होती दिखाई जा सके। इस प्रकार उपन्यास प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा प्रदान करने का माध्यम बना दिया गया है। और ऐसी स्थिति में, स्वभावत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण गौण स्थान ग्रहण कर लेता है।

उपन्यास में आरभ से ही दो कथानक एक साथ चलते हैं—एक शैला और इद्रदेव का, दूसरा तितली और मधुवन का—परतु उन दोनो का एक दूसरे के साथ गूँथ दिया जाना किंचित् अस्वाभाविकता का प्रभाव डालता है। इन में से एक विदेशी आदर्शों से प्रभावित और दूसरा विशुद्ध भारतीय है। जगह-जगह यह बात प्रकट होती है कि लेखक को न तो 'विदेशी' आदर्शों का समुचित ज्ञान है न उन के साथ सहानुभूति। यही कारण हैं कि लेखक पाश्चात्य सस्कृति के प्रति अकारण छिद्रान्वेषी मनोवृत्ति प्रदर्शित करता है।

यदि हम प्रस्तुत उपन्यास मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से पढेंगे तो हमें हताश होना पड़ेगा। यदि हम इसे इस दृष्टि से देखेंगे कि इस के द्वारा शिक्षा दी गई है, तो हम स्वीकार करते है कि वह शिक्षा अवश्य ग्राह्य है। इस उपन्यास में 'प्रसाद' जी की भाषा उतनी क्लिष्ट और सस्कृत-गर्भित नही है, जितनी कि वह साधारणत लिखते है। यह उपन्यास प्रेमचद जी के 'सेवा-सदन' की श्रेणी का परतु बहुत अशो में उस से अधिक सफल है।

आलोचना

हमारे साहित्य-निर्माता—लेखक, श्रीयुत शातिप्रिय द्विवेदी। प्रकाशक, ग्रथ-माला-कार्यालय, बाँकीपुर, पटना। पृष्ठ-सख्या २०८। १९३५। मूल्य १)

श्री शातिप्रिय द्विवेदी हिंदी के सुपरिचित कवि है। इधर कुछ समय से आप आलोचनाएँ भी लिख रहे है। कई सामयिक पत्र-पत्रिकाओ में, 'छायावादी' कहे जाने

वाले कवियों के संबंध में, आप के आलोचनात्मक निबंध समय-समय पर प्रकाशित हो चुके हैं। इन्हें हिंदी पाठकों ने पसंद भी किया है। इस पुस्तक में उसी प्रकार की सामग्री कुछ अधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत की गई है। इस में १४ ऐसे वर्तमान साहित्य-सेवियों तथा सेविकाओं पर आलोचनात्मक निबंध हैं, जिन्हों ने लेखक की समझ में हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि में निश्चित और पर्याप्त सहयोग दिया है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू श्यामसुंदरदास, पंडित रामचंद्र शुक्ल, मुंशी प्रेमचंद, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, श्री जयशंकर 'प्रसाद', राय कृष्णदास जी, श्री राधिकारमण प्रसाद सिंह, पंडित माखनलाल चतुर्वेदी, पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', श्री सुमित्रानंदन पंत, श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान और श्रीमती महादेवी वर्मा—इन के संक्षिप्त जीवन-वृत्त तथा रचनाओं के परिचय इस पुस्तक में दिए गए हैं। पुस्तक हाई स्कूल तथा कालिजों की प्रारंभिक कक्षाओं के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर लिखी गई है, परंतु इस से साधारण पाठक भी बहुत कुछ जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। निबंध रोचक हैं और वर्णित साहित्यिकों का भावुकता-पूर्ण परिचय दिया गया है। परंतु यदि पाठक इन में गहरे अनुसंधान के पाने की आशा करेंगे तो उन की कदाचित् तुष्टि न हो सकेगी।

चिकित्सा-शास्त्र

मानसोपचार, शास्त्र एवं पद्धति—लेखक, डाक्टर गोपाल भास्कर गणपुले और प्रोफ़ेसर नारायण सीताराम फड़के। हिंदीकार, श्रीयुत सिद्धनाथ माधव आगरकर। प्रकाशक, डाक्टर गोपाल भास्कर गणपुले, ६६५, शुक्रवार पेठ, पूना सिटी। मूल्य ४)

पश्चिम में मनोवैज्ञानिकों ने पिछले पचीस वर्षों के भीतर 'साइको-एनेलिसिस' या 'मनोविश्लेषण' विषय पर बड़ा काम किया है, और अपनी खोज के परिणामों द्वारा जनता को व्यावहारिक रूप से लाभ पहुँचाने का प्रयत्न किया है। विशेष कर इन परिणामों का उपयोग रोग-शमन में सहायता पहुँचाने में किया गया है। मानसोपचार ('सजेस्टिव थेरापेटिक्स'), मोहनिद्रा ('हिप्नाटिज़म'), और स्वयं-सूचना ('आटो-सजेशन') विषयों पर हम चाहें तो एक छोटा सा पुस्तकालय एकत्र कर सकते हैं—पश्चिम में इन विषयों पर इतने ग्रंथ निकल चुके हैं।

इन विषयो का अध्ययन पश्चिम में, विशेष कर अमेरिका, फ्रास, जर्मनी और आस्ट्रिया में इधर विशेष रूप से हुआ है, परतु यह बात सुविदित है कि मानसोपचार-क्रिया हिंदुस्तान में बहुत प्राचीन काल से उपयोग में लाई जाती थी। डाक्टर गणपुले की पुस्तक की विशेषता यह है कि उन्हो ने न केवल अपने यहाँ के प्राचीन शास्त्रो का मनन किया है वरन् पश्चिम के मनोवैज्ञानिको की खोजो से भी पूर्णतया लाभ उठाया है। जिस समय यह पुस्तक लगभग चौदह वर्ष हुए मराठी भाषा में प्रकाशित हुई थी उस समय इस के अन्य प्रतिष्ठित प्रशसको में स्वर्गीय लोकमान्य तिलक भी थे। श्रीयुत आगरकर ने इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद करके हिंदी-भाषा-भाषियो का बडा उपकार किया है।

प्रस्तुत पुस्तक साढे छ सौ पृष्ठो का एक वृहत् ग्रथ है। इसे पढनेवाले सहज में जान लेगे कि लेखको का अपने विषय का ज्ञान गभीर है। डाक्टर गणपुले का मानसोपचार-सबधी निजी अनुभव लगभग आधी शताब्दी का है। पुस्तक में शास्त्र एव पद्धति, दोनो ही वर्णित है।

पुस्तक सचित्र है। एक छोटी परतु उपयोगी, पारिभाषिक शब्दो की सूची पुस्तक के साथ लगी हुई है। उपचार की ऐसी पद्धति का, जिस में न वैद्यो की आवश्यकता हो न औषधियो की, हिंदुस्तान ऐसे गरीब देश में स्वागत होना चाहिए।

जीवन-चरित्र

मुस्लिम सतों के चरित—लेखक श्रीयुत श्रीगोपाल नेवटिया। प्रकाशक, हिंदी-मदिर, इलाहाबाद। मूल्य २)

किसी एक धर्म या वर्ग के महापुरुषो की कृतियो का, दूसरे धर्म या वर्ग की जनता के सामने उपस्थित करने का कार्य निस्सदेह एक प्रशसनीय कार्य है। हिंदुस्तान की वर्तमान स्थिति में, इस प्रकार की पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होनी चाहिए। श्रीयुत श्रीगोपाल नेवटिया हिंदी के सुपरिचित लेखक है, और उन की गद्य-शैली सुदर है। इस पुस्तक में उन्हो ने फारसी के प्रसिद्ध ग्रथ 'तजकिरतुल्-औलिया' या 'सतों के चरित्र' का अनुवाद प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में इतिहास-प्रसिद्ध मुस्लिम साधुओ और सूफियो के चरित्र एकत्र किए गए है। यदि अनुवादक महोदय

ने सीधे फारसी ग्रंथ से अनुवाद किया होता तो अच्छा होता। इस फारसी ग्रंथ के गुजराती तथा बँगला भाषाओं में अनुवाद मौजूद थे। अनुवादक ने इन गुजराती तथा बँगला अनुवादों की सहायता से हिंदी पुस्तक संकलित की है।

इस पुस्तक में तीस मुस्लिम संतों के चरित्र दिए गए हैं। पुस्तक का दूसरा भाग प्रकाशित होने को है। 'तज़किरतुल्-औलिया' में आए हुए शेष चरित्र इस दूसरे भाग में दिए जायँगे।

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ५ } जुलाई, १९३५ { अंक ३

हिंदी का गद्य-साहित्य

(आरंभ से लेकर भारतेंदु हरिश्चंद्र तक)

[लेखक—श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी, एम्० ए०]

हिंदी भाषा का प्राचीन साहित्य मुख्यतया पद्य में लिखा हुआ है। प्रायः सभी भाषाओं में पद्यात्मक साहित्य की रचना पहले आरंभ होती है और प्रारंभ में बहुत समय तक उसी का प्राधान्य रहता है। गद्य का प्रयोग बोलचाल में या साधारण अस्थायी साहित्य के लिए होता है। गद्य में लिखित बातों को याद रखने में सुभीता नहीं होता, अतः वे स्थायी नहीं रह सकतीं और न उन का विशेष प्रचार हो सकता है। इसी कारण संस्कृत और प्राचीन हिंदी में साधारण विषयों पर भी पद्य में ही रचनाएँ की गईं। गद्य में जो कुछ साहित्य लिखा भी गया, वह अधिकांश प्रसिद्धि न प्राप्त करने के कारण नष्ट हो गया या कहीं अंधकार में छिपा पड़ा है।

हिंदी में गद्य-साहित्य की रचना को छापेखाने के प्रचार से ही प्रेरणा मिली और उसी के बाद उस की उन्नति हुई। छापेखाने का प्रचार भारतवर्ष में बहुत देरी से हुआ, इसी कारण यहाँ गद्य-साहित्य के अनवच्छिन्न विकास का युग भी देरी से आरंभ होता है।

फिर भी हिंदी का प्राचीन साहित्य गद्य से शून्य नहीं है। प्राचीन-कालीन गद्य-रचनाओं के नमूने कहीं-कहीं सुरक्षित रह गए हैं; जिनमें से कुछ प्रकाश में आए हैं, और

बहुत से अधकार में पड़े हैं।[1] इन्हीं के आधार पर गद्य के प्राचीन इतिहास का कुछ संक्षिप्त विवेचन यहाँ पर किया जायगा।

हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने उस के विकास-काल को निम्न-लिखित चार भागों में बाँटा है —

(१) प्राचीन काल, संवत् १००० से १४०० तक
(२) पूर्व-माध्यमिक काल, संवत् १४०० से १७०० तक
(३) उत्तर-माध्यमिक काल, संवत् १७०० से १९०० तक
(४) आधुनिक काल, संवत् १९०० से अब तक

हम भी अपने विवेचन में इसी काल-विभाग का अनुसरण करेंगे, केवल उत्तर-माध्यमिक काल की सीमा को संवत् १९२५ तक खींच ले आवेंगे। क्योंकि आधुनिक काल का आरंभ हरिश्चंद्र के साथ मानना हमें अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

प्राचीन काल

(१०००-१४००)

इस काल में साहित्यिक क्रिया-शीलता का केंद्र राजस्थान था। राजस्थानी भाषा का साहित्य में प्राधान्य था। ब्रजभाषा और गुजराती अभी राजस्थानी से अलग नहीं हुई थीं। इस कारण इस काल की राजस्थानी एक व्यापक साहित्यिक भाषा थी। राजस्थानी में मुख्यतया तीन प्रकार की रचनाएं पाई जाती हैं—

(१) वीररसात्मक रचनाएं—इन के रचयिता चारण-भाट होते थे। वीररस के उपयुक्त ओजगुण लाने के लिए ये लोग अपनी रचनाओं में ऐसे शब्दों को अपनाते थे, जो संयुक्त या द्वित्त अक्षरों से बने होते थे। आगे चलकर तो शब्दों को ऐसा बनाने के

---

[1] हिंदी का प्राचीन गद्य-साहित्य इतना कम और इतना पोच नहीं है, जितना कि समझा जाता है। प्राचीन गद्य-रचनाओं की खोज की अभी बड़ी भारी आवश्यकता है। उन का प्रकाशन भी नितांत आवश्यक है। राजस्थान, मध्यभारत, मध्यप्रांत, बिहार, पंजाब आदि प्रांतों में तो अभी खोज का काम सम्यक् प्रकार से आरंभ ही नहीं हुआ। जब तक यह नहीं हो जाता तब तक हिंदी गद्य का सच्चा और पूरा इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

लिए जान-बूझ कर उन की क्रियाओं की क्रियापद्धति की जाने लगी। इस प्रकार की भाषा आगे चल कर डिंगल कहलाई।

(२) लोक-प्रिय रचनाएं—इन के रचयिता ढाढी, ढोली आदि जातियों के लोग होते थे, जिन का व्यवसाय जनता को गा-बजाकर रिझाने का था। ये रचनाएं जनता की बोल-चाल की भाषा में की जाती थीं।

(३) जैन-धर्म संबंधी—इन के रचयिता जैन-साधु होते थे। इन की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव विशेष पाया जाता है।

प्रथम दोनों प्रकार की रचनाएँ मुख्यतया मौखिक ही रहती थीं, जिस से उन का रूप धीरे-धीरे बदलता जाता था। इस समय उन का तत्कालीन रूप में प्राप्त होना असंभव-सा है। जैन-लेखकों की रचनाएं मुख्य कर के लिखित होती थीं, और आज भी उन में से बहुत-सी उपलब्ध हैं। इन में अनेक गद्य में हैं। एकाध उदाहरण आगे दिए जाते हैं।[1]

इस काल के हिंदी-गद्य के उदाहरण प्राय नहीं मिलते, परंतु सच पूछा जाय तो एतत्कालीन साहित्य की अभी पर्याप्त खोज हुई ही नहीं। साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त इस काल के अनेक शिलालेख भी राजस्थान में स्थान-स्थान पर मिलते हैं, जिन में से कई-एक तत्कालीन बोल-चाल की भाषा में लिखे गए हैं।

स्वर्गीय मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने कई पट्टे-परवाने प्रकाशित करवाए थे, जिन्हें वे पृथ्वीराज चौहान के समय के मानते थे। कई अन्यान्य विद्वान् भी उन से सहमत हैं, और वे इन परवानों की भाषा को हिंदी-गद्य के सर्व-प्रथम उदाहरण मानते हैं। परंतु उन की प्रामाणिकता में पूरा संदेह है। उन की भाषा ही स्पष्ट कह रही है कि वे उस काल के नहीं। महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि अनेक इतिहासज्ञ विद्वान् उन्हें जाली समझते हैं।[2] जाली न भी हों तो भी इस में कोई संदेह नहीं कि वे बहुत बाद के हैं। उन की भाषा और लिपि-पद्धति बहुत अर्वाचीन है।

---

[1] परिशिष्ट में देखो।

[2] नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, नवीन सस्करण, भाग १, में ओझा जी का 'अनद विक्रम संवत् की कल्पना' नामक निबंध।

पूर्व-माध्यमिक काल

(१४००-१७००)

इस काल में साहित्य-केंद्र राजस्थान से हटकर ब्रजमंडल और काशी जा पहुँचा। राजस्थानी का प्राधान्य नष्ट हो गया और वह सार्वत्रिक साहित्यिक भाषा नहीं रह गई। उस का स्थान ब्रज ने लिया। अवधी भी आगे आई, पर ब्रज ने उसे दबा दिया। ब्रजभाषा के इस महत्व का कारण उस काल का धार्मिक उत्थान है।

यद्यपि ब्रज ने राजस्थानी को उस के पद से हटा दिया, पर गद्य-साहित्य की दृष्टि से राजस्थानी का ही प्राधान्य रहा। ब्रज ने गद्य में कुछ भी उन्नति न की। उधर राजस्थानी में गद्य की नदी-सी उमड़ पड़ी, जो आधुनिक काल के प्रारंभ तक निरंतर प्रवाहित रही। पूर्व-माध्यमिक काल से राजस्थान के विभिन्न राज्यों की ख्यातें (इतिहास) बराबर लिखी जाने लगीं। ऐतिहासिक, अर्धऐतिहासिक और काल्पनिक कथा-साहित्य का तो प्रवाह ही बह चला। अभाग्यवश राजकीय परिवर्तनों के कारण तथा अन्यान्य कारणों से यह साहित्य सुरक्षित न रह सका। कुछ बिखर गया, बहुत नष्ट होगया। राज्यों की ख्यातें, लिखनेवालों या उस विभाग के अधिकारियों की निजी संपत्ति बनकर विस्मृति के गर्त्त में जा पड़ीं। परंतु इस काल में जैन विद्वानों ने जो गद्य-ग्रंथ निर्माण किए उनमें से अधिकांश रक्षित रह गए हैं और उन का परिमाण कम नहीं है। इन का सुव्यवस्थित अनुसंधान और प्रकाशन नितांत आवश्यक है। इस के बिना हिंदी गद्य के विकास का इतिहास अपूर्ण ही रहेगा।

इस काल में मुसल्मान-साम्राज्य के समस्त भारत में फैल जाने के कारण खड़ीबोली का प्रसार सारे देश में हो गया और धीरे-धीरे वह राष्ट्रभाषा-सी बन गई। मुसलमानों ने भारत में आने पर खड़ीबोली को ही अपनाया था और आगे चलकर वे उस में साहित्य-रचना करने लगे। पहले उन की रचनाओं की भाषा शुद्ध होती थी, पर बाद में अरबी-फारसी शब्दों की भरमार होने लगी और भाव-व्यंजना पर भी फारसी शैली का प्रभाव पड़ने लगा। इस प्रकार खड़ीबोली उर्दू में परिवर्तित हो गई। उर्दू के विकास का इतिहास हिंदी के विकास से भिन्न है। विभिन्न प्रांतों के पारस्परिक व्यवहार की भाषा खड़ीबोली होने पर भी हिंदू लेखकों ने उस ओर ध्यान न दिया। वे राम-कृष्ण की जन्मभूमि की भाषाओं

—व्रज और अवधी— में ही मग्न रहे। यदा-कदा खड़ीबोली में लिखने वाले लेखक भी हुए, जिन की रचनाओ का पता चला है, पर उन में से अधिकाश का सबध किसी न किसी शाही दरबार से था, जैसे गगाभाट और जटमल।

इस काल के गद्य-लेखकों और गद्य-रचनाओं का उल्लेख नीचे किया जाता है —

(क) व्रजभाषा का गद्य

(१) गोरखनाथ—[1]कहते है कि स० १४०७ के लगभग गोरखनाथ हुए, जिन्हो ने पहले पहल व्रजभाषा में गद्य-रचना की। कुछ पुस्तकें मिलती है, जो गोरखनाथ की लिखी बताई जाती है। परतु गोरखनाथ का समय स० १००० से पूर्व ही है, यह नवीन खोजो से सिद्ध हो चुका है[2], *अत ये गोरखनाथ की कृतियां नहीं हो सकतीं।* सभव है कि ये गोरखनाथ के शिष्यो की लिखी हुई हो और उन के नाम से प्रसिद्ध कर दी गई हो। फिर भी इन रचनाओ की जो हस्त-लिखित प्रतियां मिली है वे इतनी पुरानी नहीं है, अतएव यह सदिग्ध ही है कि ये कृतियां इन प्रतियो में अपने मूल-रूप में पाई जाती है।

(२) विट्ठलनाथ—ये सुप्रसिद्ध महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र और उत्तराधिकारी थे। अष्टछाप के विधाता यही महाशय थे। इन्हो ने 'शृगार-रस-मडन' नामक ग्रथ व्रजभाषा के गद्य मे लिखा है। इस ग्रथ की भाषा विशुद्ध व्रज है।

(३) गोकुलनाथ—ये उक्त विट्ठलनाथ के पुत्र थे। इन का समय १६२५ से १६५० के आस-पास है। व्रजभाषा के गद्य मे इन्हो ने तीन ग्रथ लिखे, जिन में से पहले दो बहुत प्रसिद्ध है —

१–'चौरासी वैष्णवन की वारता',

२–'दो सौ बावन वैष्णवन की वारता', और

३–'वनयात्रा'।

---

[1] मिश्रबंधुविनोद, नवीन सस्करण, भाग १, पृष्ठ २११

[2] नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, नवीन सस्करण, भाग ११, में श्रीपीताबरदत्त बडथ्वाल का 'हिंदी कविता में योग-प्रवाह' नामक निबंध तथा गगा, भाग ३, अक १ (पुरातत्त्वाक), में श्रीराहुल साकृत्यायन का 'मत्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध' नामक निबध।

इन की रचनाएं ब्रजभाषा-गद्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। लिखने का उद्देश्य साहित्यिक न होने के कारण भाषा बोल-चाल की, स्वाभाविक और सुबोध है एवं उस का रूप विशुद्ध, व्यवस्थित और परिष्कृत है। उर्दू आदि अन्य भाषाओं के बोलचाल के शब्द उस में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं।

(४) नंददास—ये अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि हैं। इन के 'विज्ञानार्थ-प्रवेशिका' और 'नासिकेत-पुराण भाषा' नामक ब्रजभाषा के दो गद्य-ग्रंथ खोज में पाये गए हैं।

(५) नाभादास—भक्तमाल वाले प्रसिद्ध कवि। इन्हों ने संवत् १६५७ में 'अष्टयाम' नाम की पुस्तक लिखी।

(६) तुलसीदास—प्रसिद्ध महाकवि। इन का संवत् १६६९ का लिखा हुआ एक पंचनामा सुरक्षित है, जो (ब्रज में नहीं, किंतु) काशी की ओर की बोल-चाल की भाषा में लिखा गया है।

(७) बनारसीदास—ये जैनमतावलंबी बड़े कवि हुए हैं। इन का लिखा हुआ गद्य भी मिला है।

(८) भुवनदीपिका—सं० १६७१ की लिखी हुई एक पुस्तक मिली है।

(९) वैकुंठमणि शुक्ल—इन का समय १६७५-१६८४ के लगभग है। ये ओरछा के महाराज जसवंतसिंह के दरबार में थे। इन्हों ने 'वैशाख-माहात्म्य' और 'अगहन-माहात्म्य' नामक ग्रंथ लिखे। इन की भाषा पर खड़ीबोली का पर्याप्त प्रभाव है।

(१०) विष्णुपुरी—इन्हों ने संवत् १६९० में 'भक्तिरत्नावली' का गद्यानुवाद किया। यह ग्रंथ काफी बड़ा है।

(ख) खड़ीबोली का गद्य

(१) गंगाभाट—ये अकबर के दरबार में थे। इन की 'चन्दछन्द बरननकी महिमा' नामक पुस्तक प्रसिद्ध है। यह ब्रज-मिश्रित खड़ीबोली में है। खड़ीबोली के गद्य का सर्व-प्रथम उदाहरण यही माना जाता है।

(२) जटमल—कहते हैं कि जटमल ने संवत् १६८० के लगभग खड़ीबोली के गद्य में 'गोरा-बादल की बात' नामक पुस्तक लिखी, पर अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि यह कथन ठीक नहीं। जटमल की उक्त रचना गद्य में नहीं किंतु पद्य में

है।[1] इसी का अनुवाद स० १८८० के लगभग किसी ने गद्य में किया। हिंदी-साहित्य के इतिहासो मे जो उदाहरण दिए जाते है, वे जटमल की मूल रचना के नहीं, किंतु इसी अनुवाद के हैं।

(ग) राजस्थानी का गद्य[2]

राजस्थानी मे इस काल में बहुत-सी गद्य-रचनाए हुई, जिन म से अधिकाश तो असावधानी से नष्ट हो गई। फिर भी जो कुछ बची हैं, वे तत्कालीन समृद्धि की सूचना देने के लिए पर्याप्त हैं। अधिकाश रचनाए 'ख्यातो' या 'वातो' (अर्द्धैतिहासिक और ऐतिहासिक कथाओ) के रूप में हैं। उन के लेखको के नाम नष्ट हो चुके हैं। कुछ उदाहरण आगे दिए जाते हैं। इन के अतिरिक्त जैन-लेखको की अनेक रचनाएँ हैं, जिन की खोज अभी बाकी है। यदि राजस्थान मे लिखित गद्य की पूरी खोज हो जाय तो हिंदी का यह *कलक सर्वथा धुल जाय कि उस का प्राचीन साहित्य गद्य से शून्य है। राजस्थान म गद्य*-लेखन की अखड परपरा प्राचीन अपभ्रशकाल से इस शताब्दि के आरभ तक बराबर जारी रही और यह गद्य अत्यत उच्च कोटि का है, इस में कुछ भी सदेह नहीं।

उत्तर-माध्यमिक काल

(१७००-१९००)

इस काल के अधिकाश भाग मे व्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा, पर कोई महत्व-पूर्ण गद्य-रचना उस मे नही हुई। अनेक टीकाकार इस काल में हुए, जिन्हो ने अपनी टीकाएँ व्रज मे लिखी, *पर उन की भाषा बडी ही अव्यवस्थित और बेठिकाने की है।* उन की गणना साहित्य में नही की जा सकती।

---

[1] नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग १४, अक ४ में, वर्तमान लेखक का लिखा हुआ 'जटमल की गोरा-बादल की बात, क्या वह गद्य में है', नामक लेख, तथा विशाल-भारत के दिसबर, १९३३ के अक में श्री पूर्णचद्र नाहर का 'कुएँ भाँग' नामक लेख।
इस कथा का सुसपादित सस्करण तय्यार है और वह शीघ्र ही प्रकाशित होगा। स० १८८१ का गद्यानुवाद भी साथ में होगा।

[2] राजस्थानी के गद्य-साहित्य के इतिहास पर एक स्वतत्र निबध वाछित है इस लिए राजस्थानी के गद्य-लेखको अथवा गद्य-कृतियो का उल्लेख इस निबध में नहीं किया गया है। कुछ थोडे-से उदाहरण नमूने के तौर पर परिशिष्ट में दिए गए हैं।

इस काल में राजस्थानी अपनी अलग उन्नति करती रही। उस का एतत्कालीन गद्य-साहित्य बहुत विस्तृत है और बहुत-कुछ सुरक्षित भी है। यह साहित्य अधिकाश ऐतिहासिक और कल्पनात्मक कथा-कहानियों वाला है। राजस्थानी लेखकों ने ब्रजभाषा में भी बहुत-कुछ लिखा, और कई महत्वपूर्ण ग्रथ ब्रज में या पूर्वी-राजस्थानी-मिश्रित ब्रज म लिखे हुए मिले है, जिन मे सब से अधिक महत्वपूर्ण अबुल-फजल की आईनें-अकबरी का अनुवाद है। यह ७०० बडे-बडे पृष्ठो का बृहत् ग्रथ है और ब्रजभाषा की सब से बडी रचना है। इस का गद्य प्रौढ और उच्च कोटि का है।

इस काल के अन्तिम भाग मे खडीबोली की ओर भी लोगो का ध्यान गया और कई अच्छी रचनाए उस में हुईं। इन में पहले महत्वपूर्ण लेखक मुन्शी सदासुखलाल है। उन के बाद इशाअल्ला खा, लल्लूलाल तथा सदल मिश्र हुए। लल्लूलाल और सदल मिश्र ने अग्रेजो के आश्रय मे लिखा। इन्ही के समकालीन राजा राममोहनराय हुए[1] जिन्हो ने खडीबोली में भी रचना की और एक समाचार-पत्र भी निकाला[2]। इसी समय में जुगलकिशोर शुक्ल ने हिंदी का सब से पहला समाचार-पत्र कलकत्ते से निकाला[3]। ईसाइयो ने भी खडीबोली को धर्म-प्रचार के लिए अपनाया और उन्हो ने अपने धर्म-ग्रथो का अनुवाद उस में किया। शिक्षा का प्रचार होने से पाठ्य-पुस्तको की आवश्यकता हुई और ईसाई-सस्थाओं ने एक एक करके बहुत सी पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित की। यह क्रम इस काल के अत तक बराबर चलता रहा। इस काल के अंतिम वर्षों में राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद, राजा लक्ष्मणसिंह, स्वामी दयानन्द आदि खडीबोली के गद्य-लेखक हुए राजा शिवप्रसाद की कृपा से हिंदी को शिक्षाविभाग में स्थान मिला और हिंदी गद्य-लेखन को इस से बडा भारी प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार सदासुखलाल से जो गद्य-लेखन-परपरा आरभ हुई वह बराबर चलती गई, आगामी काल में छापेखाने के विशेष प्रचार से तथा शिक्षा विभाग मे हिंदी का प्रवेश हो जाने से गद्य की ओर वेग से उन्नति होने लगी। हिंदू

---

[1] 'विशाल-भारत', भाग १२, सख्या ६, में हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'राजा राममोहनराय की हिंदी' नामक लेख।

[2] 'विशाल-भारत', भाग ७, सख्या २, में पृष्ठ १९२

[3] वही, भाग ७, सख्या २–३–४, में ब्रजेंद्रनाथ बनर्जी का 'हिंदी का प्रथम समाचारपत्र' नामक निबध।

लेखको का ध्यान अब तक खडीबोली की ओर कम था या यो कहिए नही था, पर शिक्षा-विभाग में हिंदी के प्रवेश ने तथा अन्यान्य प्रातो के पारस्परिक व्यवहार की आवश्यकता ने उन को भी खडीबोली की ओर खीच लिया। ब्रजभाषा पहले ही गद्य-लेखनोपयोगी नही हो सकी थी और राजस्थानी में प्रचुर गद्य होते हुए भी वह केवल राजस्थान और मध्यभारत के कुछ हिस्सो तक ही सीमित थी, इस लिए जब खडीबोली गद्य के लिए उठ खडी हुई तो उस के ग्रहण करने में कोई सकोच या विरोध नही हुआ। धीरे-धीरे वह शिष्ट समाज की बोली हो गई, जिस कारण (और राजस्थानी जनसाधारण की बोली रह गई और धीरे-धीरे गँवारी समझी गई इस लिए) वह राजस्थानी पर भी हावी हो गई और राजस्थानी विद्वानो और लेखको ने भी खडीबोली को बडे उत्साह के साथ अपना लिया।

[१]हिंदी के इतिहासकारो का मत है कि इस काल में सवत् १८५०-६० के लग-भग उपर्युक्त चार लेखको द्वारा खडीबोली में गद्य-लेखन की प्रतिष्ठा तो हुई, पर उस की अखड परपरा उस समय से नही चली। पर यह कथन ठीक नही जान पडता। सवत् १८६० के बाद सवत् १९०० तक बराबर गद्य-रचनाएँ होती रही है, जिन में से अनुसधानो द्वारा बहुत-सी धीरे-धीरे प्रकाश में आ रही है। अवश्य ही हिंदू कवियो ने इस ओर कम ध्यान दिया, पर यह बात नही कि नही दिया। हिंदी के प्रारभिक समाचार-पत्र भी इसी काल में निकले। छापेखाने का विशेष प्रचार न होने से यह परपरा इस काल मे उस वेग से अवश्य ही अग्रसर नही हो सकी, जैसी कि आगामी काल में हुई।

इस काल के कुछ महत्त्वपूर्ण गद्य-लेखको और गद्य-रचनाओं का उल्लेख आगे किया जाता है।

(क) ब्रजभाषा का गद्य

(१) मनोहरदास निरंजनी—इन का समय सवत् १७०७ के लगभग है। ये राजस्थान के निवासी थे। इन्हो ने गद्य में कई पुस्तकें लिखी है।

---

[१] (१) रामचद्र शुक्ल, 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४९६
(२) कृष्णशंकर शुक्ल, 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १२९

(२) हेमराज पाडे—इन का समय स० १७०९ है। मिश्रबंधुओ ने इन्हें 'गद्य हिंदी के अच्छे लेखक' बताया है।

(३) दामोदरदास दादूपंथी—ये भी राजस्थान के रहने वाले थे। इन्हो ने सवत् १७१५ के लगभग 'मारकडेय पुराण भाषा' लिखा।

(४) भगवान मिश्र मंथिल—इन का स० १७६० का लिखा हुआ एक शिलालेख वस्तर राज्य के दंतवारा गाँव में मिला है। इस की भाषा व्रज नहीं किंतु पूरबी है।

(५) नासकेतोपाख्यान—सवत् १७६४ के पूर्व की रचना। लेखक का नाम अज्ञात है। इस की एक प्रति सवत् १७६४ की मिलती है।

(६) सूरति मिश्र—इन का समय १७६७ के आस-पास है। कई टीकाओ के अतिरिक्त इन्हो ने 'बेताल-पचीसी' व्रजभाषा के गद्य में लिखी।

(७) भोगलपुराण—सवत् १७६२ के पूर्व की एक रचना, जिस में सृष्टि की उत्पत्ति का हाल है।

(८) अग्रनारायण दास—इन्हो ने सवत् १८२९ में 'भक्तमाल-प्रसग' की रचना की।

(९) रामचरणदास—इन का रचना-काल सवत् १८४४ है।

(१०) आईने-अकबरी की भाषा वचनिका—जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह जी की आज्ञा से लाला हीरालाल ने सवत् १८५२ में लिखी (३५३ पन्ने)।

(११) हितोपदेस ग्रंथ ग्वालेरी (ग्वालियर की) भाषा में—इस का रचनाकाल १८९० से पूर्व का है (७८ पन्ने)।

(१२) सरदार कवि—समय सवत् १९०० के आस-पास। इन्हो ने बहुत-सी टीकाएँ लिखी।

इन के अतिरिक्त टीकाकार गद्य-लेखक बहुत से हुए। 'बिहारी-सतसई' पर ही दर्जनों टीकाएँ इस काल में लिखी गई, पर उन का गद्य व्यावहारिक नहीं, अत उन की गणना साहित्य में नहीं हो सकती। इन टीकाओ का नामोल्लेख अनावश्यक है।

विशेष-खोज करने से राजस्थान में इस काल के सैकड़ो ग्रथ व्रजभाषा के गद्य में लिखे हुए मिलेंगे। इन में से अनेक ग्रथ बहुत बडे-बडे और साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। जब तक उन की खोज हो कर उन का विवरण प्रकाशित न हो जाय तब

तक प्राचीन हिंदी गद्य का इतिहास अधूरा ही रहेगा।[1]

(ख) राजस्थानी का गद्य

(१) मुहणोत नैणसीरी ख्यात—मुहणोत नैणसी का समय विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। यह ख्यात एक सुप्रसिद्ध वृहत् इतिहास-ग्रंथ है, जिस में उस समय तक का राजस्थान का इतिहास विस्तार से दिया है। इस की भाषा बड़ी ही प्रौढ और प्रांजल है। *राजस्थानी भाषा-शैली के लिए यह अत्यंत प्रामाणिक रचना है।* इस का हिंदी-अनुवाद नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है।

(२) खिड़ियो जग्गो—इन्हों ने राजस्थानी में 'राव रतन महेसदासोतरी वचनिका' नामक ग्रंथ लिखा। 'वचनिका' उस गद्य को कहते हैं जिस में तुक मिलाई जाती हो और बीच-बीच में पद्य भी रहता हो। इस की भाषा भी प्रौढ है। रचनाकाल सं० १७१५ है।

(३) बाँकीदास—इन का समय संवत् १८३८ से १८९० तक है। ये जोधपुर के महाराज मानसिंह जी के दरबार में थे। इन की 'आसिया चारण बाँकीदासरी ऐतिहासिक वार्ता' नामक पुस्तक में ऐतिहासिक कथाओं और कहानियों का बड़ा संग्रह है। भाषा की दृष्टि से यह ग्रंथ भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

(४) जोधपुर रा राठोडाँ री ख्यात—अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना।

ये चार नाम केवल उदाहरणार्थ दिए गए है।[2] इन की भाँति की सैकड़ों 'ख्यातें' और हज़ारों 'बातें' राजस्थानी गद्य में लिखी हुई मिलती हैं। सब का उल्लेख करना असंभव है। जो सज्जन विशेष जानना चाहें, वे डॉक्टर एल्० पी० टैसिटरी साहब के

---

[1] हर्ष की बात है कि इस दिशा में कार्य आरंभ हो गया है। राजस्थान के सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ श्रीघनश्यामदास बिड़ला की उदारता से पिलाणी में राजस्थानी भाषा और साहित्य की खोज तथा प्रकाशन का कार्यालय स्थापित हो चुका है और अनेक विद्वानों की देखरेख में उस का कार्य हो रहा है। पिलाणी-राजस्थानी-सीरीज नामक ग्रंथमाला का प्रकाशन भी आरंभ हो गया है।

[2] राजस्थानी गद्य-साहित्य का विवेचन एक स्वतंत्र निबंध में किया जा रहा है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

बनाए सूचीपत्र देखें।[1]

(ग) खड़ीबोली का गद्य

(१) मडोवर का वर्णन—किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक द्वारा कोई १५०-२०० वर्ष पूर्व लिखित।

(२) चकत्ता की पातस्याही की परम्परा—किसी अज्ञात लेखक द्वारा संवत् १८१० के लगभग लिखित। इस की पृष्ठ-संख्या १०० बताई जाती है।[2]

(३) कुतबदी साहिजादे री बात—संवत् १८४७ के पूर्व की एक रचना। इस की भाषा राजस्थानी मिश्रित खड़ीबोली है।

(४) मुंशी सदासुखलाल नियाज (१८०३-१८८१)—ये दिल्ली के रहने वाले थे। इन्हों ने उर्दू-फारसी में बहुत-सी पुस्तकें लिखीं और हिंदी में श्रीमद्भागवत का स्वतंत्र अनुवाद 'सुखसागर' नाम से किया। इन की भाषा काशी के आस-पास के तत्कालीन शिष्ट-समाज के बोल-चाल की खड़ीबोली है, जैसी उधर के पुराने ढंग के पंडित आदि लोग अब भी बोलते हैं। दिल्ली-निवासी होने पर भी उन की रचनाओं में अरबी-फारसी शब्द नहीं पाए जाते, पर संस्कृत के तत्सम शब्द स्थान-स्थान पर मिलते हैं। पंडिताऊ प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे कि प्रयाग और काशी के पंडित बोलते चले आए हैं।

(५) इंशा अल्ला खाँ—ये उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे और कई शाही दरबारों में रहे। संवत् १८५५ और १८६० के बीच[3] इन्हों ने हिंदी में 'उदयभान-चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' नामक पुस्तक लिखी। इन्हों ने बाहर की बोली (अरबी-फारसी आदि) गँवारी (देहाती बोलियाँ) और भाखापन से रहित विशुद्ध हिंदवी में अपनी कहानी लिखने का प्रयत्न किया। परंतु प्रयत्न करने पर भी कई स्थानों पर फारसी ढंग का वाक्य विन्यास आ ही गया है। इन की भाषा चटक-मटक वाली, मुहावरेदार और चलती है। उस में उर्दू कवियों की-सी चुलबुलाहट पाई जाती है। लल्लूलाल की

---

[1] 'आर्किअ ऍड हिस्टारिकल सर्वे अव् राजपूताना', भाग ३, एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल द्वारा प्रकाशित।

[2] 'सम्मेलन-पत्रिका', नवीन संस्करण, भाग २, अंक १, पृष्ठ ११

[3] अन्य मतानुसार १८५२ से १८५५ के बीच में।

तरह सानुप्रास विराम (वाक्यो के अत मे तुक मिलना) भी कही-कही पाए जाते है।[१]

(६) लल्लूलाल—(१८२०-१८८२) ये आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। बाद में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में नौकर हुए। कालेज के अध्यक्ष जान गिलक्रिस्ट साहब की आज्ञा से इन्हो ने भागवत के दशम स्कध की कथा को लेकर 'प्रेमसागर' नामक ग्रथ लिखा। इस प्रेमसागर का मुख्य आधार चतुर्भुजदास कृत दशम-स्कध का पद्यानुवाद है, जो व्रज में लिखा गया था। इसी कारण इन की भाषा में व्रजभाषा का प्रभाव बहुत है और उस में स्थान-स्थान पर कृत्रिमता झलकती है। अरबी-फारसी शब्दो को बचाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। जगह-जगह तुकबदी पाई जाती है। इस प्रकार इन की भाषा कथा-व्यासो की-सी हो गई। वह नित्य के व्यावहारिक प्रयोग के लिए उपयोगी नही सिद्ध हुई। इन्हो ने प्रेमसागर के अतिरिक्त और भी कई पुस्तकें लिखी, जिन मे अधिकाश उर्दू में हैं। व्रजभाषा-गद्य में भी 'राजनीति' नाम से 'हितोपदेश' की कुछ कहानियो का अनुवाद, पद्य के आधार पर लिखा।

(७) सदल मिश्र—ये बिहार निवासी थे। लल्लूलाल की भाँति इन्हो ने भी फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियो की प्रेरणा से हिंदी-गद्य में 'चद्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इस की और 'प्रेमसागर' की भाषा में बड़ा अतर है। साफ-सुथरी न होने पर भी इस की भाषा व्यवहारोपयोगी है। उस में उर्दू शब्दो को बचाने का प्रयत्न नही किया गया है और मुहावरो का भी प्रयोग हुआ है, जिस से भाषा में जान आ गई है। व्रज के प्रयोग भी कई स्थानो पर आए है और कही-कही पूरबी की झलक भी मिलती है, जो इन के लिए स्वाभाविक ही थी।

ये चार लेखक आधुनिक खडीबोली-गद्य के जन्मदाता समझे जाते हैं। इन में भी मुशी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा आधुनिक भाषा के अधिक निकट है। उस में आधुनिक गद्य का पूर्वाभास मिलता है। लल्लूलाल की भाषा कृत्रिमता-पूर्ण है, क्योकि वह मुख्यतया पद्य का गद्यानुवाद मात्र है। इन की और इशाअल्ला खाँ की भाषा

---

[१] इस प्रकार के अत्यानुप्रास वाले गद्य को राजस्थानी में वचनिका कहते है। यह लेखन-प्रथा बहुत प्राचीन है। परिशिष्ट में स० १३३० और १४७८ के उदाहरण देखिए।

काव्यरचना या कल्पनात्मक कहानियों के लेखन के उपयुक्त हो सकती है, पर व्यवहारोपयोगी नहीं।

(८) बाइबिल का अनुवाद—ईसाइयों ने सवत् १८६६ में बाइबिल के नए धर्म-नियम (न्यू टेस्टामेंट) का और सवत् १८७५ में पूरी बाइबिल का अनुवाद प्रकाशित किया। इस अनुवाद में ठेठ बोल-चाल के हिंदी शब्दों को विशेष रूप से ध्यान दिया गया है, पर उर्दू शब्द बचाए गए हैं। उस की भाषा पर 'प्रेमसागर' का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव कहीं-कहीं पाया जाता है।

इस के बाद ईसाइयों द्वारा पुस्तक और पुस्तिकाएँ बराबर निकलती रहीं। शिक्षालयों में पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता होने पर इन्हों ने बहुत-सी ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करवाईं।

(९) गोरा बादल की बात का गद्यानुवाद—सवत् १८८१ के कुछ काल पूर्व सभवत किसी अंग्रेज अफसर की प्रेरणा से जटमल की 'गोरा-बादल री बात' का गद्यानुवाद तय्यार करवाया गया। इस का लेखक कोई मध्य-भारत या राजस्थान का निवासी था, जिस से इस अनुवाद की भाषा में राजस्थानी का प्रभाव बहुत पाया जाता है। हिंदी के ऐतिहासिकों ने भ्रमवश इसे सत्रहवीं शताब्दी की रचना मान रक्खा है। इस की भाषा बोल-चाल की है और उस में उर्दू शब्दों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

(१०) राजा राममोहन राय—ये सुप्रसिद्ध बंगीय नेता हैं। कहते हैं कि इन्हों ने सवत् १८७२ के लगभग वेदांत-सूत्रों का हिंदी-अनुवाद लिख कर प्रकाशित करवाया था। क्षितीश बाबू ने इस ग्रंथ की एक प्रति मिर्जापुर में किसी गृहस्थ के यहाँ देखी थी। इन के लिखे हुए हिंदी-गद्य के और भी कई नमूने मिलते हैं। भाषा पर बंगला और राजस्थानी का प्रभाव पाया जाता है और वह पंडिताऊ ढंग की है। उस में तत्सम शब्दों की भरमार है, जिस का कारण विषय की दार्शनिकता है, राजा साहब ने सवत् १८८६ में 'बंगदूत' नाम का एक समाचार-पत्र भी हिंदी में प्रकाशित करना आरंभ किया था।[१]

(११) जुगलकिशोर शुक्ल—ये कानपुर निवासी थे और कलकत्ते में रहते थे। सवत् १८८३ में इन्हों ने कलकत्ते से 'उदंत मार्तंड' नाम का समाचार-पत्र निकाला,

---

[१] 'विशालभारत', भाग १२, अक ६, तथा भाग ७, अक २, पृष्ठ १९२

जो हिंदी का सर्व-प्रथम समाचार-पत्र है। इस की भाषा पर भी कहीं-कहीं बंगला का प्रभाव है। उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित बोल-चाल के शब्द उस में खूब प्रयुक्त हुए हैं।[1]

(१२) राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद—ये हिंदी के बड़े भारी प्रेमी थे और इन्हीं के उद्योग से हिंदी को संयुक्त प्रांत के शिक्षा-विभाग में स्थान मिला। इन्हों ने संवत् १९०२ में 'बनारस-अखबार' नाम का एक समाचार-पत्र निकाला। उस समय अदालतों आदि की भाषा उर्दू होने के कारण ज्यादातर पढ़े लिखे लोग उर्दू-दाँ ही होते थे, इस लिए इस पत्र की भाषा भी बहुत-कुछ उर्दू ही रक्खी गई। संवत् १९१३ में राजा साहब शिक्षा-विभाग में इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। संवत् १९११ में भारत-मंत्री सर चार्ल्स वुड ने अपनी शिक्षा-संबंधी जो योजना भारतवर्ष में भेजी थी उस के अनुसार देशी भाषाओं को भी पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया। उस समय संयुक्त-प्रांत में अदालती भाषा उर्दू थी इस लिए सरकार ने स्कूलों में भी उसे ही स्थान दिया। हिंदी की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। राजा साहब ने हिंदी के लिए बड़ा भारी प्रयत्न किया और मुसलमानों के घोर विरोध करने पर भी उन्हें सफलता मिली और हिंदी को भी स्कूलों में स्थान मिला। हिंदी को शिक्षा विभाग में स्थान मिलने पर पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता हुई। राजा साहब ने स्वयं बहुत-सी पाठ्य-पुस्तकें लिखीं और दूसरों से भी लिखवाईं। यदि उस समय शिक्षा-विभाग में हिंदी को स्थान न मिला होता तो उस की इतनी प्रगति होती इस में संदेह है। हिंदी के अदालती भाषा हो जाने पर भी आज अदालतों में उर्दू का ही बोल-बाला है पर राजा साहब की कृपा से शिक्षाविभाग में हिंदी उर्दू से किसी अंश में पीछे नहीं है। इस प्रकार राजा साहब ने हिंदी का जो उपकार किया उस से वह कभी उऋण नहीं हो सकती। राजा साहब की रचनाओं की भाषा आरंभ में बोलचाल की सरल हिंदी होती थी जिस में प्रति दिन व्यवहार में आने वाले उर्दू शब्दों का भी प्रयोग होता था। क्या ही अच्छा होता कि अंत तक उन की यही शैली स्थिर रहती पर ऐसा नहीं हुआ। उन की शैली में उर्दू शब्दों का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और उन की अंतिम रचनाएँ तो इसी कारण हिंदी की अपेक्षा उर्दू के अधिक निकट हैं। परंतु इस में भी उन का जो उद्देश्य था वह प्रशंसनीय ही कहा जायगा। वे चाहते थे कि हिंदी और उर्दू में अधिक अंतर न रहे

---

[1] 'विशालभारत', भाग ७, अंक २–३–४

(और वह धीरे-धीरे दूर हो जाय) ताकि हिंदी के प्रति मुसलमानो का विरोध न रहे और हिंदी का स्थान उर्दू से कम न रहे। राजा साहब के उत्तरोत्तर बढते हुए उर्दूपन की आलोचना करते समय हमें तात्कालीन परिस्थिति को भली भाँति ध्यान में रखना चाहिए।

(१३) **राजा लक्ष्मणसिंह**—इन्हों ने राजा शिवप्रसाद की उर्दू से भरी शैली का विरोध किया और ये विशुद्ध शैली का पक्ष लेकर आगे आए। सवत् १९१८ में उन्हो ने 'प्रजा-हितैषी' नामक एक पत्र निकाला और अगले ही वर्ष 'शकुतला' का अनुवाद विशुद्ध हिंदी में प्रकाशित किया जिस में ठेठ शब्दो के साथ-साथ सरल तत्सम शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। विदेशी यानी उर्दू शब्दो को बचाने के लिए उन्हो ने विशेष रूप से प्रयत्न किया। सरल होते हुए भी इन की शैली व्यावहारिक नही कही जा सकती। उस में निबंध लिखे जा सकते है पर वह बोलचाल की नही हो सकती। प्रतिदिन काम में आने वाले और लोगो की जबान पर नाचने वाले अरबी-फारसी शब्दो को एक दम निकाल देना भाषा की सचित शक्ति को घटाना है। विनोदात्मक शैली में तो ऐसे शब्द बडे उपयुक्त और आवश्यक हो पडते हैं।

(१४) **स्वामी दयानद**—इन का हिंदी पर बडा भारी ऋण है। मातृभाषा हिंदी न होते हुए भी उन्हो ने अपनी रचनाएँ हिंदी में लिखीं और अपने अनुयायियो के लिए उन का पढना आवश्यक कर दिया। यही कारण है कि आज पजाब जैसे उर्दू के प्रबल गढ में भी हिंदी का प्रचार है। स्वामी जी की शैली विशुद्ध है, और विषयानुसार सस्कृत शब्द भी प्रयुक्त हुए है। उर्दू शब्द प्राय नही आए है।

(१५) **नवीनचद्र राय**—यह ब्राह्मसमाजी थे और पजाब में रहते थे। ये समाज-सुधारक तथा स्त्री-शिक्षा के बडे भारी पक्षपाती थे। उन्हो ने ब्रह्म-समाज के सिद्धातो और सामाजिक विषयो पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी। कई पत्रिकाएँ भी निकाली जिन में एक का नाम 'ज्ञान-प्रदीपिका' था। इन के कारण पजाब में हिंदी-प्रचार होने में बडी सहायता मिली। इन की भाषा भी विशुद्ध हिंदी होती थी।

(१६) **श्रद्धाराम फिल्लौरी**—यह भी पजाब के निवासी थे। ये बडे अच्छे कथा-वाचक और व्याख्याता थे। इन का कहने का ढग बडा हृदयग्राही होता था जिस से इन की कथाओ आदि का जनता पर बडा भारी प्रभाव पडता था। ये बडे स्वतत्र विचारों के मनुष्य थे। इन्हों ने कई-एक धार्मिक पुस्तकें बडी जोरदार भाषा में लिखी है।

राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह तक आकर हिंदी ने बहुत कुछ स्थिरता और एकरूपता प्राप्त कर ली। अब हिंदी में लिख कर भावो को प्रकट करना सुगम हो चुका था। अनेक विषयो पर लिखा भी जाने लगा। क्षेत्र बिल्कुल तय्यार था। इस क्षेत्र में स्थायित्व का बीज बोने वाले की ही आवश्यकता रह गई। इसी समय भारतेंदु हरिश्चद्र कार्यक्षेत्र में उतरे और उन के हाथो यह कार्य पूर्ण सफलता के साथ सपन्न हुआ। उन्हो ने हिंदी में जीवन डाल कर उसे अपने पैरो पर खडी होने के योग्य बना दिया। हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में उन्हो ने युगातर उपस्थित कर दिया—हिंदी का आधुनिक युग वास्तव में उन्ही के साथ आरभ होता है—वही आधुनिक हिंदी के जन्मदाता है।

आधुनिक काल के हिंदी-गद्य की आलोचना के पूर्व हम यहाँ पर दो एक भ्रातियो का निराकरण कर देना अत्यत आवश्यक समझते है।

कतिपय भ्रांतियों का निराकरण

(१) कुछ समय तक लोगो में यह धारणा प्रचलित थी और कुछ अशो तक अब भी है कि खडीबोली का जन्म ब्रजभाषा से हुआ है। सौभाग्यवश यह भ्राति अब दूर हो रही है। ऐतिहासिक खोजो ने यह सिद्ध कर दिया है कि खडीबोली ब्रजभाषा से स्वतत्र बोली थी और है। खडीबोली भी उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि ब्रज। खडीबोली में लिखी हुई कई रचनाएँ प्राप्त हुई है और कई लेखको के नाम ज्ञात हुए है, जिन में अमीर-खुसरो का समय सवत् १३१२ से १३८१ तक है। इस से भी पूर्व विक्रम की नवी शताब्दी में लिखित 'कुवलयमाला' नामक प्राकृत भाषा की पुस्तक में 'मेरे तेरे आओ' यह मध्य देश की भाषा का नमूना दिया गया है[1] जिस से खडीबोली की प्राचीनता सिद्ध होती है। हेमचद्र के 'अपभ्रश-व्याकरण' में आकारात शब्दो के रूप खास कर नोट किए गए है, जो खडीबोली की विशेषता है (ब्रज और राजस्थानी में ये शब्द ओकारात हो जाते है)।

(२) दूसरी भ्राति यह फैली हुई है कि आधुनिक हिंदी-गद्य की भाषा उर्दू से

---

[1] अपभ्रशकाव्यत्रयी (गायकवाड ओरियटल सीरीज न० ३७), भूमिका, पृष्ठ ९२, में दिया हुआ अवतरण।

अरबी-फारसी शब्दो को निकाल कर बनाई गई है। यह कथन सर्वथा निराधार है। हम ऊपर देख चुके है कि खडीबोली बहुत प्राचीन भाषा है। वह आरभ में दिल्ली-मेरठ के प्रात की भाषा थी। मुसलमानो ने यहाँ आने पर उसे अपनाया और वे उस में रचनाएँ करने लगे। पहले उन रचनाओ की भाषा बोलचाल की होती थी और ज्यादातर शब्द ठेठ हिंदी के होते थे। बाद में उन्हो ने उस में अरबी-फारसी के शब्द भरना प्रारभ किया, जिस से उर्दू का विकास हुआ। मुसलमानो के प्रसार के साथ-साथ खडीबोली का भी प्रसार हुआ। इस खडीबोली में राज्य-शासन से सबध रखनेवाले अरबी-फारसी के शब्द भी रहे होंगे, जो धीरे-धीरे बोलचाल के शब्द बन गए। धीरे-धीरे खडीबोली उत्तरी भारत की राष्ट्रभाषा-सी बन गई और शिष्ट-समुदाय के परस्पर के व्यवहार के प्रयोग में आने लगी। पर यह रूप उर्दू-साहित्य की अरबी-फारसी से लदी हुई भाषा से भिन्न था। उस में केवल बोलचाल के अत्यत प्रचलित विदेशी शब्द ही रहे होंगे और पढे-लिखे पडितो की बोली में सस्कृत के तत्सम शब्द उसी प्रकार पाए जाते होंगे, जिस प्रकार पढे-लिखे मुसल्मानो की बोली में विदेशी शब्द। साधारण बनिये-व्यापारी आदि की भाषा में दोनो का ही अभाव रहा होगा। यही बोली आगे चलकर हिंदी-गद्य की भाषा हुई।

(३) इसी प्रकार यह कथन भी भ्रातिपूर्ण है कि खडीबोली-गद्य की उत्पत्ति अग्रेजो के आश्रय में हुई। अग्रेजो के आश्रय में रह कर लिखने वाले सर्व-प्रथम लेखक सदल मिश्र और लल्लूलाल थे। इन में सदल मिश्र की रचना का तो प्रचार नही हुआ और न उस का विशेष प्रभाव ही पडा। लल्लूलाल की भाषा में आधुनिक गद्य का पूर्वाभास नही मिलता। उन की भाषा व्यवहारोपयोगी न थी—वह दैनिक जीवन की बातो के लिए अनुपयोगी सिद्ध हुई। उस का कोई प्रभाव, कुछ काल बाद होने वाले लेखको की भाषा पर, नही दिखाई देता। इस के अतिरिक्त उक्त दोनो लेखको के पूर्व ही सदासुख-लाल और इशाअल्ला खाँ खडीबोली में रचना कर चुके थे। 'चकत्ता की पातसाही की परपरा' नामक एक और ग्रथ लगभग इसी समय स्वतत्र रूप से लिखा गया था। इस से पहले की रचनाएँ भी मिलती है, जिन का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अग्रेजी प्रभाव से रहित सुदूर राजस्थान में 'मडोर का वर्णन' नामक रचना खडीबोली की प्राप्त हुई है। लल्लूलाल के कुछ ही समय बाद राममोहन राय और जुगल किशोर शुक्ल हुए, जिन का अग्रेजो से कोई सबध न था और जिन्हो ने स्वतत्र रूप से समाचार-पत्र निकाले। उन

की भाषा और लल्लूलाल की भाषा में कोसो का अतर है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि न तो खडीबोली के निर्माता लल्लूलाल ही थे और न अंग्रेजो के आश्रय में ही उस का निर्माण हुआ।

आधुनिक काल

(१६००—)

आधुनिक काल का आरभ भारतेंदु हरिश्चद्र के साथ होता है।

इस काल मे गद्य का प्रचार द्रुत वेग से हुआ गद्य-लेखन-शैली अनिश्चितता से निकल कर स्थिरता को प्राप्त हुई। अधिकाश साहित्यिक रचनाएँ पद्य की अपेक्षा गद्य मे होने लगी। इस काल मे गद्य का इतना प्रसार और प्राधान्य हुआ कि विद्वानो ने इस काल का नाम ही गद्य-युग रख दिया है।

इस काल मे खडीबोली साहित्य की प्रधान भाषा हो गई। आरभ के ५०—६० वर्षों तक पद्य मे व्रज अपना प्राधान्य बनाए रही, पर अंत में उसे वहाँ से भी अपदस्थ होना पडा। आज कल व्रज में रचना करने वाले कवि बिरले ही मिलते है। राजस्थानी साहित्य-रचना भी इसी काल मे ह्रासोन्मुख होने लगी। उस में बहुत कम महत्वपूर्ण पुस्तकें, गद्य अथवा पद्य मे, लिखी गईं। खडीबोली का मुख्य प्रचार शिक्षालयो द्वारा हुआ और राजस्थान में शिक्षा सस्थाएँ जब खोली गईं, तो उन में राजस्थानी की जगह खडीबोली को स्थान दिया गया। धीरे-धीरे राजस्थानी केवल बोलचाल की भाषा मात्र रह गई और शिक्षित लोग उसे गँवारी बोली समझने लगे। परतु यह बात नही कि साहित्य-रचना मे राजस्थान पीछे रहा हो। राजस्थानी की जगह खडीबोली मे अनेक महत्वपूर्ण ग्रथो का निर्माण राजस्थान मे हुआ। खडीबोली ने इस काल में आश्चर्य-जनक उन्नति की। जिसे कुछ ही समय पहले लोग एक गँवारी बोली समझते थे, आज वह समस्त भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनने जा रही है। सुदूरवर्ती मद्रास, उत्कल और आसाम जैसे प्रदेशो में उस का प्रवेश हो गया है।

इस काल के पूर्वार्घ में हिंदी-गद्य का पुनरुत्थान बडे उत्साह के साथ हुआ। एक के बाद दूसरे लेखक बडे उत्साह के साथ साहित्य-क्षेत्र में उतर पडे। गद्य-सरिता बडे वेग से उमड चली। जल में मलिनताएँ भी थीं, पर प्रवाह बडा तेज था। धीरे-धीरे मैदान में

आने पर वेग हल्का हुआ और मलिनताएँ भी नीचे बैठती गईं। पत्र-साहित्य इस जमाने की विशेषता है। अधिकांश साहित्य-सेवी अपने साथ एक एक पत्र भी लाए। जो नहीं लाए वे इन्हीं में से किसी पत्र में लिखने लगे। 'सरस्वती' के निकलने तक पत्र-पत्रिकाओं का बहुत कुछ यही क्रम जारी रहा।

इस काल क उत्तरार्ध में भाषा को व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ। लेखकों की बढ़ती हुई उच्छृंखलता को करारा धक्का लगा। 'सरस्वती' ने निकल कर अन्यान्य पत्रिकाओं को दबा दिया। उस ने आदर्श लेखन-शैली लेखकों के आगे उपस्थित की। पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग और संघर्ष से विषय विस्तार हुआ और नए-नए विषयों पर रचनाएँ होने लगीं। आरंभ में अनुवादों का बाहुल्य हुआ, पर आगे चल कर अच्छे-अच्छे मौलिक लेखक भी उत्पन्न हुए। हिंदी के नवीन साहित्य के निर्माण का आरंभ भी अभी हुआ है। इस काल में नागरी प्रचारिणी सभा हिंदी की सेवा करने वाली प्रमुख संस्था रही। उस ने प्राचीन साहित्य के उद्धार और नवीन साहित्य के निर्माण में बहुत बड़ा कार्य किया है। आगे चल कर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का जन्म हुआ, पर परीक्षाओं इत्यादि के द्वारा हिंदी-प्रचार करने के अतिरिक्त वह कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाया। हिंदुस्तानी एकेडेमी आधुनिक संस्था है और उस ने कई महत्व-पूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किए हैं।

पत्र-साहित्य में संवत् १९७५ तक 'सरस्वती' की ही प्रधानता रही। 'मर्यादा' और 'प्रभा' भी अच्छी निकलीं। समाचार-पत्रों में 'भारत मित्र' और 'प्रताप' का खूब प्रचार था। नवीन युग में 'विशाल भारत', 'सरस्वती', 'विश्वमित्र', 'हंस', 'माधुरी', 'सुधा', 'गंगा', 'वीणा' आदि अच्छी पत्रिकाएँ निकल रही हैं। 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' और 'हिंदुस्तानी', खोज-संबंधी पत्रिकाएँ हैं। 'आज', 'प्रताप', 'अर्जुन', 'नवयुग', 'विश्वमित्र', 'भारत', 'राष्ट्रबंधु' आदि प्रमुख समाचार-पत्र हैं। 'त्यागभूमि' और पाक्षिक 'जागरण' नामक दो उच्चकोटि की पत्र-पत्रिकाएँ बहुत अच्छी निकलीं, पर चल न सकीं।

इस उत्तरार्ध भाग में हिंदी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता दिनोंदिन बढ़ती ही गई और विदेशी शब्दों का प्रयोग विरल हो चला है। अनावश्यक संस्कृत शब्दों की भरमार से हिंदी के ठेठ शब्दों का भंडार धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है। शैली की दृष्टि से उत्तम मुहावरेदार भाषा लिखने वाले लेखक अभी बहुत कम हैं। मुहावरा

भाषा का प्राण है, इस लिए हिंदी को सजीव बनाने के लिए यथासभव ठेठ शब्दो और मुहावरो का प्रयोग नितात वाछनीय है।

हिंदी-गद्य-विकास के इस आधुनिक काल को तीन उपविभागो में बांटा जा सकता है —

(१) हरिश्चद्र युग—सवत् १९२५ से १९५५ तक

(२) द्विवेदी युग—सवत् १९५५ से १९७५ तक

(३) नवीन युग—सवत् १९७५ से अब तक

हरिश्चंद्र युग

(१९२५-१९५५)

भारतेदु हरिश्चद्र आधुनिक हिंदी-गद्य के वास्तविक जन्मदाता हैं। उन के कार्य-क्षेत्र में आते ही हिंदी-गद्य की समुन्नति का युग प्रारभ हुआ। साहित्य और भाषा दोनो पर उन का गहरा प्रभाव पडा। हिंदी-गद्य मे अभी तक छोटी-मोटी साधारण विशेषत पाठशालोपयोगी पुस्तको की ही रचना विशेष करके हुई थी। परतु भारतेदु ने साहित्य के विविध अगो की ओर ध्यान देकर सभी से सबध रखने वाली रचनाए की। सब से बडा काम तो उन्हो ने यह किया कि हिंदी-साहित्य को नवीन मार्ग पर ला खडा किया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगो की विचारधारा बदल चली थी। उन के मन में देशहित, समाजहित आदि की नई उमगें उत्पन्न हो रही थी। काल की गति के साथ-साथ उन के भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पडा था। वह अभी अपने पुराने ही रास्ते पर था और उस में वही पुराने ढग की शृगार, भक्ति आदि की कविताए ही होती चली आ रही थी। कभी-कभी कोई शिक्षा-सबधी पुस्तक भी निकल जाती थी 'पर देश-काल के अनुकूल साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न अभी तक नही हुआ था।' भारतेंदु ने हिंदी साहित्य को नए-नए विषयो की ओर प्रवृत्त किया।

गद्य की भाषा को परिमार्जित कर के उन्हो ने उसे एक, बहुत ही चलता हुआ, मधुर और स्वच्छ रूप दिया। भाषा का निखरा रूप भारतेदु के साथ ही प्रकट हुआ। उन की

भाषा में न तो ल्ल्लूलाल का ब्रजभाषापन है, न सदल मिश्र का पूरबी-पन, और न मुंशी सदासुख का पंडिताऊपन। इसी प्रकार वे न राजा शिवप्रसाद की भांति उर्दूपन के पक्ष-पाती थे और न राजा लक्ष्मणसिंह की भांति विशुद्धपन के। इन सब 'पनों' से उन की भाषा बची हुई है। उन्हों ने देख लिया कि शिवप्रसाद की भाषा जनता की भाषा से बहुत दूर है और इसी प्रकार लक्ष्मणसिंह की भाषा व्यावहारिकता से परे। प्रति दिन प्रचलित और लोगों की जबान पर नाचने वाले अरबी-फारसी शब्दों को एकदम छोड़ देना भाषा की संचित शक्ति को घटाना है। हास्य और व्यंगात्मक शैली में ऐसे शब्द कितने उपयोगी होते हैं, इन्हीं कारणों से उन्हों ने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। उन की भाषा में संस्कृत के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, पर यथासंभव व्यावहारिक और तद्भव रूप में। इसी तरह बोलचाल के अरबी-फारसी शब्द भी उन्हों ने बचाए नहीं, यद्यपि उन का प्रयोग तत्सम रूप में नहीं हुआ है। संस्कृत शब्दों के होते हुए भी उन की भाषा सुबोध है और अरबी फारसी शब्दों के होते हुए भी वह उर्दू नहीं जान पड़ती।

भारतेंदु जी की भाषा व्यवस्थित है। उस में ऐसे वाक्य नहीं मिलते जिन के विभिन्न उपवाक्य या वाक्यांश बराबर जुड़े हुए न हों। इस के लिए उन्हों ने समुच्चय-बोधक अव्ययों का उपयुक्त व्यवहार किया है। विराम-चिन्हों का उपयोग भी पहले की अपेक्षा अधिक सुचारु हुआ है।

भारतेंदु ने लेखन-शैली में हास्य और व्यंग का पुट दिया, जो आगे चलकर भार-तेंदु-काल के समस्त लेखकों की एक मुख्य विशेषता हो गई। मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों आदि के समुचित प्रयोग से उन की शैली निखर उठी है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म सुप्रसिद्ध सेठ अमीचंद के घराने में संवत् १९०७ में काशी में हुआ। उन के पिता गोपालदास थे, जो स्वयं हिंदी के अच्छे लेखक थे। उन का 'जरासंध-वध' काव्य और 'नहुष-नाटक' बहुत प्रसिद्ध है। हरिश्चंद्र छोटी अवस्था से ही प्रखर बुद्धिवाले और प्रतिभाशाली थे। पांच ही वर्ष की उम्र में उन्हों ने एक दोहा बना कर अपने पिता को सुनाया था। माता-पिता का सुख वे अधिक न भोग सके। उन की शिक्षा भी भली-भांति न हो पाई। वे अत्यंत स्वतंत्र प्रकृति के पुरुष थे। विचारों के उदार थे। अपव्ययी भी बहुत थे, जिस से अंतिम दिनों में कष्ट भी उठाना पड़ा।

संवत् १९२५ में भारतेंदु ने 'विद्यासुंदर' नामक एक बंगला नाटक का अनुवाद

किया। उस के बाद उन की साहित्य-सेवा बराबर जारी रही। उसी वर्ष 'कवि-वचन-सुधा' नामक पत्रिका निकाली, जिसे वे कोई साढे सात वर्ष तक निकालते रहे। पहले इस में कविताए छपती थी, पर बाद में गद्य-लेख भी छपने लगे।

सवत् १९३० में उन्हो ने 'हरिश्चद्र मेगजीन' नाम की दूसरी पत्रिका निकाली, जिस का नाम बाद में हरिश्चद्र-चद्रिका' हो गया। हिंदी-गद्य का परिष्कृत रूप सब से पहले इसी पत्रिका में प्रकट हुआ। उन के प्रोत्साहन से बहुत से लोग हिंदी में लिखने लगे और हिंदी-लेखको का एक खासा मडल तैयार होगया। सवत् १९३१ में भारतेदु ने 'बाल-बोधिनी' नामक पत्रिका स्त्री-शिक्षा के प्रचार के वास्ते निकाली, पर वह अधिक दिन नहीं चली।

सवत् १९३० में भारतेदु ने अपना सब से पहला मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन लिखा। इस के बाद उन्हो ने और भी कई नाटक बनाए, जिन में 'सत्य-हरिश्चद्र', 'चद्रावली', 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अधेरनगरी' आदि उल्लेखनीय हैं। अनुवादित नाटको में 'पाखड-विडबन', 'कर्पूरमजरी', और 'मुद्राराक्षस' बहुत प्रसिद्ध है। नाटको के अतिरिक्त इतिहास-सबधी पुस्तके भी उन्हो ने लिखी।

गद्य की भाति पद्य मे भी उन्हो ने युग-परिवर्तन किया। प्राचीन ढग की रसपूर्ण कविता लिखने के साथ ही-साथ आधुनिक भावो से पूर्ण कविता भी रची। प्राचीन और नवीन का बडा ही सुदर सामजस्य भारतेदु की कला में पाया जाता है।

भारतेदु जी बडे भारी सुधारक और देशप्रेमी थे। उन का देश-प्रेम उन की रचनाओ में सर्वत्र पाया जाता है और वही उन की रचनाओ का व्यापक भाव है।

जैसा कि ऊपर कह आए है, भारतेदु जी के प्रोत्साहन से अनेक लोग हिंदी में लिखने लगे और हिंदी लेखको का एक खासा मडल तैयार होगया। एक-एक कर के नवीन लेखक कार्यक्षेत्र में उतर पडे और हिंदी गद्य द्रुत वेग से आगे की ओर बढ चला। इन नवीन लेखको का उत्साह अपूर्व था। अधिकाश जिन्दादिल थे। उन की भाषा में हास्य विनोद की अच्छी बहार रहती थी। अधिकाश लेखक अपने साथ एक-एक पत्र-पत्रिका भी लाए। जो नही लाए वे दूसरो के पत्रो में लिखने लगे। विषय विविधता बढी, पर अधिकाश लोगो ने निबध ही लिखे। अनुवादो, विशेषत बगला के उपन्यासो के अनुवादो, का भी आरंभ हुआ।

परिशिष्ट

प्राचीन हिंदी गद्य के उदाहरण

(क) राजस्थानी गद्य

संवत् १३३०

अढार पापस्थान त्रिविधिहिं मनि-वचनि-काइ करणि-करावणि अनुमति परिहरहु। अतीतु निंदउ, वर्तमानु संवरहु, अनागत पारव्खउ। पञ्चपरमेष्ठि नमस्कारु जिनशासनि-सारु चतुर्दश-पूर्व-समुद्धारु सम्पादित-सकलकल्याणसम्भारु विहितदुरितापहारु क्षुद्रोपद्रवपर्वतवज्रप्रहारु लीलादलितसंसारु सु तुम्हि अनुसरहु।

संवत् १३३६

स्वर केता १४। समान केता १०। सवर्ण १०। ह्रस्व ५। दीर्घ ५। लिंगु ३। पुल्लिंगु, स्त्रीलिंगु नपुंसकलिंगु। भलउ पुल्लिंगु, भली स्त्रीलिंगु, भलु नपुंसकलिंगु।

संवत् १३५९

(१) पहिलउँ त्रिकालु अतीत अनागत वर्तमान बहुत्तरि तीर्थंकर सर्वपाप-क्षयकर हुउँ नमस्कारउँ। तउ पहिलई सौधर्मि देवलोकि बत्रीसलाख, बीजइ ईसानि देवलोकि अट्ठावीस लाख सातमइ शुक्रदेवलोकि च्यालीस सहस, आठमइ सहस्रारि देवलोकि छ सहस इग्यारइ आरणि देवलोकि बारमइ अच्युतदेवलोकि त्रिहू दउढ़ु दउढ़ु सउ, अनइ हेठिले त्रिहु ग्रैवेयके इग्यारोत्तर सउ माहिले सत्तोत्तर सउ उपइले एकु सउ. . .एवकारइ स्वर्गलोकि चउरासी लाख सत्ताणवइ सहस त्रेवीस आगला जिन भुवन वांदउँ।

(२) माहरउ नमस्कारु आचार्य हुउ। किसा जि आचार्य ? पञ्चविधु आचारु जि परिपालइ ति आचार्य भणियइ। तीह आचार्य माहरउ नमस्कारु हुउ। ईणि संसारि

दधि चदन दूर्वादिक मगलीक भणियइ। तीह मगलीक सर्व ही माँहि प्रथमु मगलु एहु। ईणि कारणि शुभ-कार्य आदि पहिल्उँ सुमरेवउँ जिव ति कार्य एह-तणइ प्रभावइ वृद्धि-मन्ता हुयइ।

संवत् १३६६

मृषावादि मृषोपदेश दीधउ, कूडउ लेख लिखिउ, कूडी साखि थापण मोसउ, कुणहइ-सउँ राँडि भेडि कलहु विढाविढि जु कोइ अतिचार मृषावादि वृति भव सगळाइ माहि हुउ त्रिविधि त्रिविधि मिच्छामि दुक्कडं।[1]

तीर्थजात्रा रथजात्रा कीधी, पुस्तक लिखाव्याँ, तप नीपम देववन्दन वाँदणाँ सज्याइ अनेराइ धर्मानुष्ठान-तणइ विखइ जु ऊजमु कीधउ सु अह्मारउ सफलु हुओ।

संवत् १४११

(१) ईंही जि जबूद्वीप माहि भरतक्षेत्र माहि मगध नामि जनपदु छइ। तिहाँ विजयवती नामि नगरी। तिहाँ नरवर्म नामि राजा, रतिसुदरी नामि पट्टमहादेवी हूँती। हरिदत्त नामि पुत्तु हूँतउ। मतिसागरादिक, अनेकि महामात्य हूँता। अनेरइ दिवसि राजेंद्र आगइ सभा माहि धर्मविचार विखइ आलापु नीपनउ।

(२) एतवइ प्रस्तावि चोरु एकु चोरी करी तिहाँ आविउ। केडइ वाहर पुण आवी। चोरु स्मशान वन गहन माहि पइठउ। वाहर बाहिरि वेढु करि रही। चोरि महेसरदत्तु चडतउ ऊतरतउ देखी करी बोलाविउ तउँ ज विद्या साधइ छइ स मूँहरइ आपि, एह माहरउ धनु तउँ लइ।

संवत् १४५०

जु करइ, सुइ, दिइ, पठइ, हुइ—इत्यादि बोलिवइ उक्ति माहि क्रिया करवइ जु मूलिगउ हुइ सु कर्ता। तिहाँ प्रथमा हुइ। चन्द्र ऊगइ—ऊगइ इसी क्रिया। कउण ऊगइ? चन्द्र। जु ऊगइ सु कर्त्ता तिहाँ प्रथमा। ज दीजइ त कर्म। तिहाँ द्वितीया।

संवत् १४५७ के लगभग

(१) दृढ प्रहार पल्लीपति धाडि सहित एकि गामि पडिओ। एक ब्राह्मण-नइँ घरि

---

[1] यह वाक्यांश प्राकृत भाषा का है।

क्षीरनूं भोजन ब्राह्मणी अनइ बालक बाहावनां हूतां लीधउ। तेतलइं ब्राह्मण स्नान करिवा गिओ हूँतओ, ते आविओ। तीणइ रीस लगइं भोगल लेइ बेतलाइ चोर विणासिया।

(२) पछइ राजाइ काळसूरीउ सातकी बोलाविउ। तेह-हइं सहिउं भावइ तेतलउ द्रव्य मागि पणि जीवहिंसा परही मूंकि। काळ सूरिउ पछइ राजाइ ते अंधकूप माहि घाती अहोरात्र राखिउ।

संवत् १४७८

(१) तीह माहि बखाणीयइ मरहट्ठ देस। जीणइ देसि ग्राम, अत्यन्त अभिराम।[1] भला नगर, जिहांन मागीयइ कर। दुर्ग, जिस्यां हुइ स्वर्ग। धान्य, न नीपजइ सामान्य। आगर, सोना-रूपा-तणा सागर। जेह देस माहि नदी वहइ, लोक सुखइं निर्वहइ। इसिव देश, पुण्य तणउ निवेश, गरुअउ प्रदेश।

(२) सांभळउ ए वात, ए आगळि दीसइ पद्मपुरनगर महा-विख्यात। तिहां छइ राजा समरकेतु, अति सचेतु, वयरी प्रति साक्षात् केतु। जेतलइ तेउ ए वात जाणि-सिइ, तेतलइ ताहरा अहंकार-तणउ अन्त आणिसिइ। एह कारणि चोर आपि निर्दोष थाउ, पछे तुम्हइ भावइ तिहां जाउ।

(३) रत्नमञ्जरी कुमारि प्रतिहारि-तणां इस्यां वचन सांभळी अगि रोमाञ्च धरती, नेउर-तणा झमझमकार करती, हर्षभर वहती, राजा-ढूकडी पुहती। लाज ठेली, कण्ठकन्दलि वरमाळ मेल्ही। तत्काळ जयजयारव ऊछळिया, लोक कलकळ्या। विद्या-धर पुष्प-वृष्टि करइं, भट्ट जय-जय-शब्द उच्चरइं।

संवत् १५००

राजसिंह कुमार रत्नवती सहित नाना प्रकार भोगसुख भोगवइ छइ। घणउ काळ हूओ। एक वार पिताइं मृगांकराजाइं प्रतीहार हाथि लेख मोकलीनइ कहाविउं—वच्छ अमे वृद्ध हुआ। राज्य छाडी दीक्षा लेवानी[2] उत्कण्ठा करूं छउं।

---

[1] इस प्रकार के अंत्यानुप्रास वाले गद्य को राजस्थानी में वचनिका कहते हैं। इन्शाअल्ला खाँ, लल्लूलाल आदि ने भी ऐसा गद्य लिखने का प्रयत्न किया है। यह प्रथा बहुत प्राचीन है (सं० १३३० का अवतरण देखो)।

[2] नी = की। प्राचीन राजस्थानी का यह विभक्ति-चिन्ह आधुनिक गुजराती में चला आया है।

घणा काळ रगइ ताहरा दर्शनिनी उत्कण्ठा छइ। तु वहिलु आँहाँ आविजे। पछइ राजसिंह कुमार चालिउ। अनुक्रमिं पुहुतउ। पिताह्रइँ प्रणाम कीधउँ। सर्व कुटुम्ब परिवार हरिया।

संवत् १४७० के लगभग

(१) महाराना जी विसक्रमाजी बोलाया। विसक्रमाजी आया। हुक्म थारा। विसनपुरी रुद्रपुरी ब्रह्मपुरी विचैं अचळपुरी बसावउ।

(२) विसनपुरी का विसनलोक आया। रुद्रपुरी का रुद्रलोक आया। ब्रह्मपुरी का ब्रह्मलोक आया। इन्द्रपुरी का इन्द्रलोक आया।

—अचळदास खीचीरी वचनिका

संवत् १६०० के लगभग

(१) राजि श्री सीहोजी कनवज-हुँती आइ खेड रहीयो। पछैं श्री द्वारका जीरी जातनुं हालीयो। सु विचाळैं पाटण मूळराज सोलङ्कीरी रजवार सु लाखो फुलाणीउजाड घणा कीया। सु तेरैं लीयैं सीहैं जीनुं राखै। पछैं सीहैंजी कहो जु[१] जात करिनैं घिरतो आइस। पछै घिरता आया ताहरा लाखो फुलाणी मारीयो। पछैं सीहैंजी नुं मूलराज पर-नाइनै खेड मेल्हीया।

(२) पछैं जोधोजी राम कहो[२] सु टीकाइत नीवो हुतो सु पेहली राँम कहो हुतो। पछैं राउ वीको कोडमदेसर हुँतो सु रा वेरसल भीमोत वीकेजीनु कहाडीया जु राउ जोधैं राम कहो छै जे विगर गढमैं चढीया तु आयो तो टीको तोनु हुसी। पछैं राउ बीको कोडमदेसर-हुती हालियो सु पेडैं माहै आवन्त अँमल करनै सुती। सु मोवडेरा आयो। पछै सातळनुं टीको दीन्हो। तितरैं राउ बीको ही आयो। पछैं गढ घेरीयो।

संवत् १६२५ के लगभग

(१) मोहिल अजीत नैं राँणो वछो दर्यांरी राजथाँन लाडणुं नैं छापर हुतो नैं द्रुणपुर मोहिल कान्हो वसतो। पछैं महाराइ श्री जोधै जी सगळा नुं मारिनैं मोहिलाँरी धरती लेनैं राजि श्रीवीदेजीनुं राखीयो।

---

[१] जु, जो—पुरानी हिंदी में 'कि' के स्थान पर प्रयुक्त होते थे।
[२] राम कहो = राम कह्यो = स्वर्ग सिधारे।

(२) जोधपुर तुरकाणी छै। चन्द सेणजी राम वहो ताहरा टीको आसकरननु दीनो। पछै जितरेहेके दिहाडै उगरसेन वहो जु मो क्न्हा चाकरी कराडो की नहीं।

संवत् १६५० के लगभग

राउ जोधो गया जी जान पधारीया। आगरारी पारवती नीसरीया। तरां राजा करन कनवज री धणी राठोड निणसूं जोधोजी मिलिया। तरै राजा करन पातिसाही अमराव थो। तिण पातिसाहिजीनुं गुदरायो राउ जोधो मारवाडिरो धणि छै, वडो राजा छै, गुजरातिरै मुंहडै इणारो मुलक छै।

संवत् १६६० के लगभग

तिणि वेळा दातार झूझार राजा रतन मूंछां करि घाति बोलै। तरवार तोलै। *आगै लडता कुरखेत महाभारत हूआ। देव-दाणव लडि मूआ। च्यारि जुग कथा रही।* वेदव्यास वाल्मीक कही। सु तीसरो महाभारत आगम कहता उजेणि खेत। अगनि सोर गाजसी। पवन वाजसी। गजवन्ध क्षत्रबन्ध गजराज गडसी। हिंदू असुराइण लडसी।

—राव रतन महेसदासोतरी वचनिका

संवत् १६८० के लगभग

जहाँगीर पातिसा, नूरमहल इतमाददोलारी वेटी असफखांरी वहन, तिणसूं साहजादै खर्रा यारी हुती तै पछै पातसा हुवो तरै उणरो मांटो मारिनै उणनूं लै मोहल्लामो घाली। पातसाही उणनूं सूंपी।

संवत् १७०० के पूर्व

पछै वेढ हुई। उमराव जैनसीजीरा भागा। आप काम आया। साथ माहै दूजो ही लोक काम आयो सु रिणमाँ जैतो-कूंपो आया जद कहो—सांखलो नाठो दीसै छै, देखां परबा जाव कहे थो। कही कहो—सांखलो तो मोहल्लमें खेत पडो छै। अै ऊपर आया। देखै तो सांखलो गिरणै छै। तद पूछो—सांखला, गिरणै सु घाव दोहरा लागा। तद इयै कहो—जी घाव न दूखै छै पण छोटे माणसे मोटो राव मारीयो तै गिरणूं छूं। तद कहो—म्हारो वेटो सांखलो उणतरै ही ज बोलै, इणरै मुहम धूड़घातो। सु धूड घाती। सा वणी कहो—धरती तो सांखलो दाबा मं लै रहो।

संवत् १७२० के लगभग

(१) तठै पाबूजी गायां पाय नैं छोडी छै। इतरैं स्नेह दीठी। कही रै चांदा आ सेह केरी? तद चांदैं कही—राज खीची आयो। अर पहलडी लडाई मांहे चांदै खीचीनुं तरवार वाही हुन्ती तद पाबूजी तरवार आपड लीवी, कही—मारो मतां, वांईं रांड हुसी। तद चांदैं कही—राज, आप तरवार आपडी, बुरी कीवी। पण पाबूजी मारण दीया न ै। तठै फौज आई। तद चांदैं कही—राज, जो मारीयो हुवै हात तो पाप कटियो हुन, हरांमखोर आयो। तठै पाबूजी तो वुहा नैं लडाई कीवी। वडो रीठ वाजियो। तैंसुं पाबूजी तो कांम आया।

—मुहणोत नैणसीरी ख्यात

(२) राजा राइस्यग कल्याणमलोत वडो महाराजा हुवो बीकानेर जूनोगढ, पञ्जाब सुधी धरती हुती। नागौर हुतो, पहल तुरकाणं जोधपुरि पातिसाह अकबर दियो थो। वडो दातार राजा हुओ। चारणांरैं मसाणं हाथी बाधा।

संवत् १८०० और १८४५ के बीच में

चातक, दादर, मोर तीनूं ही मेघरा मित्र है जिणांमें मयर अन उत्तम है। मेघ चानवरै फायदो करै, दादुररैं अत फायदो करै, मोररैं क्यूंही फायदो करै नहीं।

संवत् १८६० के लगभग

जिण खिसामैं दराजी रहै सो खिसो इतिहास कहावै। जिण खिसामैं कम दराजी सो वात कहावै। इतिहासरी अवयव प्रसग कहावै। जिण वात मैं एक प्रसग ही चमत्कारीक होय तिका वात दासतान कहावै।

संवत् १९२० के लगभग

सवत् १८८५ वैसाख वद ५ श्री म्हाराज रतनसिंहजी तखत विराजिया करणम्होल मैं। सु पहलां तो गांव सेखसररैं गोदारैं तिलक कियो श्री हजूररैं। वा पीछैं म्हाजनरा ठाकरां वैरीसालजी सेरसिंघोत हजूर रैं तिलक कियो। पीछैं रावत सर रा ठाकरां म्हारसिंहजी तिल्क कियो।

खरीतो १ दिल्लीरैं रजीडण्ट कवल्वूरक साहब बहादर रो आयो। श्री दरबार साम्हों जैमैं इस्यो लिख्यो के घोवळसिंहजी जोधपुर रैं इलाके मैं फिसाद करै है।

(ख) ब्रजभाषा गद्य

संवत् १४०७

(१) श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत् है। है कैसे परमानन्द आनन्द-स्वरूप है सरीर जिन्हिको जिन्हिके नित्य गाये ते सरीर चेतनि अरु आनन्दमय होतु है।...... स्वामी तुम्ह तो सतगुर अम्हे तो सिष, सबद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करिबा रोस।[1]

(२) सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ स्नान करि चुको, अरु सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननिको दे चुको अरु सहस्र जग्य करि चुको, अरु देवता सर्व पूजि चुको, अरु पितरनि को सन्तुष्ट करि चुको, *स्वर्गलोक प्राप्त करि चुको, जा मनुष्य को मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो।*[1]

विट्ठलनाथ (१५७२-१६४२)

प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रमामृत में डूबि के इनके मन्द हास्यने जीते है। अमृत समूह ताकरि निकुञ्ज विषै शृंगार-रस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।

गोस्वामी गोकुलनाथ

ता पाछे कृष्णदास राजा टोडरमल सों विदा होयके श्रीनाथजी-द्वारको चले। सो मथुरा आये। तब मार्ग में अवधूतदास मिले। तब कृष्णदाससों अवधूतदास ने कही जो[2] कृष्णदासजी, ढील कहा करि राखी है, बगालीनको काढो, श्री नाथजी की ऐसी इच्छा है, श्रीनाथजीको अपनो वैभव फैलावनो है। तब कृष्णदास ने कह्यो जो श्री गुसाई जी की आज्ञा लेके आयो हौं, अब जाय के बगालीन को काढत हौं। सो वे बगाली सब रुद्रकुण्ड ऊपर रहते। सो उहाँ उनकी झोपडी हुती। सो कृष्णदास ने जराय दीनी। तब सोर भयो।

—चौरासी वैष्णवन की वारता

---

[1] ये रचनाएँ गोरखनाथ की कही गई है, पर उन की नहीं है। इन का समय भी १४०७ ठीक नहीं जान पड़ता।

[2] जो = कि। कि का प्रयोग बहुत समय बाद होने लगा था। संभव है, यह फ़ारसी से लिया गया हो। यद्यपि कई विद्वानों की राय इस के प्रतिकूल है। वे इस की उत्पत्ति 'किम्' से मानते हैं।

नाभादास (संवत् १६६० के लगभग)

तब श्री महाराज कुमार प्रथम वशिष्ट महाराजके चरन छुइ प्रनाम करत भये। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भये। फिर श्री राजाधिराजजूको जोहारि करिकैं श्री महेन्द्रनाथ दशरथजूके निकट बैठते भये।

गोस्वामी तुलसीदास (संवत् १६६६)

सवत् १६६९ समये कुआर सुदि तेरसी बार शुभ दीने लिखित पत्र अनन्द राम तथा कन्हई के असवीभाग पुर्वव आग कै आग्य दुनहु जने मांगा जे आग्य मै दो प्रमान माना दुनहु जने विदीत तफसीलु अशु टोडरमलु के माह जो विभाग पटु होत रा—[1]

—पञ्चनामा

बनारसीदास (१६७०)

सम्यग् दृष्टि कहा ? सो सुनो। सशय, विमोह, विभ्रम—ए तीन भाव जामैं नाही सो सम्यग्-दृष्टि। ससय, विमोह, विभ्रम कहा ? ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु हैं। सो सुनो।

भुवनदीपिका (संवत १६७१)

जउ अस्त्री-पुत्र-तणी[2] पूछा करइ। आठमइ-नवमइ-स्थानि एकलो सुक्र होइ तउ प्रताप स्वभाव रमतउ कहिवउ।[3]

वैकुण्ठमणि शुक्ल (१६७५-१६८४)

सब देवतन की कृपा तैं वैकुण्ठमनि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चन्द्रावती के धरम पढिवे के अरथ यह जयरूप ग्रन्थ बैसाख-महातम भाखा करत भये। एक समय नारदजू ब्रह्माकी सभासे उठिके सुमेर पर्वत को गये।

दामोदर दास (संवत् १७१५)

अथ बन्दन। गुरदेवकुँ नमसकार। गोबिन्दजीकूँ नमसकार। सरब परकारके

---

[1] इस की भाषा ब्रज नहीं, पर बोलचाल की अवधी है।
[2] तणी = की (राजस्थानी प्रत्यय)
[3] इस उदाहरण की भाषा राजस्थानी भी कही जा सकती है।

सिध, साव, रिपमुनिजन, सरवहीकूँ नमसकार। अहो तुम सब साथ असी वुधि देहु जा वुधि करि या ग्रन्थ की वारतिक भाखा अरथ रचना करियँ।

—मार्कण्डेयपुराण भाषा

भोगलपुराण (संवत् १७६२ के पूर्व)

सुमेर परवत के दक्षिणी भाग जबू असं नाम अेक वृक्ष हैं। अरु अेक लाख जोजन जबूवृक्षका विस्तार है। तिस वृक्ष का फल हसती समान है। से फल पडत प्रमाण पाँणीका प्रवाह चल्त हैं। सो प्रवाह मानसरोवर जात है। फु निस फलका रसकी नदी वहिती है।

—सवत् १७६२ की प्रति से

नासिकेतोपाख्यान (संवत् १७६४ के पूर्व)

हे ऋषीस्वरो और सुनो मैं देख्यो है सो कहुँ। काले वर्ण महादुखको रूप जमकिंकर देखे। सर्प बीछू रीछ व्याघ्र सिंह वडे वडे ग्रध्र देखे। पथ में पापकर्मीको जमदूत चलाइ कै मुदगर अरु लोहकै दड कर मार देत है। आगे और जीवन कौं त्रास देते देखे हैं। सुमेरी रोम-रोम खरी होत हैं।

सूरति मिश्र (संवत् १७६७)

सीस फूल सुहाग अरु बेंदा भाग—ये दोउ आये। पाँवडे सोहे सोने के कुसुम—तिन पर पैर धरि आये हैं।

भोगलपुराण (संवत् १७७४ से पूर्व)

आकासते वायु (उ) त्पन्ना। वायु ते तेज उत्पन्ना। तेज तैं ब्रह्माण्ड उत्पन्ना। ब्रह्माण्ड तैं पाणी उत्पन्ना। पाणी तें अण्ड उत्पन्ना। अण्ड फूट कुटका भये। ते जल मध्ये विष्णु रहे हैं।

प्रेमनारायणदास (संवत १८२६)

तब श्रीकृष्ण अघोरबसी बजाई। ब्रज-गोपिकानि सुनी। राधिका ललिता विसाखादि गोपी आई। रासमण्डल रच्यो। रागरग नृत्यगान आलाप आलिंगन सम्भासन भयो।

रामचरणदास (संवत् १८४४)

पुनि राम-नाम कैसो है ? हेतु कृसानु भानु हिम कर को। जहाँ एक शब्द में दुइ

अर्थ होइ, तीन चार पाँच छै सात इत्यादिक अर्थ होइ आसय लिहे एक शब्द में, ताको श्लेषाकार कही, पुनि ध्वन्यात्मक काव्य कही। यह चौपाई मे अनेक हेतु अनेक ध्वनि अनेक आसय हैं। निज मति-अनुसार एक-दुइ में भी कहता हौं।[1]

लाला हीरालाल (१८५२)

अब शेष अवलफजल ग्रन्थ को करता प्रभु को निमस्कार करि कैं अकबर बादस्याह की तारीफ लिखने कों कसत करें हैं, अरु कहै हैं-याकी बडाई अरु चेष्टा अर निमस्कार कहाँ तक लिखूं। कही जात नाही। तातें याके पराक्रम अर भाँति-भाँति के दसतूर वा मनसूबा दुनिया में प्रगट भये ताको संक्षेप लिखत हौं। प्रथम तो बादस्याह के नाँम-सम्यारा अरथ लिखियत है। बाद फारसी भाषा में नित रहै ताका कहते हैं।[2]

—आईन-अकबरी भाषानुवाद

हितोपदेश ग्रंथ (संवत् १८६० के पूर्व)

प्रथमही श्री महादेवजू के प्रशाद तें सकल काम की सिध होय। कैसे है श्री महादेवजू। जिनके सीस चन्द्रमा ...

सरदार कवि (संवत् १९०२)

बन्सीबट के निकट आज मैंने नेक स्यामको मुख हेरो। नट नागर के पटपैं तबते मेरो मन ल्टको है।

(ग) खड़ीबोली गद्य

गंगाभट (संवत् १६२७)

(१) सिधिश्री १०८ श्री श्री पातमाहिजी श्री दलपतजी अकबरसाहजी आम-खासमें तखत ऊपर विराजमान हो रहे और आम-ख्वास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुरनिश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाय करे अपनी अपनी मिसल से, जिनकी बैठक नहीं रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड पकड के खडे ताजीम में रहे।

---

[1] 'कहत हौं' होना चाहिए।
[2] इस अंश की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट जान पडता है।

(२) इतना सुन के पातिसाहि जी श्री अक्बर साहजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इन के डेढ सेर सोना हो गया। रास बञ्चना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।

—चन्द छन्द बरनन की महिमा

मंडोवर का वर्णन (१८४० के पूर्व)

अवल[1] में यहाँ माण्डव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम माण्डव्यासुम हुवा। इस लफज बिगड कर मण्डोवर हुवा है।

लुकमान हकीम की अपणे बेटेकूँ नसीहत (संवत् १८४५ के पूर्व)

पुछ्या—वस्त किस पास मांगियें। कह्या—देणें खुस्याल रहै ....

कुतनदी साहिजादेरी वात (संवत् १८४७ के पूर्व)

पीरोजसाह पातस्याह दिली। पातस्याही करें। तिसके ज राव तिखरसिंघ, गल्तसभा, सुल्तान। तिसके दरियासाह बेटा। दुसरा महमदसाह बेटा।

मुन्शी सदासुखलाल (१८५० से १८६० के बीच)

(१) यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढते हैं कि तात्पर्य उस का सतवृत्ति है वह प्राप्त हो और उस से निज स्वरूप में लय हूजिये।

(२) धन्य कहिये राजा दधीच को कि नारायण की आग्या अपने सीस पर चढाई। जो महाराज की आग्या और दधीच के हाड का वज्र न होता तो ग्यारह जनम ताईं वृत्रासुर से युद्ध में सरवर और प्रबल न होता और न जय पावता।

ईशाअल्ला खाँ (१८५२-५५)

(१) एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढी कि कोई कहानी ऐसी कहियें कि जिस में हिंदवी छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उस के बीच न हो। अपने

[1] अवल में = अव्वल में, पहले।

मिलने वालो मे से एक कोई बडे पढे-लिखे, पुराने-धुराने डॉग, बूढे घाग यह खटराग लाये। सिर हिला कर, मुँह थुथाकर, नाक भौ चढाकर, आँखें फिराकर कहने लगे—यह बात होते दिखाई नही देती, हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो, बस जैसे भले लोग अच्छे-से-अच्छे आपस में बोलते-चालते है ज्यो का-त्यो वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो, यह होने का नही।

(२) एक डबरे पर बैठ के दोनो की मुठभेड हुई। गले लग के ऐसी रोइयाँ[1] जो पहाडो में कूक-सी पड गई। दोनो जनियाँ एक अच्छी-सी छाँव को ताड कर आ बैठियाँ अपनी अपनी दोहराने लगी।[2]

(३) अच्छापना घाटा का—कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनो राज की नदियो में थे पक्के चाँदी के थक्के-से होकर लोगो को हक्का-बक्का कर रहे थे। जितनी ठव की नावें थी सोनहरी रुपहरी, सजी-सजाई कसी-कसाई, सौ-सौ लचके खातियाँ,[3] आतियाँ, जातियाँ, ठहरातियाँ, फिरतियाँ थी।

(४) ना जी, यह तो हम से न हो सकेगा जो महाराज जगतपरकास और महारानी कामलता का हम जानबूझ कर घर उजाडे और उन की जो इकलौती लाडली बेटी है उस को भगा ले जावे और जहाँ-तहाँ उसे भटकावें और बनासपत्ती खिलावें और अपने चोंडे को हिलावें। जब तुम्हारे और उस के माँ-बाप में लडाई हो रही थी और उन्ने उस मालिन के हाथ तुम्हे लिख भेजा था जो मुझे अपने पास बुला लो, महाराजो को आपस मे लडने दो, जो होनी हो सो हो, हम तुम मिल के किसी देस को निकल चले—उस दिन न समझी। तब तो वह ताव भाव दिखाया।

लल्लूलाल (१८६०)

(१) इतनी कथा कह शुकदेव जी राजा परीक्षित से कहने लगे कि राजा, जब पृथ्वी पर अति अधर्म होने लगा तब दुख पाय घबराय गाय का रूप बन राँभती देवलोक में गई और इंद्र की सभा में जा सिर झुकाय उस ने अपनी सब पीर कही कि महा-

---

[1] रोइयाँ = रोई। बैठियाँ = बैठी।
[2] लगियाँ रूप भी प्रयुक्त हुआ।
[3] खातियाँ = खातीं या खाती हुईं।

राज, ससार में असुर अति पाप करने लगे, तिन के डर से धर्म तो उठ गया और मुझे आज्ञा हो तो नरपुर छोड रसातल को जाऊँ।

(२) मणि का प्रकाश दूर से देख यदुवशी खडे हो श्रीकृष्णचद्रजी से कहने लगे कि महाराज, तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा किये सूर्य चला आता है। तुम को ब्रह्मा, रुद्र, इद्रादि सब देवता ध्यावते हैं, और आठ पहर ध्यान धर तुम्हारा यश गावते हैं। तुम ही आदि पुरुष अविनासी, तुम्हे नित सेवती है कमला भई दासी।

सदल मिश्र (१८६०)

(१) इतनी कथा सुनाय फिर नासिकेत मुनि कहने लगे कि उस की आज्ञा से सब दूत एक किसी को इहाँ से ले गये वो[1] उन के आगे खडा कर दिया। उस का जो पुण्य-पाप का विचार होते मैंने देखा सो अब कहता हूँ। तुम सावधान हो सुनो।

(२) जो नर चोरी आदि नाना भाँति के कुकर्म में आपतो दिन-रात लगे रहते हैं, तिस पर भी औरो को दूखते हैं, वो एक अक्षर भी जिस से पढते हैं विसे गुरु के बराबर नही मानते हे, सो तब तक महा नरक को देखते है कि जब तक यह ससार बना रहता है।

बाइबिल का अनुवाद (संवत् १८६६ के लगभग)

तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास गालील से यर्दन के तीर पर आया। परतु योहन यह कह के उसे बर्जने लगा कि मुझे आप के हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं। यीशु नें उस को उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे, क्यो कि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशु बपतिस्मा ले के तुरत जल के ऊपर आया और देखो उस के लिए स्वर्ग खुल गया और उस ने ईश्वर के आत्मा को कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा। और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिस से मैं अति प्रसन्न हूँ।

इश्तहार (संवत् १८६७)

सब कोई को खबर दिया जाता है कि शहर कलकत्ता का उत्तर डिवीजन का शामिल मौवाम अमडा तल्ला गोबिन चाँद धर लेन में इगारह नवर का जमीन—उओ

---

[1] वो = और, व।

जमीन का नाप पाँच काठा, उस का कुच कमी होय और बेसी होय—उओ जमीन आर सुरती बागान के रहने वाला उस का मालिक बाबू हरिनारायन चक्रवर्त्ती उस को बेचने माँगता है[1]।

बँगला के किसी समाचार पत्र में

राजा राममोहनराय (१८७३)

जो सब ब्राह्मण साग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं अर्थात् अब्राह्मण है, यह प्रमाण करणे की इच्छा कर के ब्राह्मण-धर्मपरायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने जो पत्र साग-वेदाध्ययन हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उस में देखा जो[2] उन्हों ने लिखा है—वेदाध्ययन-हीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने सकता नहीं।

गोरा-बादल की बात का गद्यानुवाद (१८८० के लगभग)

गोरे की आवरत[3] आयेसा वचन सुन कर आप ने सावद की पगडी हाथ में ले कर वाहा सती हुद सो सीवपुर में जा के वाहा दोनो भेले हुवे। *गोरा-बादल की कथा* गुरु के व सरस्वती के मेहरवानगी से पुरन हुइ, तीस वास्ते गुरु कु व सरस्वती कु नमस्कार करता हुं। ये कथा सोल से आसी थे साल मे फागुन सुदी पुनम के रोज बनाइ। ये कथा में दो रस हे, वीरारस व सीनगार रस, सो कथा।

धरमसी नाव कायेत[4] तीन का बेटा जटमल नाव कवेसर ने ये कथा सवल गाव में पुरण करी।

जुगलकिसोर सुकुल (१८८३)

(१) एक यशी वकील वकालत का काम करते करते बुड्ढा हो कर अपने *दामाद को वह काम सौंप के आप सुचित हुआ।* दामाद कई दिन काम कर के एक दिन आया ओ प्रसन्न हो कर बोला, हे महाराज, आप ने जो फलाने का पुराना ओ संगीन

---

[1] इस अवतरण पर बँगला का प्रभाव स्पष्ट है।

[2] जो = कि।

[3] आवरत = औरत, पत्नी। आयेसा = ऐसा।

[4] कायेत = कायस्थ। नाहर ओसवाल वैश्य होते हैं, अनुवादक ने भ्रमवश कायस्थ लिख दिया है।

मोक़द्दमा हमें सौंपा था सो आज फ़ैसला हुआ। यह सुन कर वकील पछता कर के बोला तुमने सत्यानाश किया। उस मोक़द्दमे में से हमारे बाप बढे थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हम हाथ उठा के दे गये ओ हमने भी उस को बना रखा ओ अब तक भली-भाँत अपना दिन काटा ओ वही मोक़द्दमा तुम को सौंप कर समझा था कि तुम भी अपने बेटे पोते परोतो तक पलोगे पर तुम थोडे-से दिनो में उसे खो बैठे।

(२) १९ नवम्बर को अवधबिहारी बादशाह के आवने की तोपें छूटी उस दिन तीसरे पहर को प्टलिंग साहिब ओ हेल साहिब ओ मेजर फिडल ओ रेबिनशा साहिब लार्ड साहिब की ओर से अवधबिहारी की छावनी में जा कर के बडे साहिब का सलाम कहा और मोर होके लार्ड साहिब के साथ हाजिरी करने का नेवता किया। फिर अवध-बिहारी बादशाह के जाने के लिए कानपुर के तले गंगा में नावो की पुलबंदी हुई और बादशाह बडे ठाट से गंगा पार हो गवरनर जेनरेल बहादुर के सन्निध गये।

बुद्धिप्रकाश (संवत् १९०६)

इस पश्चिमीय देश में बहुतो को प्रकट है कि बगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न-मृत्यु रोगी को गगा-तट पर ले जाते है और यह नही करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिए उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा में रक्खें वरन् उस के विपरीत रोगी को जल के तट पर ले जाकर पानी में गोते देते है और 'हरी बोल—हरी बोल' कह कर उस का जीव लेते है।

राजा शिवप्रसाद

(१) देख कर लोग उस पाठशाला के किते के मकानो की खूबियाँ अक्सर बयान करते हैं और उस के बनने के ख़र्च की तजवीज करते है कि जमा से ज़ियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है, सो सब दानाई साहब-ममदूह की है, ख़र्च से दूना लगावट में वह मालूम होता है। (१९०२ वि० के लगभग)

(२) वह कौन सा मनुष्य है जिस ने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उस की महिमा और कीर्ति तो सारे जगत में व्याप रही है। बडे-बडे महिपाल उस का नाम सुनते ही कांप उठते है और बडे-बडे भूपति उस के पाँव पर अपना सिर नवाते। उस के दान ने राजा कर्ण को लोगो के जी से भुलाया और उस के न्याय ने विक्रम को भी लजाया।

(३) वेद में लिखा है कि मनुजी ने जो कुछ कहा उसे जीव के लिए औषधि समझना, और बृहस्पति लिखते है कि धर्म-शास्त्राचार्यों में मनुजी सब से प्रधान और अति मान्य हैं, क्यों कि उन्हो ने अपने धर्मशास्त्र में संपूर्ण वेदो का तात्पर्य लिखा है।

(४) हम लोगो को, जहाँ तक बन पडे, चुनने में उन शब्दो को लेना चाहिए कि जो आम फहम व खास पसद हो, अर्थात् जिन को ज़ियादह आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढे-लिखे आलिम-फाज़िल, पडित-विद्वान्, की बोलचाल में छोडे नही गये है, और जहाँ तक बन पडे हम लोगो को हर्गिज़ गैर-मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए।

(५) इस मे अरबी, फारसी, सस्कृत, और अब कहना चाहिए—अंग्रेज़ी के भी शब्द कधे से कधा भिडा कर यानी दोश-ब-दोश चमक दमक और रौनक पावें, न इस बेतर्तीबी से कि जैसा अब गडबड मच रहा है, बल्कि एक सल्तनत के मानिंद कि जिसकी हदें कायम हो गई हो और जिस का इंतिज़ाम मुन्तज़िम की अक्लमदी की गवाही देता है।[1]

राजा लक्ष्मणसिंह

(१) हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो न्यारी-न्यारी बोली हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोल्ते है और उर्दू यहाँ के मुसलमानो और पारसी पढे हुए हिन्दुओ की बोल चाल है।

(२) उसी दिन एक मृगछौना, जिस को मैंने पुत्र की भाँति पाला था, आ गया। आप ने बडे प्यार से कहा कि—आ बच्चे, पहले तू ही पानी पी ले। उस ने तुम्हे बिदेसी जान तुम्हारे हाथ से जल न पिया, मेरे हाथ से पी लिया। तब तुम ने हँस कर कहा कि सब कोई अपने ही सघाती को पत्याता है, तुम दोनो एक ही बन के बासी हो और एक-से मनोहर हो। (१९१९ वि०)

स्वामी दयानंद

(१) इस के स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि जीवितो की श्रद्धा से सेवा कर के नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादिका परम धर्म है और जो जो मर गये हो उन का नही

---

[1] हिंदी भाषा में विदेशी शब्दो को नीचे बिंदी दे कर शुद्ध विदेशी रूप में लिखने का प्रारभ राजा साहब ने ही किया।

करना क्यो कि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि से दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। (१९३५ वि०)

(२) मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मडन और प्रचार करते और दूसरे मत की निंदा, हानि, और बद करने में तत्पर होते वैसे मैं भी होता परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर है क्यो कि जैसे पशु बलवान हो कर निर्बलो को दुःख देते और मार भी डालते हैं। जब मनुष्य-शरीर पाके वैसा ही कर्म करते हैं तो वे मनुष्य स्वभावयुक्त नही किंतु पशुवत् हैं। और जो बलवान् हो कर निर्बलो की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और स्वार्थ-वश हो कर परहानि मात्र करता है वह जानो पशुओ का भी बडा भाई है। (१९३९ वि०)

वेद और उन का रचना-काल

[लेखक—पंडित गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

अधिकांश विद्वानों के मत से वेद भारतवर्ष के ही नहीं समग्र संसार के प्राचीनतम साहित्य कहे जा सकते हैं। इस विषय में यद्यपि मतभेद का अंत नहीं है पर इतना निर्विवाद है कि ईसा की उत्पत्ति के लगभग १५०० वर्ष पहले वेदों की रचना पूरी हो चुकी थी। इस लेख में हम केवल वेदों का साधारण परिचय देंगे और उन के रचना-काल पर प्रकाश डालेंगे।

साधारण रीति से समूचे वैदिक साहित्य को चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है —(१) छंद, (२) मंत्र, (३) ब्राह्मण, और (४) आरण्यक तथा उपनिषद्। कुछ विद्वान 'छंद' और 'मंत्र' दोनों अलग न मान कर उन को 'संहिता' के अंतर्गत ही मानते हैं। इस प्रकार स्थूल रूप से 'संहिता', 'ब्राह्मण' और 'सूत्र'—इन तीन भागों में समग्र वैदिक साहित्य विभक्त होता है।

'वेद' शब्द 'विद्' (जानना) धातु से बना है और इस प्रकार इस का शब्दार्थ 'ज्ञात' होता है। जब कि वेद मनुष्य-जाति-मात्र के अत्यंत प्राचीन साहित्यिक स्तंभ सिद्ध हो चुके हैं, तब एक प्रकार से प्रत्येक शिक्षित मनुष्य का उन से न्यूनाधिक परिमाण में परिचित होना कर्तव्य हो जाता है। वेदों का दूसरा नाम 'श्रुति' है। भारतवासी अधिकतर वेद को 'अपौरुषेय' मानते हैं। हमारे प्राचीन शास्त्रकारों का मत है कि वेद की रचना का ऋषियों को, अपनी विद्या बुद्धि से नहीं, स्वतः समाधि अवस्था में भान हुआ, वेद नित्य हैं, वह अनादि-काल से उपस्थित हैं, और रहेंगे। भिन्न-भिन्न मन्वन्तरों में ज्ञानी ऋषिगण अपने तपोबल से उन की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं और इसी से वेद 'श्रुति' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

मुख्य वेद तीन हैं—ऋक्, यजु और साम। इन्हीं को वेदत्रयी कहते हैं। चौथा अथर्ववेद है। इन चारों के संबंध में विशेष कुछ कहने के पहले यह स्मरण रखना आव-

श्यक है कि कुरान, बाइबल या त्रिपिटक आदि की भाँति वेद कुछ व्यक्ति-विशेष द्वारा रचित धर्म-ग्रंथ का नाम नहीं हैं। इन का रचना-काल शताब्दियों में व्याप्त है और सहस्रों वर्ष तक मौखिक रूप से ऋषि-गण अपनी वंशपरंपरा को इसे कंठस्थ कराते आए हैं और एक दीर्घ काल के बाद इन का अंतिम संकलन प्रथम बार कदाचित् वेदव्यास ने स्वयं अपने शिष्यों की सहायता से किया। 'भागवत' में तो व्यास को वेदों का निर्माता ही कह डाला गया है। कहा है कि महर्षि वेदव्यास ने चतुर्विध याज्ञिक कृत्य को लक्ष्य कर यज्ञ-संतान के लिए वेद की चारों संहिताओं का संकलन किया।[1] फिर कहा है कि उन्हों ने अपने चार शिष्यों को अलग अलग चारों वेदों का विशेषज्ञ बनाया। पैल मुनि ऋग्वेद के ज्ञाता हुए, कवि जैमिनि साम के, वैशम्पायन यजु के और दारुण सुमंत मुनि अथर्व[2] के। इन चारों ऋषियों ने समय पर अपने उत्तराधिकारियों को वेद का ज्ञान कराया, और फिर परंपरा रूप से वेद की शिक्षा इसी प्रकार भावी ऋषि-संतानों को सहस्रों वर्ष तक मिलती गई।

वेदों का साहित्यिक दृष्टि से एक दूसरा वर्गीकरण भी है और वह विशेष महत्त्व-पूर्ण भी है। प्रत्येक वेद में तीन प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ सम्मिलित हैं।

(१) संहिता, या मंत्रों, ऋचाओं, छंदों या गीतों आदि का संग्रह।

(२) ब्राह्मण। ये विस्तृत गद्यात्मक लेखों के रूप में हैं जिन में आध्यात्मिक विषयों तथा भिन्न भिन्न यज्ञों के संपादन आदि के नियमों की विशद व्याख्या की गई है।

(३) आरण्यक और उपनिषद्। ये कुछ तो ब्राह्मणों के ही अंतर्गत हैं और कुछ स्वतंत्र ग्रंथों के रूप में हैं। इन में अरण्यवासी ऋषियों के मनन और चिन्तन का फल है जो उन्हों ने आत्मा, परमात्मा, जीव, प्राणी, आकाश तथा पृथिवी आदि तत्वों के संबंध में किए हैं। इन्हीं में संस्कृत के सब दर्शनों के सिद्धांत विद्यमान हैं।

---

[1] चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।
व्यदधाद्यज्ञसंतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्॥

भागवत, स्कंध १, अध्याय ४

[2] तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशंपायन एवैको निष्णातो यजुषामुत॥
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः॥

भागवत, स्कंध १, अध्याय ४

अब नीचे चारो वेदो की संहिताओ का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

ऋग्वेद-संहिता

प्रत्येक वेद की संहिता तथा उस के ब्राह्मण, और आरण्यक या उपनिषद् अलग-अलग हैं। इन में सब से प्राचीन और महत्त्वपूर्ण अंश संहिताएँ ही हैं और विशेषत ऋग्वेद-संहिता तो निर्विवाद रूप से वेदो का प्राचीनतम भाग है। बाद के वैदिक तथा वेदेतर पौराणिक आदि साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट है कि किसी समय ऋग्वेद-संहिता के कई संकलन या शाखाएँ प्रचलित थी और भिन्न-भिन्न ऋषि-वंश उस के आचार्य थे पर इस समय उस की एक ही शाखा संसार को प्राप्य है और वह है शाकल शाखा। ये शाखाएँ क्यो और कैसे लुप्त हुईं यह जरा आगे चल कर कहेंगे। इस के पहले ऋग्वेद-संहिता की रूपरेखा का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना होगा।

ऋग्वेद-संहिता में दस मडल, ८५ अनुवाक्, १०१७ सूक्त तथा १०५८० ऋचाएँ हैं। ऋचाओ की संख्या के संबंध में मतभेद भी है। ग्यारह और सूक्तो को जो 'वालखिल्य' सूक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं—मुख्य सूक्तो में संयुक्त कर देने पर इन की संख्या १०२८ होती है।

ऋग्वेद के सब सूक्तो का आविर्भाव किसी एक समय या किसी एक ऋषि द्वारा नही हुआ। प्रथम और दशम मडल के सूक्तो को मिला कर देखने से भाषा, भाव, शैली तथा उपास्य देवता के ध्यान आदि में महान अंतर प्रतीत होता है। प्रथम और अंतिम मडल के बीच में एक दीर्घकाल तो अवश्य ही व्यतीत हुआ होगा, पर ठीक कितने सौ वर्ष लगे होगे इस का सही अनुमान करने का कोई उपाय नही है। विशेषज्ञो की धारणाओ में भी बहुत मतभेद है। लोकमान्य तिलक की ज्योतिषीय गणना के अनुसार ऋग्वेद के आदिम सूक्तो तथा ऋग्वेद-ब्राह्मण के रचना-काल के बीच का समय लगभग २००० वर्ष रहा होगा। पाश्चात्य विद्वानो में केवल जेकोबी इस मत से प्राय सहमत है। दूसरा मत, कम से कम समय का, मैक्समूलर का है। उन का विश्वास है कि सब से प्राचीन मंत्रो और ब्राह्मणो की रचना का अंतर काल अतत २०० वर्ष होना चाहिए। इन का विश्वास भाषा, व्याकरण तथा छंद आदि संबंधी परिवर्तनो के आधार पर स्थित है तथा तिलक की आधार भित्ति ज्योतिष है। अभी तक कोई भी मत एक स्वर से ग्राह्य नही हो

सका है और कदाचित् भविष्य में कभी होगा भी नही। पर साधारण पाठक को ऐसे स्थलो पर अगत्या दोनो दूरतम मतो के बीच के एक मध्यम मत को मान कर काम चलाने पर विवश होना पडता है। जब कि यह स्पष्ट है कि सूक्तो की रचना समाप्त होने पर भी ब्राह्मणो की रचना सभव हुई होगी तब प्रथम सूक्त और प्रथम ब्राह्मण की रचना का अवातर काल कम से कम हमें ५०० वर्ष मानना पड़ेगा। आधुनिक वैज्ञानिक रीति से वेदो के सबध मे काम करने वाले अधिकाश विद्वान इस समय इसी धारणा को मान कर चल रहे है।

ऋग्वेदमत्रो के प्रणेता या द्रष्टा ऋषियो के सबध में स्पष्ट उल्लेख कहीं नही मिलता, तब भी प्रथम, नवम तथा दशम के सिवाय प्रत्येक मडल भिन्न-भिन्न ऋषियो के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम और दशम मडल तो कई ऋषियो के नामो से प्रसिद्ध हैं। यह गडबडी केवल प्रथम और दशम मडल में ही है। अन्य आठो मंडलो के ऋषियों के नाम निर्भ्रांत हैं, और वह क्रम से यह है—(२) गृत्समद, (३) विश्वामित्र, (४) गौतम, (५) अत्रि, (६) भारद्वाज, (७) वशिष्ठ और (८) कण्व। प्रथम मडल के रचयिता के सबध में जहाँ कई ऋषियो के नाम लिए जाते है वहाँ शतर्चिन् का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इन नामो का पता हमें महर्षि कात्यायन की सर्वानुक्रमणी से मिलता है। अनुक्रमणिया में प्रथम, दशम और नवम मडल के ऋषियो के सबध में जहाँ कई ऋषियो के नाम गिनाए गए है वहाँ स्त्रियो के नाम भी इस सबध में लिए गए हैं, यह मार्के की बात है। अब प्रश्न यह उठता है कि वास्तव में इन नामो और वेद-मत्रो में क्या संबध है। क्या ये इन के प्रणेता या द्रष्टा हैं या इन मत्रो के प्रथम उच्चारक या गायक है? पाश्चात्य विद्वान इन नामो को कोई महत्त्व नही देते। उन की धारणा है कि किंवदती या दनकथा के रूप में यह नाम मत्रो के साथ जोड दिए गए है। वेदमत्रो के वास्तविक प्रणेताओ के नाम अज्ञय है। हो सकता है कि उक्त नामधारी ऋषियो और उन के बाद उन के वशधरो ने किसी विशेष सूक्तो का गायन या उच्चारण अपना लिया हो और आगे चल कर वे सूक्त उन्ही के नाम से प्रसिद्ध हो गए है। अधिकतर पाश्चात्य विद्वान इस विषय में निर्भ्रांत है कि इन नामो से कोई विशेष प्रयोजन नही सिद्ध होता, क्योकि उन के अनुसार यह बहुत पहले ही सिद्ध हो चुका है कि जो किंवदंतियाँ हमें यह नाम बतलाती हैं वही आगे चल कर मत्रो के कथन से ही मेल नही

जाती।[1] और इस तथ्य को सिद्ध करने का श्रेय प्रसिद्ध वैदिक विद्वान ओल्डेनबर्ग को प्राप्त है। जो हो, पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जो सूक्त इन के नाम से प्रसिद्ध है वह इन की वंशपरंपरा की संपत्ति हो गए हैं और पाश्चात्य विद्वानों में भी कोई-कोई तो इन सूक्तों के आविर्भावक इन्हीं को मानते हैं। मैक्डोनल स्पष्ट शब्दों में इन को वेदमंत्रों के रचयिता कहते हैं।

अब रही इन के संग्रह, संकलन या संपादन की बात। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'भागवत' में कृष्णद्वैपायन को वेद का रचयिता माना गया है, पर वास्तव में इन्हें हम वेदों का प्रथम संकलनकर्ता कह सकते हैं और उन के इस महान कार्य के महत्त्व को देखते हुए पुराणकारों ने यदि उन्हें वेदों का रचयिता ही मान लिया हो तो कोई उन्हें अधिक दोष नहीं देगा। 'महाभारत' में भी महर्षि कृष्णद्वैपायन को वेदों का रचयिता या प्रणेता कहा गया है। 'वेदव्यास'[2] वह इसी लिए कहे गए कि उन्हों ने वेदों का विभाग किया।[3] जो हो इतना कहने में कोई विशेष असंगति कदाचित् न होगी कि वेदव्यास ने ही सब से पहले अपने शिष्यों की सहायता से वेदमंत्रों को एकत्र किया। उन के बाद भी वेद का संकलन या संपादन पतंजलि और शौनक के काल तक होता आया है।

अब जब यह स्पष्ट है कि व्यास से ले कर पतंजलि और शौनक आदि के समय तक वेदों का संकलन होता गया तब यह भी मानना पड़ेगा कि ऐसी स्थिति में सूक्तों के पाठ में अनेक प्रकार के परिवर्तन होना अनिवार्य हो उठा होगा। और यह हुआ भी। पर ज्ञानी ऋषिगण इस विपत्ति के लिए मानो तैयार बैठे थे। उन्होंने भविष्य में सदा-सर्वदा के लिए पाठों की शुद्धता स्थायी रखने के लिए ऐसे उपाय निकाले जिन्हें देख कर आज भी विद्वत्समुदाय चकित है। वेद के मौलिक पाठ को सदा शुद्ध रखने और कभी भी उन में किसी प्रकार के प्रक्षिप्तांश घुसने की आशंका को सदा के लिए निर्मूल कर देने के लिए उन्हों ने संहिता की दो पाठ प्रणालियाँ प्रचलित कीं। पहली तो

संहिता-पाठ

---

[1] विंटरनीज, हिस्ट्री अव् इंडियन लिटरेचर, पृष्ठ ५८

[2] मैक्डानल 'हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ ४१

[3] वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इतीरितः।
तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः ॥

साधारण पाठ-प्रणाली है जिस में "अग्निमीले पुरोहितम्" का पाठ ज्यों का त्यों "अग्निमीले पुरोहितम्" यही रहता है। इस को 'निर्भुज'-संहिता कहते हैं। दूसरी पाठ प्रणाली जिस में मूल का पाठ विकृत रूप से होता है उसे 'प्रतृण'-संहिता कहते हैं। इस में कई प्रकार के पाठ हैं, जैसे—पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ तथा घन-पाठ। पद-पाठ वह है जिस में प्रत्येक पद अलग-अलग और कुछ विराम के साथ उच्चरित होता है, जैसे—'अग्निम्, ईले, पुरःहितम्, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम् इत्यादि। क्रम-पाठ में आगे आने वाला प्रत्येक पद थोड़े विराम के बाद फिर से पढ़ा जाता है, और तब उस के बाद अगला पद उच्चरित होता है और यही क्रम बराबर चलता रहता है, जैसे—'अग्निम् ईले, ईले पुरोहित, पुरोहितम् यज्ञस्य, यज्ञस्य देव, देव ऋत्विजम्'। जटा-पाठ अपने अगले और पिछले दोनों पदों की क्रम से पुनरावृत्ति करता हुआ चलता है, जैसे—'अग्निम् इले, ईले अग्निम् अग्निम् ईले, ईले पुरोहित, पुरोहित ईले, ईले पुरोहित' इत्यादि। इस से भी जटिल घन-पाठ है। वह यों चलता है—'अग्निम् ईले ईले अग्निम् अग्निम् ईले पुरोहित ईले अग्निम् अग्निम् ईले पुरोहित ईले पुरोहित, पुरोहित ईले ईले पुरोहित' इत्यादि। यह केवल उदाहरण के लिए इन पाठों की जटिलता का आभास मात्र कराया गया। इन की वास्तविक जटिलता का पता तो किसी साम-गायक के मुख से सुनने पर ही चल सकता है। इस प्रकार जहाँ प्रत्येक पद एक-एक दो-दो बार घुमा-फिरा, उलट-पलट कर पढ़े की प्रणालियाँ प्रचलित है, पदों की ऐसी मोर्चाबंदी है, वहाँ कभी कोई चोर घुस सकता है?

पाठों के संबंध में इतनी चौकसी रखने पर भी वेद के एक से अधिक पाठ प्रचलित हुए। पर वह भी एक अभिनव रीति से। जिस वंश में जिस पाठ-प्रणाली का चलन हुआ उस में तो फिर दूसरा कोई कुछ प्रक्षिप्त नहीं कर सका, क्योंकि यह नितांत असंभव था। पर किसी दूसरी वंशपरंपरा को,

शाखाएँ

किसी अन्य पाठ-प्रणाली को अपनाकर तदनुसार संहिता-पाठ करने और अपने वंशजों को वैसा ही कंठस्थ करा देने से कौन रोक सकता था? और हुआ भी ऐसा ही। इस के फल-स्वरूप प्रत्येक संहिता की बहुसंख्यक शाखाएँ प्रचलित हुईं। जिस ऋषि ने जिस नवीन प्रणाली के अनुसार संहितापाठ का प्रचार किया वह उस की (उस ऋषि की) "शाखा" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार चारों संहिताओं की अनेक शाखाएँ प्रचलित

हुई । पर अब उन के केवल नाममात्र शेष रह गए है। और न जाने कितने के तो नाम भी लुप्त हो गए होगे। इन शाखाओ की सख्या का पता चरणव्यूह से चलता है। दोनो में मतभेद भी है। शौनक के अनुसार ऋग्वेद की ५, यजु की ८६, साम की १००० तथा अथर्व की ९ शाखाएँ प्रचलित थी। परतु पतजलि ऋक् की २१ और यजु की १०० शाखाएँ बताते हैं। इन के अनुसार सर्ववेदो की शाखाओ की सख्या (२१+१००+१०००+९) ११३० हुई। स्मरण रहे कि वेदो के इतने सस्करण (रिसेंशस) किसी काल मे प्रचलित थे और लोगो ने सहस्रो वर्ष तक उन्हें कठाग्र रक्खा था। विस्तार में यह साहित्य कितना प्रकाड रहा होगा, इस का अनुमान करने का भी साहस नही होता।

अब ऋग्वेद की केवल एक शाखा प्रचलित है, और वह है शाकल्य, अर्थात् शाकल मुनि की शाखा। चरणव्यूह में ऋग्वेद की जो पाँच शाखाएँ बताई गई है उन के नाम ये है—शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शाङ्खायन, और माण्डूकायन। इन में प्रधान तो शाकल शाखा है ही, पर अन्यत्र बाष्कल और आश्वलायन आदि चारो ऋषियो को शाकल का शिष्य माना गया है। वास्तव में बात यही तक नही है। सिद्धात यह है कि जितनी शाखाएँ होगी उतनी ही सहिताएँ, उतने ही उन के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् और उतने ही सूत्र होगे। साहित्य के इस विस्तार का कुछ ठिकाना है? परतु अब ऐसा नही रहा। किसी शाखा-विशेष की अपनी सहिता है तो ब्राह्मण दूसरी शाखा का। किसी के अपने सूत्र है तो आरण्यक या उपनिषदे अन्य मिला ली गई हैं।

ऋग्वेद का विषय

'ऋक्' या 'ऋचा' शब्द का अर्थ होता है प्रशसात्मक पद्य। ऋग्वेद में मुख्यत अग्नि, इन्द्र तथा वायु आदि प्राकृतिक देवताओ की प्रशसा में कहे हुए मौलिक पद्यो का समावेश है। केवल दशम मडल में अवात ऐहलौकिक विषयो से सबध रखने वाले कुछ पद्य है। शेष मडलो के सूक्त इद्र आदि प्राकृतिक देवताओ को लक्ष्य कर कहे गए है। इन में उन के महान् और अलौकिक कार्यों की प्रशसा की गई है और उन से वरदान के रूप में गोधन, सनति, वैभव, युद्ध में विजय, तथा दीर्घायु आदि की याचना की गई है। ये पद्य यज्ञ-काल में घृत और सोमरस की आहुति के साथ-साथ पढे जाते थे। इन पद्यो की कविता, छद, भाषा, तथा व्याकरण आदि के सबध में यहाँ पर केवल इतना ही कहेगे कि सभ्यता के उस पुराकाल मे जब कि

संसार में पठन-पाठन का युग कदाचित् ही सम्यक् उपस्थित हुआ हो, ऋग्वेद के मंत्रों में विचारों तथा भावों की वह सुंदरता और स्वच्छता तथा भाषा और छंद पर वह अधिकार देखने में आता है जो सहस्रों वर्ष बाद भी अन्यत्र दुर्लभ रहा।

ऋग्वेद के मंत्रों की कविता का सौंदर्य सब जगह वैसा नहीं है। खास कर जहाँ यज्ञ की चर्चा अधिक है, या जब अग्नि और सोम की प्रशंसा में छंदरचना हुई है, कविता का सौंदर्य वैसा नहीं हो पाया है। ऋग्वेद की कविता के सुंदर होने का एक यह भी कारण है कि इस में अधिकतर इंद्र, सोम आदि प्राकृतिक देवताओं की ही प्रशंसा की गई है, और इस लिए कि ये सब देवता प्रकृति देवी के ही अंग हैं, और इन की प्रशंसा में कुछ कहने के लिए मनोरम प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अनिवार्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में प्रकृति से संबंध रखने वाली सहज सुंदर कल्पनाएँ स्वतः उन ऋषियों के मस्तिष्क में उठती थीं, और वे जैसा सोचते थे सरलता से ठीक वैसा ही लिख देने की क्षमता रखते थे। यही कारण है कि ऋग्वेद की कविता में अभिनव शिशु का सहज सुंदर भाव और विचारों का वह भोलापन आगे चल कर दुर्लभ हो गया।

ऋग्वेद के अधिकतर छंद देवताओं की प्रशंसा में कहे गए हैं इस लिए उन का विषय भी मुख्यतः पुराकालीन देवताओं से ही संबंध रखता है। भावों में आदिम-कालीन मनुष्य की विचारधारा का ही प्राधान्य है। इन देवताओं में सब से अधिक प्रशंसा की गई है इंद्र, अग्नि, वायु, सूर्य और उषा की। नवें मंडल में सोम और सोमरस की प्रशंसा में ही सब कुछ कहा गया है। ऋग्वेद में सोम का एक अपूर्व महत्वपूर्ण स्थान है। यह एक लता होती थी जिस के रस में नशा होता था और इसे आर्यगण दूध में मिला कर पीते थे, विशेष कर यज्ञ आदि उत्सवों के अवसर पर। यह देवताओं का पेय समझा जाता था और उन का विश्वास था कि यज्ञ में इस की आहुति से उन की परम तृप्ति होती है, और यज्ञ-कर्ता को सब लौकिक सुख जैसे गोधन और युद्ध में विजय आदि प्राप्त होते हैं।

अन्य वेद

अन्य वेदों के विषय में अवगत होने के पहले यज्ञों के पुरोहितों का कर्तव्य जान लेना आवश्यक है। वेदों के अधिकतर मंत्रों का संबंध यज्ञों से है। केवल ऋग्वेद में ही बहुत से ऐसे मंत्र हैं जिन का संबंध वास्तविक यज्ञ-कर्म से नहीं है। यज्ञ के समय ऋग्वेद मंत्रों का उच्चारण करने वाला

यज्ञ के पुरोहित

पुरोहित 'होता' कहलाता था। परतु ऋग्वेद के सभी मत्र 'होता' के काम के लिए ही नही होते थे। बात यह है कि ऋग्वेदसहिता के बहुत से सूक्त उस पुराकाल के है, जब यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण का प्रभाव आर्यावर्त में नहीं के बराबर था। हाँ, जब ऋग्वेदसहिता का सकलन या सग्रह पूरा हुआ, तब देश अवश्य ही ऋत्विज पुरोहितो के प्रभाव के अदर आ गया था, और उस समय तक आर्यों के धार्मिक अनुष्ठान में यज्ञो का एकाधिपत्य हो चुका था।[1] इसी लिए उस समय यज्ञ कार्य के भिन्न-भिन्न अगो के भिन्न-भिन्न श्रेणी के पुरोहितो द्वारा सपादित कराने की व्यवस्था की गई। सभी एक ही वर्ग के पुरोहित द्वारा कराना ठीक नहीं समझा गया। यज्ञ में सब से उच्चस्तर का कार्य 'होता' का था, जो कि यज्ञ के समय भिन्न-भिन्न आहूत देवताओ की प्रशसा में ऋग्वेद के मत्रो का उच्चारण करता था।

होता

'अध्वर्यु' उस श्रेणी के पुरोहितो को कहते थे जिन के ऊपर यज्ञ के स्थूल विधान का भार सौंपा जाता था। इन का वास्तविक क्षेत्र यज्ञ का कर्म-काड था और इन के कार्य-कलाप से सबद्ध मत्रो का सग्रह यजुर्वेद में है।

अध्वर्यु

यज्ञ के समय सोमवेद के छदो के गायक पुरोहित 'उद्गाता' कहलाए। इस प्रकार गाए जाने वाले छदो के सग्रह का नाम ही सामवेद है।

उद्गातृ

अथर्ववेद के मत्रो के उच्चारक पुरोहित 'ब्राह्मण' कहलाए। परतु आपस्तब मुनि ने अपने 'परिभाषा-सूत्र' में कहा है कि ब्राह्मण का सबध सभी वेदो से है।[2]

ब्राह्मण

यह तो हम देख ही चुके है कि यजुर्वेद के मत्र अध्वर्यु श्रेणी के पुरोहितो के काम के लिए है। अब यहाँ पर कुछ विस्तार से अध्वर्यु कृत्य समझ लेने से यजुर्वेद का विषय

---

[1] मेक्समूलर, 'ए हिस्ट्री अव् एन्शेंट सस्कृत लिटरेचर, पृ० २४७

[2] स त्रिभिर्वेदे विधीयते।३। ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदै।४। ऋग्वेदेन होता करोति।१६। सामवेदेनोद्गाता।१७। यजुर्वेदेनाध्वर्यु।१८। सर्वैर्ब्रह्मा।१९।

समझने में बहुत सुविधा हो जायगी। अध्वर्युओं का काम होता था यज्ञशाला की भूमि की नापजोख, वेदी का निर्माण, यज्ञ-सबधी कलसों की रचना तथा स्थापना, काष्ठ तथा जलादिक का आनयन, हवन-सामग्री का सग्रह, यज्ञकुड में अग्नि, दान तथा बलिपशु का आहरण, और उस का वध आदि। मैक्स-मूलर का निर्णय इन अध्वर्युओं के सबध में यह है, कि ये सब से निम्न श्रेणी के पुरोहित होते थे और इन का कृत्य बुद्धि से अधिक शारीरिक श्रम से सबध रखता था।[1] इन का कार्य अन्य पुरोहितो द्वारा अपेक्षाकृत निम्नश्रेणी का समझा जाता था और यही कारण था ब्राह्मणेतर भी अध्वर्युकार्य के लिए सम्मिलित किए जा सकते थे। बलि-पशु को मारने वाला पुरोहित नहीं होता था और ब्राह्मण होना भी उस के लिए आवश्यक नही था। अध्वर्युओं को उतने मत्र भी नही कठस्थ रखने पडते थे जितने अन्य ऋत्विजो को। और इन को प्राय यज्ञ-काल में मत्रो के शुद्ध उच्चारण में कठिनाई होती थी। इस लिए ऋषियो ने इन को यज्ञकर्म के समय उच्चस्वर से मत्रोच्चारण से भी रिहाई देदी, इस भय से कि कही अशुद्ध पाठ श्रवण-गोचर होने से यज्ञ अपूर्ण न हो जाय। पर छोटे से ले कर बडे तक यज्ञ-सबधी प्रत्येक कृत्य का एक मत्र होता था, और ऋत्विज चाहे अध्वर्यु हो या और कोई, उस कृत्य के सपादन के समय वह मत्र पढना अनिवार्य था। इस समस्या को हल करने के लिए ऋषियो ने यह नियम निकाला कि अल्पज्ञ अध्वर्यु अपने कर्म के समय धीरे-धीरे अपना मत्र पढ ले, जिस से कि और किसी को उन का पाठ श्रवणगोचर न हो। उच्च स्वर से वह उसी समय बोल सकता था जब उसे कार्यवश किसी दूसरी श्रेणी के पुरोहित से बोलना पडता था।

यजुर्वेद

अध्वर्यु श्रेणी के पुरोहितो के काम में आने वाले सब मत्रो का आगे चलकर एकत्र सकलन हुआ और इसी सग्रह का नाम हुआ यजुर्वेद। यजुर्वेद के दो विभाग हैं। एक कृष्ण-यजुर्वेद या तैत्तिरीय-सहिता के नाम से प्रसिद्ध है, और दूसरा शुक्ल-यजुर्वेद या वाजसनेयी-सहिता कहलाता है। दोनो सहिताओं के विषय तो प्राय समान हैं पर कुछ बातो में दोनो में पार्थक्य भी है। प्रधान भेद यह है कि तैत्तिरीय-सहिता में होता और होता के कृत्य को विशेष महत्त्व दिया गया है। तैत्तिरीय-सहिता के प्रकाशकर्त्ता हिंदू शास्त्रकारो के अनुसार याज्ञवल्क्य मुनि थे। यहाँ पर

तैत्तिरीय-सहिता

---

[1] मैक्समूलर, पृ० २४९

यह जान लेना आवश्यक है कि तैत्तिरीय-संहिता वास्तव में यजुर्वेद की एक शाखा है, और जैसे ऋग्वेद की सब शाखाओं में अब केवल शाकली शाखा रह गई है, उसी प्रकार यजुर्वेद की भी किसी समय अनेक शाखाएँ प्रचलित थी जिन में बहुतों के तो अब नाम भी लुप्त हो गए पर कृष्ण-यजुर्वेद की पूरी एक मात्र तैत्तिरीय-संहिता रह गई है। इस की और शाखाएँ मिलती है पर वे अपूर्ण हैं। वह है कठी और मैत्रायणी शाखा। इन दोनो संहिताओं में केवल मंत्र-भाग मिलता है ब्राह्मण-भाग नही। तैत्तिरीय-संहिता में, जैसा कि नियम है, मंत्र और ब्राह्मण दोनो अलग-अलग है किंतु उक्त संहिताओं में ऐसा नही है। इन में प्रारंभ मे कुछ मंत्र कह कर उसी प्रपाठक में ब्राह्मण भी कह डाला गया है। फिर किसी-किसी कांड में कही दोनो भाग एकत्र वर्णित है और कही अलग।

तैत्तिरीय-संहिता का विभाग कांड, प्रपाठक और अनुवाक्, इन नामो से किया गया है। इस में सात कांड और इस के ब्राह्मण में ३ कांड या अष्टक है। संहिता में ४४ प्रपाठक और ६५१ अनुवाक् है। ब्राह्मण में २५ प्रपाठक और ३०८ अनुवाक् है।

मैत्रायणी और कठ-संहिता में थोडा ही अंतर है। प्रसिद्ध वेदज्ञ श्रोडर ने मैत्रायणी शाखा को प्रकाशित कराया है, पर पूरा नही। जितना अंश उन्हो ने प्रकाशित कराया है उस में ४ कांड और ५४ प्रपाठक है। इस का जो आरण्यक भाग है उस में १२ प्रपाठक है।

यजुर्वेद के आकार प्रकार को समझने में इस कारण और कठिनता होती है कि ऋग्वेद की कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी की भाँति इस का कोई विवरण-ग्रंथ नही प्राप्त है। इसी से यजुर्वेद के अनुवाकों के ऋषियो के नाम भी अज्ञेय हो रहे है। केवल कांडो के ऋषियो की पूजा का कही-कही वर्णन है।

यजुर्वेद का दूसरा विभाग वाजसनेयी-संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। इस की दो शाखाएँ है—माध्यन्दिनी और कण्व, पर अधिक प्रचलित माध्यन्दिनी शाखा है। इस संहिता मे प्रथम से लेकर अठारह अध्याय तक मौलिक मंत्र है, शेष कृष्ण-यजुर्वेद और कुछ ऋग्वेद के भी है। इस के प्रथम भाष्यकार उव्वट और द्वितीय महीधर के अनुसार इस में ३०३ अनुवाक् है। इस में अध्याय ४० और १९७५ (मतांतर से १९७६) कंडिकाएँ या मंत्र है। महीधर-भाष्य और कात्यायन की अनुक्रमणी से विदित होता है कि २५-३५ अध्याय 'खिल' ऋषियो के नाम से कहे हुए भी इस में है। इस संहिता का ब्राह्मण शतपथ है। माध्यन्दिनी

वाजसनेयी-संहिता

शाखा में पितृपिंड यज्ञ को छोड कर शेष नौ काडो तक सहिता के अनुसार ही ब्राह्मणो का भी क्रम है। शतपथ ब्राह्मण में सात काड है और इस के प्रथम १० अध्यायो में कृष्ण-यजुर्वेद की बहुत सी बातो की पुनरुक्ति है। १०–१८ अध्याय तक यज्ञ की वेदी-रचना का विस्तृत वर्णन है। १९–२१ तक सोम तथा सोमरस प्रस्तुत करने का विवरण है, फिर २०–२५ तक में अश्वमेध का वर्णन है। शेष अध्यायो में विविध विषय है। पुरुषमेध यज्ञ का भी वर्णन इस सहिता में है। यह मार्के की बात है कि ऋग्वेद-सहिता में पुरुष-मेध यज्ञ का उल्लेख कही नही है। प्रसिद्ध 'पुरुषसूक्त' में ही नरमेध का विवरण आता है। उसी अध्याय में बलि देने योग्य १८४ प्रकार के मनुष्यो का वर्णन है।

मैक्डानल्ड आदि पाश्चात्य विद्वानो का कहना है कि सामवेद के मत्र ऋग्वेद से ही लिए गए है। परतु यदि ऐसा है तो उसे दूसरा वेद कहने की क्या आवश्यकता ? बात असल में यह है कि गायन ही साम की विशेषता है। मत्र तो उस में ऋग्वेद के अवश्य है, पर उन के कुछ विशेष नियमो के साथ उच्चारण और गायन को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि साम की एक स्वतत्र सत्ता स्वीकार कर उस की अलग सहिता और शाखाएँ निकली और फिर उस के पृथक् ब्राह्मण और आरण्यक आदि भी बने। शाखाएँ सामवेद की सब से अधिक कही जाती है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार सामवेद की एक सहस्र शाखाएँ प्रचलित थी। परतु इस समय इस की तीन शाखाएँ जीवित है—(१) कौथुमी, (२) जैमिनीया, और (३) राणायनीया। इन में मुख्य कौथुमी शाखा है और इस के गायक ब्राह्मण गुजरात में अब भी बहुत है, पर दिन-प्रतिदिन उन की सख्या घटती जा रही है। काशी में भी इस शाखा के साम-गायक गुजराती ब्राह्मण बहुत से है, पर आधुनिक युग में प्रोत्साहन के अभाव और जीविका के सघर्ष से इन की सतति अब दूसरे व्यवसाय अपना रही है। महाराष्ट्र में राणायनीया शाखा के कुछ गायक वर्तमान कहे जाते है पर यह सख्या में बहुत थोडे है। इस से भी छोटी सख्या है जैमिनीया शाखा के गायको की। इस के इने-गिने गायक मदरास और कर्णाटक प्रात के कुछ द्रविड ब्राह्मण है। कहा जाता है कि द्रविडो में न्यूनाधिक सख्या में तीनो ही शाखा के गायक पाए जाते है। इन में से जैमिनीया शाखा को हालेड के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान डबल्यू कैलेड ने सपादित कर प्रकाशित कराया है।

सामवेद-सहिता

इन में से कौथुमी शाखा के ग्रंथ हैं—संहिता, ताण्डय-ब्राह्मण, षड्विंशब्राह्मण तथा सामविधान ब्राह्मण, छान्दोग्य-उपनिषद्; मशक-कल्पसूत्र, कात्यायन-श्रौतसूत्र तथा गोभिलगृह्यसूत्र। इस संहिता के ब्राह्मण कई प्रसिद्ध हैं पर प्रचलित उक्त तीन ही हैं, और इन सब में मुख्य है ताण्डय-ब्राह्मण।

कौथुमी शाखा की संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद राणायनीय शाखा वालों को भी मान्य हैं, केवल श्रौत तथा गृह्यसूत्र इस के अपने अलग हैं, और वह हैं द्राह्यायण-श्रौतसूत्र तथा खदिर-गृह्यसूत्र।

जैमिनीया शाखा के ग्रंथ हैं—जैमिनि-संहिता, जैमिनि-ब्राह्मण, केनोपनिषद्, जैमिनि-उपनिषद्-ब्राह्मण, जैमिनि-श्रौतसूत्र तथा जैमिनि-गृह्यसूत्र।

सामवेद में कुल २९ अध्याय, ६ आर्चिक, ८९ साम, और १८९३ (मतांतर से १८२४) मंत्र हैं।

यज्ञ में देवताओं की उपासना में रत ब्राह्मण-गण जिन ऋचाओं को वैदिक नियमानुसार गाया करते थे उन को साम कहते हैं। परंतु साम किस प्रकार गाया जाता था इस की भी ठीक जानकारी प्राप्त करना इस समय असंभव हो गया है। सामवेद के कुछ सूक्तों से इस परम महत्त्वपूर्ण विषय पर कुछ क्षीण आलोक-मात्र पड़ता है, पर स्पष्ट कुछ जानना असंभव हो गया है। सौभाग्य से जो कुछ थोड़े से सामगायक देश में विद्यमान भी हैं वह सिर्फ गा सकते हैं। परंपरा से उन के यहाँ सामगान होता आया है। जैसा बाप ने गाया वैसा बेटे ने, पर उस गायन के सिद्धांत क्या हैं, नियम क्या हैं, स्वर, श्रुतियाँ, तथा लय, मात्रा आदि जो वह लोग लगाते हैं, वह क्यों, क्यो, और किस हिसाब से, यह वह लोग नहीं बता सकते। वर्तमान संगीत में जिन सात स्वरों का प्रयोग होता है वह उस समय थे या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। 'छांदोग्योपनिषद्' में यह कथन मिलता है कि अङ्गिरस ने देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण को वेदांत-दर्शन की शिक्षा देते समय सामवेद का गायनतत्व भी बतलाया था। और वर्तमान समय में संगीत की जो चार मुख्य गायन-पद्धतियाँ प्रचलित हैं उन में से एक के आचार्य श्रीकृष्ण भी हैं। परंतु उस वर्तमान संगीत-पद्धति और प्राचीन सामगान का तुलनात्मक संबंध खोज निकालने का कोई उपाय नहीं है। परंतु 'महाभारत' और 'हरिवंश' से इस बात का पता चलता है कि कृष्ण ने एक नई

सामगान

शिक्षापद्धति का आविष्कार किया था जिस का नाम 'छालिक्य' पड़ा और जिसे यादवों ने खूब अपनाया। शतपथ-ब्राह्मण और 'छांदोग्योपनिषद्' इत्यादि से कुछ फुटकर बातों का पता चलता है। 'नासामयज्ञो भवति' (बिना साम के यज्ञ नहीं होता); 'नवा हिंकृत्य साम गीयते' (बिना हिंकार के सामगान नहीं होता), इत्यादि। 'छांदोग्योपनिषद्' से ज्ञात होता है कि एक साधारण सामगीत पाँच अंशों में विभक्त था—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ प्रतिहार, और निधान। इन में 'हिंकार' तो स्पष्टतः प्रथम स्वर का उच्चारण जान पड़ता है। गवैये जैसे पहले कुछ देर तक आ कर के तब गायन प्रारंभ करते हैं उसी प्रकार सामगान के आरंभ में हिंकार की प्रथा रही होगी। यह तो हम 'छांदोग्योपनिषद्' से जानते हैं कि सामगायी प्रारंभ में कुछ देर तक स्थिर भाव से 'ॐ' का उच्चारण करते थे, जैसे आधुनिक उस्ताद पहले स्वर क़ायम करते हैं। 'हिंकार' के अतिरिक्त 'उद्गीथ' आदि अन्य चार प्रश्नों की तुलना क्रम से वर्तमान ध्रुपदगायक के चार अंग—स्थायी, अंतरा, संचारी, तथा आभोग से, किसी प्रकार की जा सकती है। कोई-कोई वर्तमान संगीतशास्त्र के विद्वान 'निधान' से 'तान' का मतलब निकालते हैं। 'म्यूज़िक अव् हिंदोस्तान' नामक संगीत-ग्रंथ के रचयिता स्ट्रैंगवे साहब की भी यही राय है[1]। आप की धारणा है कि वर्तमान हिंदू संगीतपद्धति में प्रचलित राग-रागिनियों में सामगान नहीं होता था। और सब बातों को देखते हुए यह धारणा ठीक भी जान पड़ती है। प्रचलित राग-रागिनियों की उपज ईसा के जन्म के बहुत दिन बाद हुई है, यह निश्चय है।

सामगान दो मुख्य अवसरों पर हुआ करता था। एक तो यज्ञ में देवताओं के आराधन, विशेषतः सोम की उपासना और सोमरस के तैयार करने समय, और दूसरा चंद्रलोक में निवास करने वाले पूर्वजों की पूजा करते समय। भीष्म पितामह के शव-दाह के अवसर पर सामगान का उल्लेख 'महाभारत' में मिलता है।

इस सामगायन के संबंध में कुछ विस्तार से जानने के लिए—ऋक् प्रातिशाख्य, बृहद्देवता, तैत्तिरीय-ब्राह्मण, सामविधान-ब्राह्मण, पुष्प-सूत्र, सामतंत्र, तथा नारद-शिक्षा आदि ग्रंथ देखने चाहिएँ।

अथर्ववेद का अधिकांश ऐंद्रजालिक, रोग तथा शत्रुनाश आदि से संबंध रखने वाले

---

[1] पृ० २४६

मन्त्रो से व्याप्त है। इस के आदि सग्रहकर्ता व्यास नही कहे गए हैं। इस के सकलनकर्ताओं में प्रथम स्थान पिप्पलाद मुनि का कहा जाता। इन्हो ने उपर्युक्त प्रकार के जादू-टोना आदि से सबध रखने वाले प्राचीनतम मत्रो का सग्रह कर के उन के साथ कुछ ऋग्वेद के मत्रो को भी मिला दिया और इस प्रकार यह चौथी सहिता तैयार की। इस में के बहुत से ऐंद्रजालिक मत्र तो ऋग्वेद के मत्रो से भी पुराने कहे जाते है और ऐसा होना स्वाभाविक भी है। क्योंकि वे मत्र आर्यों के आर्यावर्त में पदार्पण करने से बहुत पहले से इस देश के आदिम-निवासियो में प्रचलित रहे होगे, उन मत्रो का विषय ही इस बात की गवाही देता है। अथर्ववेद का पूर्वनाम 'अथर्वाङ्गिरस' था। अङ्गिरस प्राग्वैदिक काल से ही घोर ऐन्द्रजालिक के रूप में ज्ञात थे। इस से यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद के कुछ मत्र ऋग्वेद से भी पुराने है। अथर्ववेद में इस वेद का नाम एक जगह अथर्वाङ्गिरस कहा गया है, फिर उसी में आगे चल कर *अथर्व और अङ्गिरस दो अलग-अलग ग्रथ माने गए है। यथा-सभव ये दोनो ही दो* पृथक् ऐंद्रजालिक अथवा तात्रिक थे। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है कि अथर्वण मत्र उच्च विचार के और लोकोपकारार्थ है। पर अङ्गिरस मत्र मारण, उच्चाटन, आदि अहित के लिए ही हैं। इसी से ऋग्वेद काल में अङ्गिरस घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे यहाँ तक कि 'अथर्वाङ्गिरस' नाम में से 'अङ्गिरस' हटा दिया गया और केवल 'अथर्व' ही के नाम से यह वेद प्रसिद्ध किया गया।

अथर्ववेदसहिता

परतु अथर्वण को विदेशी बताया जाता है। पाश्चात्य विद्वान इस सबध मे अधिक एकमत हैं। वे अथर्वण को मध्य-एशिया का निवासी मानते है। इस का एक कारण तो यह कहते है कि 'ज़ेंद आवेस्ता' में 'अथर्वण' शब्द का अर्थ पुजारी किया गया है और इन दिनो ईरान में इद्रजाल का प्रचार भी बहुत अधिक था। दूसरा कारण 'महाभारत' का वह उल्लेख हो सकता है जिस में—भृगु, अङ्गिरस, कश्यप और वशिष्ठ यही चार ब्राह्मणो के आदि-परिवार कहे गए है और जिस में अथर्वण का नाम नही है। इस वेद की एक प्रतिशाखा और दो अनुक्रमणियां हैं। गोपथ इस का ब्राह्मण तथा कौशिक और वैतान इस के गृह्य और श्रौत सूत्र हैं। इस की ९ शाखाएँ प्रसिद्ध है, और उन में से इस समय प्राप्य दो ही शाखाएँ हैं—पैप्पलाद और शौनकीय। इस की सहिता में कुल २० काड, प्राय ७३० सूक्त और लगभग ६००० मत्र है, जिन में से प्राय १२०० मत्र ऋग्वेद

संहिता में विशेष कर दसवें, पहले और आठवें मंडल में पाए जाते हैं। बीसवें कांड के तो प्राय सभी मंत्र ऋग्वेद में मिलते हैं। अथर्ववेद के उपनिषदों की संख्या प्राय २०० बताई जाती है जिन में से अधिकांश अप्राप्य हैं। प्रश्न, मुण्डक, और माण्डूक्य, ये तीन उपनिषद् इस के बहुत प्रसिद्ध हैं।

अथर्ववेद के संबंध में कुछ दो प्रकार की परस्पर-विरोधिनी धारणाएँ विद्वानों में भी प्रचलित हैं। एक तरफ़ तो मुख्य वेदों में अथर्ववेद का स्थान भी नहीं है। 'वेदत्रयी' से अलग है ही। दूसरी ओर सब से पुराना 'ज्येष्ठ वेद' यही कहा जाता है। दोनों ही ओर के प्रमाण प्राय समान-रूप से ही प्रबल हैं। यहाँ पर इस विषय पर अधिक कुछ कहने का स्थान नहीं है। इस के लिए एक स्वतंत्र लेख की आवश्यकता है। अब वेदों के समय के बारे में अति-संक्षेप से कुछ बातें कहनी हैं।

ऋग्वेद का काल-निर्णय

वैदिक साहित्य इतना विस्तृत, इतना महान, और साथ ही इतना जटिल और सर्वतोमुखी है कि समष्टि रूप से थोड़े से स्थान में सब का परिचय देने का प्रयास ज़रा दुस्साहस का काम है। जो हो, किंचित् परिचय ऊपर दिया गया है। वेदों के रचना-काल के संबंध में दो बातें यहाँ कहनी हैं।

यद्यपि यह सब जानते हैं कि वेदों की रचना-काल का प्रश्न संसार के कुछ उन प्रश्नों में से है, जिन का कोर-किनारा करने की आशा मनुष्य-जाति प्राय त्याग चुकी है, पर तो भी और नहीं तो उस प्रश्न की जटिलता और दुरूहता का ही इतिहास जानने के लिए एक बार शिक्षित समुदाय के सम्मुख विद्वत्समुदाय द्वारा इस प्रश्न के संबंध में अब तक की हुई जाँच-पड़ताल का सारांश रखता हूँ।

आरंभ में ही यह कह देना होगा कि हिंदू शास्त्रकार वेद को सदा से 'नित्य' तथा 'अपौरुषेय' मानते हैं। वेदों के अपौरुषेय होने के संबंध में मीमांसकों और नैयायिकों में

हिंदू शास्त्रकारों का मत

थोड़ा मतभेद है। मीमांसा के अनुसार वेद अनादि काल से ईश्वर की भाँति ऐसे ही हैं और रहेंगे। दूसरे शब्दों में उन के अनुसार 'अपौरुषेय' का अर्थ 'किसी पुरुष या व्यक्ति का बनाया नहीं' है। परंतु न्याय का मत यह है कि 'अपौरुषेय' से तात्पर्य यह है कि वेद प्राणिमात्र का बनाया तो नहीं है किंतु

ईश्वर का बनाया हुआ है। परंतु आज-कल के वैज्ञानिक युग में इन उपर्युक्त दलीलो पर दूसरा शब्द कहना समय नष्ट करना होगा, केवल उन का उल्लेख मात्र कर दिया गया।

अब वैज्ञानिक रीति से काल-निर्णय करने वालों का भी यह निर्णय हो गया है कि यह हम ठीक कभी भी नहीं जान सकेंगे कि वेद कब रचे गए, पर इतना हम कह सकेंगे कि अमुक काल के पहले वेद की रचना हो चुकी थी। इस विषय में क्या पाश्चात्य और क्या प्राच्य, ससार के सभी साहित्य-मर्मज्ञ सहमत हैं कि वेदो से पहले के रचे हुए किसी अन्य साहित्य का रेकर्ड इस समय नहीं है। अब भाषा-विज्ञान, इतिहास तथा साहित्य के आभ्यतरिक प्रमाणो से यह जानने की किसी प्रकार सफल चेष्टा की गई है कि ठीक किस समय से पहले वेद मौजूद थे।

आधुनिक मत

मैक्समूलर बुद्ध भगवान की तिथि से चलते हैं। उन का कहना है कि बुद्ध का समय निश्चित है और वह समय ईसा से ५५७ वर्ष पूर्व है और चूंकि बुद्ध के उपदेशो की आधार-भित्ति उपनिषदो के गभीर सिद्धात हैं इस लिए वेदो के अतिम समय के सबध में हम को सदेह न होना चाहिए। बौद्धधर्म के बाद वैदिक साहित्य समूचा—मत्रो से ले कर उपनिषदो तक—निर्मित हो चुका था, यह निश्चय है। अब स्वय वैदिक साहित्य के शरीर को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सब से पहले मत्र बने होंगे, उन के बाद, ब्राह्मण और तब सूत्र और उपनिषद् आदि। क्योकि सूत्रो में ब्राह्मणो और मत्रो दोनों ही की चर्चा है, ब्राह्मणो में केवल मत्रो की और मत्रो में किसी की नहीं। यहाँ तक पहुँच कर मैक्समूलर अनुमान करते हैं कि वैदिक साहित्य के इन तीनों अगो में से प्रत्येक के निर्माण में अतत दो-दो सौ वर्ष लगे होंगे। इस हिसाब से सूत्रो का रचना-काल ईसा के ६०० वर्ष पहले से लेकर ८०० वर्ष पहले तक, ब्राह्मण-काल ८००–१००० खी० पू० तक, और सहिताओं का समय १०००–१२०० खी० पू० तक इन्हो ने अनुमान किया। उन्हो ने साथ ही यह भी कह दिया है कि यह (१२०० खी० पू०) वेदो के उद्भव की अतिम तिथि भी हो सकती है। वह स्वय किसी निर्भ्रांत निश्चय पर नहीं पहुँच सके। पर अधिकाश पाश्चात्य विद्वानो ने यह तिथि कुछ निश्चित रूप से ही स्वीकार कर ली।

मैक्समूलर

अब दूसरा मत देखिए। स्वर्गीय लोकमान्य बालगगाधर तिलक ने ज्योतिष के सिद्धातो के आधार पर वेदो के समय का अनुसधान किया। ब्राह्मणो में यह उल्लेख मिलता

है कि उन दिनों नक्षत्रों की गणना 'कृत्तिका' नक्षत्र से आरम्भ होती थी और २७ नक्षत्रों में यही आदि नक्षत्र गिना जाता था। और यह भी उल्लेख मिलता है कि उन दिनों कृत्तिका नक्षत्र में ही रात-दिन बराबर होते थे। आज-कल रात और दिन बराबर होते हैं २१ मार्च और २३ सितंबर को, जब कि नक्षत्र अश्विनी में रहता है। खगोल और ज्योतिष के सिद्धांतों के अनुसार यह परिवर्तन आज से ४५०० वर्ष पहले (अर्थात् ईसा से २५०० वर्ष पहले) होना चाहिए और तदनुसार ब्राह्मणों की रचना २५०० ख्री० पू० मानी गई।

तिलक और जेकाबी

अब संहिता के आभ्यंतरिक प्रमाणों से पता चलता है कि उस समय नक्षत्रों की गणना मृगशिरा नक्षत्र से होती थी और रात-दिन बराबर भी उसी नक्षत्र में होते थे। पूर्ववत् गणना के सिद्धांतों ने बताया कि यह स्थिति आज से ६५०० वर्ष पहले रही होगी। तिलक महोदय इस में २०० वर्ष का समय और जोड़ कर वेदों का प्राचीन और उत्पत्ति-काल ८५००—६५०० ख्री० पू० के बीच में स्थिर करते हैं। प्रो० जैकाबी ने भी स्वतंत्र रूप से इसी प्रकार की गणना के आधार पर वेदों के समय पर एक पुस्तक लिखी, और उन के तथा तिलक के निर्णय भी लगभग समान ही हुए। पर पाश्चात्य विद्वानों ने इन मतों का घोर विरोध किया। जेकाबी गृह्य-सूत्र के विवाह-प्रकरण के 'ध्रुव इव स्थिरा भव' वाले मंत्र को अपने प्रमाणों की नींव बनाते हैं। उन का कहना है कि इस मंत्र से यह स्पष्ट है कि उस समय ध्रुव अधिक चमकीला और स्थिर था, पर अब वैसा नहीं है। सौर-जगत के सिद्धांतों के अनुशीलन से वह इस निर्णय पर पहुँचे कि गृह्यसूत्र की तिथि ईसा से २७०० वर्ष पहले हुई होगी। रचना-क्रम में लगने वाले समय का अनुमान कर उन्हों ने सूत्रकाल में २००० वर्ष और जोड़ कर संहिता-काल का समय ४७०० ख्री० पू० निश्चय किया।

इन मतों का घोर विरोध हो ही रहा था कि इधर एक और भारतीय विद्वान इन से भी गहरे पहुँचे। अविनाशचंद्र दास ने 'रिग्वेदिक इंडिया' (ऋग्वेद-कालीन भारत) और 'रिग्वेदिक कल्चर' (ऋग्वेद-कालीन संस्कृति) नाम की दो पुस्तकें लिखीं। उन्हों ने भूगर्भ-विद्या के आधार पर वेदों की रचना-काल का अनुसंधान किया। बहुत से ऐसे मंत्र उन्हों ने उद्धृत किए जिन से यह स्पष्ट है कि वेदों के प्रणेता आर्यावर्त के जिस भूभाग पंजाब, काश्मीर, अफ़ग़ानिस्तान

अविनाशचंद्र दास

आदि में रहते थे उस के चारो ओर का प्रात जो अब राजपूताना, युक्तप्रात, बगाल, बिहार, आदि कहलाता है, उस समय जलमय था। उन्हो ने यह सिद्ध किया है कि वर्तमान भारत की भाँति उस समय देश के सब ओर नही बल्कि केवल एक ओर समुद्र था और वह समुद्र-मय प्रात वही पूर्वोक्त प्रात राजपूताना आदि थे। ज्यो-ज्यो समुद्र हटता गया त्यो-त्यो आर्यगण आगे बढते गए। उन का निर्णय है कि भूगर्भ-विद्या के अनुसार इतना बडा परिवर्तन ईसा से १६००० वर्ष पहले से लेकर २५००० वर्ष पहले तक हुआ होगा और उसी काल मे वेदमत्रो की रचना हुई होगी। अपने मत की पुष्टि मे उन्हो ने पाश्चात्य विद्वानो के ही प्रमाण अधिक दिए हैं, पर तब से पाश्चात्यो ने इस प्रश्न पर कुछ चुप्पी सी साध ली है। क्योकि यह स्पष्ट है कि दिन पर दिन वेदो की तिथि पीछे ही हटती जा रही है, और बडे वैज्ञानिक विद्वान ऐसा सोच रहे हैं कि हिंदू शास्त्रकारो के इस कथन में, कि वेद अनादि है, अवश्य कुछ तथ्य है।

अभी इधर थोडे दिन हुए एक जर्मन अन्वेषक ह्यूगो विन्कलर को एशिया माइनर में एक शिलालेख मिला है जिस में वहाँ की दो जातियाँ—मितानी और हित्तैती—की सधि का वर्णन है और जिस में चार वैदिक देवताओ—इद्र, मित्र, वरुण और नासत्य—का उल्लेख है। विज्ञान ने इस शिला लेख को ईसा से १४०० वर्ष पहले का सिद्ध किया। और इस से यह निर्णय हुआ कि इस समय से शताब्दियो पहले एशिया माइनर ऐसे सुदूर-स्थित देशो तक वैदिक धर्म का गहरा और स्थायी प्रभाव पड चुका था। इस प्रकार निश्चित रूप से वेदो का समय ईसा के १४०० वर्ष पहले से शताब्दियो दूर चला जाता है। परतु कुछ प्रमुख विद्वान इस प्रमाण को भी कोई विशेष महत्त्व नही देते। उन का कहना है कि इस प्रकार के ऐतिहासिक प्रमाणो की—जैसे कि एशिया माइनर के शिला-लेख मे वैदिक देवताओ का उल्लेख तथा इस के बल पर वैदिक-काल से इडोईरानियन अथवा इडोयूरोपियन काल को सलग्न करना—आधार-भित्ति स्वय इतनी अनिश्चित है कि उन से परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले गए है। इस के सबध में ओल्डेन्बर्ग साहब का कहना है कि उक्त शिला-लेख मे वर्णित देवता भारतीय आर्यों के न हो कर किसी पाश्चात्य आर्य उपजाति के होगे। उन का विश्वास है कि किसी अतीत काल में सब आर्य जातियाँ और उपजातियाँ एक ही रही होगी और उसी समय से इन देवताओ के नाम

ह्यूगो विन्कलर

ओल्डेन्बर्ग

इन में प्रचलित रहे होंगे, और इस के बहुत दिनो बाद आर्यों का जो दल भारत की ओर आया उस ने वेदो की रचना की। उन का विचार है कि उस शिलालेख में देवताओ का उल्लेख वेदो को अधिक प्राचीनता देने का कारण नही हो सकता। परन्तु इस मत के विरुद्ध जैकाबी, कूनो, हिलेब्राट और विंटरनीज आदि विद्वान उक्त देवताओ को वैदिक ही मानते हैं। परन्तु ऐसा मानते हुए भी केवल इसी बल पर वेदो को अधिक प्राचीनता ये भी नही देते। ये कहते हैं कि

कुनो और हिलेब्राट आदि

जैसे पश्चिम से बहुत से आर्यों की टोलियाँ भारत आईं, वैसे ही यहाँ से कुछ टोलियाँ लौट कर युद्ध या विवाहादि सबधो के कारण पश्चिम भी अवश्य ही गई होगी। और साथ ही इस के यह भी एक ध्यान देने की बात है कि ऋग्वेद-काल तक आर्यों का निवास भारत के पश्चिम में ही अधिकतर था। इस सबध में हिलेब्राट ऋग्वेद के अष्टम मडल के आभ्यतरिक प्रमाणो पर अधिक निर्भर करते हैं।

यदि यह सिद्ध हो जाय कि ईसा के ३००० वर्ष पहले तक भारतीय आर्य आदिम भारतीय यूरोपियन जातियो से अलग नही हुए थे तो वेदो का रचना-काल बहुत नीचे उतर आता है और हर्टेल आदि कुछ विद्वान जो वेदो को बहुत हाल की रचना सिद्ध करने पर तुले हुए हैं, इस मत

हर्टेल

को स्वयसिद्ध-सा मान कर चलते हैं। हर्टेल कहते हैं कि वेदो की उत्पत्ति भारत में न हो कर ईरान में हुई और उस का समय ज़ोरोआस्टर के समय से अधिक दूर नही था। जो कि इन के अनुसार ५५० ख्री० पू० में विद्यमान था[1] परतु इन के मत का स्वागत कुछ ही लोगो ने किया। कारण स्पष्ट है।

अत में हम देखते हैं कि वेदो की रचना-काल के लिए प्राय सभी बाह्य प्रमाण न्यूनाधिक परिमाण में दुर्बल सिद्ध होते हैं। हमारे सामने—मुख्य बाह्य प्रमाण तीन हैं।

(१) ज्योतिष-सबधी। तिलक और जेकाबी नक्षत्रो की स्थिति और गणना को अपना आधार मानते हैं पर इन पर तभी निर्भर किया जा सकता है जब मूल का पाठ निर्भ्रांत हो और उस में किसी दूसरे अर्थ की सभावना न हो। पर अभाग्यवश मूल के वह पाठ जो इन के आधार माने गए हैं, एकाधिक अर्थों के बोधक हैं।

(२) दूसरा बाह्य प्रमाण ऐतिहासिक है। वेदो की रचना का सब से प्रबल ऐतिहासिक प्रमाण एशिया माइनर का वह शिलालेख है जिस में उपर्युक्त चार वैदिक

देवताओ का उल्लेख तथा वैदिक और आर्य तथा भारतीय यूरोपियन, काल का सबध है, पर यह सब स्वय इतना सदिग्ध और अनिश्चित है कि इस के बल पर परस्पर-विरोधी निष्कर्ष निकाले जा रहे है। पर यह होते हुए भी विटरनीज़ साहब की धारणा है कि इस समय हमारे पास प्राचीन भारत तथा पश्चिमी एशिया के पारस्परिक सबध के ऐसे प्रमाणो की कमी नही है, जिस से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक सस्कृति कम से कम ईसा से २००० वर्ष पहले की है।

विटरनीज़

भौगोलिक तथा भाषा-सबधी प्रमाणो से भी कुछ अधिक सहायता नही मिलती। अविनाशचद्र दास भूगर्भविद्या तथा भूगोल को आधार बना कर ऋग्वेदकाल को ईसा से २५ हज़ार वर्ष पहले ले जाते है। पर इन के विरुद्ध सब से प्रबल प्रमाण भाषा का है। पाणिनि ने साहित्यिक सस्कृत का व्याकरण ईसा से लगभग ५००० वर्ष पहले बनाया यह निश्चित है। पाणिनि के व्याकरण का आधार ब्राह्मणो की भाषा ही थी जो कि वेदो ही के अतर्गत है। अन्य भाषाओ का इतिहास हमें बतलाता है कि कोई भी भाषा अनत काल तक एक सी नही रहती। सहस्रो की कौन कहे कुछ शताब्दियो में ही भाषा कुछ की कुछ हो जाती है। हमारी आर्यभाषा का ही लगभग २५०० वर्ष का क्रमबद्ध इतिहास हमारे सामने है। इस समय हमारी जो भाषा है उस का रूप पाणिनि के समय क्या था? इसी २००० वर्ष के भीतर ही आर्यभाषा वैदिक सस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रश, पुरानी हिंदी, माध्यमिक हिंदी, तथा आधुनिक हिंदी के रूप में विकसित हुई। उसी आर्य-भाषा के सबध में जिस ने दो सहस्र वर्षों में ही इतने रूप बदल डाले, यह कौन विश्वास करेगा कि पचीस हज़ार वर्ष तक यह ज्यो की त्यो रही तथा भारतीय आर्य सस्कृति में भी कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। माना कि समय की उन्नति के साथ-साथ परिवर्तन की गति द्रुत से द्रुततर होती जा रही है और पुरा-काल में परिवर्तन इतनी शीघ्रता से नही हुआ करते थे। पर २० और २५ सहस्र वर्ष का समय बहुत होता है। यही तर्क बहुत कुछ तिलक और जैकाबी के मत के विरुद्ध भी लागू होता है। ईसा से ४००० वर्ष पहले भी वेदो की रचना का प्रारभ मानने में यही सब कठिनाइयाँ सामने आती है।

(३) तीसरा वाह्य प्रमाण वेदो की भाषा के वाह्य-रूप से सबध रखता है। आवेस्ता नामक पारसी ग्रथ की और ऋग्वेद की भाषा में अधिक अतर नही है। वह केवल इतना ही है कि कुछ थोडे से ध्वनि-सबधी परिवर्तन कर देने से दोनो की भाषा

प्राय एक सी हो जा सकती है। और यह अब सिद्ध हो गया है कि आवेस्ता का रचना-काल ईसा से एक हजार वर्ष से पहले का नही है। अब ऐसी स्थिति में कोई भी भाषा और इतिहास का मर्मज्ञ ऋग्वेद के रचना-काल को कहाँ तक पीछे ले जायगा।

कुछ दिन तक विद्वानो में एशिया माइनर वाले शिलालेख और आवेस्ता के आधार पर ऋग्वेद की भाषा के प्रमाण की बडी धूम रही पर अब इधर थोडे दिनो से इन प्रमाणो पर भी अधिक निर्भर नही किया जा रहा है। अब जब कि सभी बाह्य प्रमाण निर्बल सिद्ध हो रहे हैं तब अगत्या भारतीय साहित्य के इतिहास के आभ्यतरिक प्रमाणो का आश्रय लेने के सिवाय दूसरा उपाय नही रहा। इस दिशा में सब से प्रबल प्रमाण यही है कि बुद्ध, महावीर, तथा पार्श्व से सबद्ध साहित्य सर्वांगीण वैदिक साहित्य से परिचित दिखाई पडता है। दूसरे शब्दो में यह स्पष्ट है कि बौद्ध तथा जैन साहित्य के प्रादुर्भाव के पहले समग्र वैदिक साहित्य की रचना—सहिताओ से ले कर उपनिषदो तक—पूरी हो चुकी थी। अब यह निर्भ्रांत रूप से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कोई भी प्रमाण वेदो को उक्त साहित्यो के बाद की रचना नही सिद्ध कर सकता। अब रह गया वेदो की रचना का प्रारभकाल स्थिर करना। इस सबध में अधिकाश विद्वान १२०० या १५०० खी० पू० को ही अभी तक ठीक मान रहे है। परतु इस तिथि को मानने से प्राय. ८०० वर्ष के अदर ही समूचे वैदिक साहित्य की रचना सपूर्ण माननी पडती है, जोकि इस महान साहित्य क प्रकाड कलेवर को देखते हुए असभव जान पडता है। सहिता-मत्रो से ले कर उपनिषदो तक की रचना सपूर्ण होने में २००० वर्ष से कम न लगे होगे। साहित्यिक सस्कृत से वर्तमान खडीबोली तक के साहित्य का विकास-काल यदि २००० वर्ष समय ले सकता है, तो वेदो की सपूर्ण रचना में भी कम से कम इतना समय अवश्य लगा होगा। कम से कम इस लिए कहा जाता है कि उस पुरा-काल में साहित्य और सस्कृति के विकास की गति अपेक्षाकृत बहुत मद रही होगी। इसी हिसाब से इस महान साहित्य का प्रारभ-काल खी० पू० २५००—२००० तक मान लेने में कोई विशेष शका नहीं देख पडती। किसी 'इदमित्थमेव' प्रमाण के अभाव में इस प्रकार के मध्यम मार्ग के अवलबन के सिवाय अन्यथा गति नही है।

चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[लेखक—श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (ऑक्सन), बैरिस्टर-एट्-ला]

[२७]

गढ़वाल राज्यशासन में कृपाराम का प्रभुत्व

जयकृतशाह के अल्पवयस्व होने के कारण गढ़वाल के दीवान खड़ूडी और डोभाल राज्यशासन अपने-अपने हाथो में लेने के लिए प्रयत्न करने लगे। इस प्रयत्न में कृपाराम डोभाल बाज़ी ले गया। प्राचीन दीवान खड़ूडी परास्त हो गए। नित्यानद का पड्यत्र भी निष्फल हुआ। अब कृपाराम का तूती बोलने लगा। मोलाराम के वाक्यानुसार—

कृपाराम डोभाल का प्रभुत्व

कृपाराम प्रभुता महिं आए।
मत्री गढ़ के सब घबराए॥
कृपाराम पे सब कोई जावें।
राजा को दरसन नहि पावें॥
राजा कहे सो मारचो जाई।
भजे कृपाराम लो करे सहाई॥
जित तित सों डोभाल ही आए।
बीत कलम कागज लटकाए॥
प्रात निशा नित मजलिस लागे।
राग रग सब होय जो आगे॥
आफ पलगा ऊपर बैठो रहे।
घुरकी धमकी सब कौं कहे॥

श्री विलास ताको बहनोई।
राख्यो खास नृपति पे सोई॥
महिल दूसरो जान न पावे।
श्री विलास ही तहाँ रहावे॥
भवानंद सों हेत महाई।
श्री विलास को जेष्ठ ही भाई॥

श्री विलास अंदर रहे, बाहर भवाहोनंद।
कृपाराम के मंतरी, अत हितकारी रिंद॥

उथल पुथल बहु करने लागे।
सब मंत्रिन के कानहि जागे॥
इह काहू कों छाड़ं नाहीं।
भये धूर्त अति ही गढ़ माहीं॥

कृपाराम के विरुद्ध घमंडसिंह के लिए पत्र

तीन टोल मैं मता मतायो।
घमंडसिंह को लेखि पठायो॥
तुम हूँ दूण के वासी भये।
राज काज सब छाड़ ही गये॥
कृपाराम इत भये मवासी।
लागे सब कों देनहि फांसी॥
राजश्री घर माहि चलाई।
राजकाज सब दियो डुबाई॥
जाको चाहें ताको मारें।
दया न काहू की मन धारें॥
उथल पुथल सब खिजमत कीनी।
अपने पक्षपात माँहि दीनी॥
स्याले ससुर मंतरी कीने।
विरता सब के खोस ही लीने॥

कोई दिन महि नृपति कहावे।
तुमकों भी इह तुरत उठावे॥
केदारसिंह ज्यू तुमरे भाई।
तिनको भी हम लेख पठाई॥
दुह भ्रात मंत्र ही कीजे।
प्रति उत्तर तब हम को दीजै॥

कृपाराम और उस के रिश्तेदारों के आतंक और अत्याचार से तंग आकर, और राजा जयकृतशाह की विवशता देखकर राज्य के अन्य पदाधिकारी और राजा के रिश्तेदार कृपाराम के खिलाफ सर उठाने लगे। घमंडसिंह और केदारसिंह दो भाई जो खवास से पैदा थे, वह देहरादून में राजा के फौजदार और जागीरदार थे। कृपाराम को पराजय करने के लिए विपक्षी मंत्रि-दल ने घमंडसिंह और केदारसिंह को उक्त पत्र द्वारा बुलाया।

घमंडसिंह यह पत्रिका, बाँचि भयो भय त्रास।
केदारसिंह बैठे जहाँ, गयो ले तिनके पास॥
केदारसिंह फौजदार ही बैठे।
जमींदार सँग माहि इकँठे॥
घमंडसिंह तहँ सीस नवायो।
केदारसिंह तहिं पास बैठायो॥
कह्यो घमंडा तुम क्या आये।
कागज कर महिं कैसा लाये॥
तबँ घमंडा कागज दीन्यो।
केदारसिंह बाँच ही लीन्यो॥

पास बैठे हुए जिमीदारों को विदा कर केदारसिंह और घमंडसिंह दोनों भाइयों ने आपस में परामर्श किया, और तय किया कि कृपाराम मार दिया जाय। देहरादून से घमंडसिंह फौज लेकर कृपाराम पर आक्रमण करने के लिए चला।

घमंडसिंह समुझाय यों, दीन्यो शीघ्र लगाय।
बाकी फौज सग ले, रह्यो उफल्डा[1] आय॥

---

[1] उफल्डा श्रीनगर से दो मील पर एक गाँव है। यहाँ पर एक बड़ा भारी मैदान भी है।

धमण्डसिंह का देहरादून से सेना लेकर श्रीनगर आगमन

बखसी सग सुखेनो[1] आए।
जौणिपुर[2] से वही बुलाए॥
सिरीनगर महि मत्री जेते।
कम्बल ओढ़ रात गये तेते॥
सबसों धम कम तहँ कीयो।
गुपत यहाँ किनहू नहीं चीयो॥
मत्री सबै सहर महि आए।
अपने अपने घर नहि धाए॥

गढ़वाल के मंत्री लोग जो कृपाराम के खिलाफ थे। वे छिप कर कम्बल ओढ़ कर रात को धमडसिंह से मिलने गए और धमडसिंह को, उस का साथ देने का वचन दिया। धमडसिंह ने दूसरे दिन प्रातः काल अपनी सेना ले कर गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर को घेर लिया।

धमंडसिंह सजि सेनहि धाए।
दखणी बाजा ढम्फ बजाए॥
कृपाराम भी घर सों निकस्यो।
चहूँ ओर ही देखन दृगसों॥
ढोलक ऊपर ढोलक छाई।
चहूँ ओर से सजे सिपाही॥
अपने गृह से नृपति द्वारे।
गए सिपाही फैलहि सारे॥

हरकारे ने आनि के, दई खबर हीं ताहि।
खबरदार हो जाव तुम, आज बचन हो नाहि॥

कृपाराम धमडसिंह को अपना पुराना मित्र समझता था। अपनी रक्षा का प्रबंध किए बिना

---

[1] सुखेन (मंडी राज्य) के निवासी।
[2] जौनपुर।

राजदरबार में कृपाराम गये मजलिस मांहि।
कृपाराम और घमंडसिंह जंकृतशाह बैठे थे जहाँहि॥

करि सलाम बैठ्यो तहाँ, सोंही जो कृपाराम।
आसपास मंत्री सबै, मजलिस में जो आम॥

पलंग मध्ये महाराज बैठे।
मंत्री सब हुए रहे इकंठे॥
देवीदत्त दफ्तरी तांही।
जूलूपेचहि दस्ती माही॥
भवानंद और श्रीविलासहि।
महाराज के आस पासहि॥
धनीराम डोभाल ही बैठो।
कृपाराम हो को यह बेटो॥
खड़ो भगोत तहाँ खवासहि।
जंकृत शाह को चवर ले पासहि॥
और अनेकहि कहा गनाऊँ।
कारण करण सबही जताऊँ॥

प्रथम प्रहर दिन चढ्यो, घमंडसिंह गयो तांहि।
घुस्यो धाय मजलस हि में, किनहूँ रोक्यो नांहि॥

छांटि सूरमा सब सिपाही।
घेर लई मजलस सब जाई॥
करि सलाम सिंह ज्यों सोंही।
कृपाराम संग बैठ्यो त्योंही॥
ज्यों नभ में चंद तारिका वृंदहि।
घेरघो घन नहि आन घमंडहि॥
मुख पीरी सब के परि आई।
महाकाल ने लिये दबाई॥

सारी सभा सुन हो गई। मन्त्री राजा का मुंह ताकने लगे। राजा उन की ओर देखने लगा। मन्त्री लोग अवाक् हो गए।

कृपाराम तब तासों बोलो।
घमडसिंह घर कमरहि खोलो॥
कमर खोलि कै भोजन पावो।
चौथे पहर फेर तुम आवो॥
भई भेंट सिरकार तुहारी।
करो दुर्ग की तुम फौजदारी॥
अरजी जो तुम करो सो मानै।
तुमैं महाराज अपना जानै॥
नातेपथी तुम गढ़ माँहीं।
तुम समान कोउ दूजो नाहीं॥

राजसभा में कृपाराम का वध

घमडसिंह सुनि कै इहै, मन माँहि कियो बिचार।
इहाँ दाव फिर हाथ हो, लगै न दूजी बार॥
घमडसिंह मनमाहिं बिचारी।
करे खुशामद इहै हमारी॥
बातन महि यह वखत बचावे।
फेर हमारे हाथ न आवे॥
बिन मारे इह छोडै नाहीं।
अब ही मारो याके ताहीं॥
इह अपने मन ही में लह्यो।

जयन्तशाह के सन्मुख घमडसिंह—

हाथ जोरि कै ठाडो भयो॥
महाराज के सौंही जाई।
अर मजलस माँहि अर्ज सुनाई॥
महाराज हम दास तुहारे।
इतै शत्रु हैं बहुत हमारे॥

भलो कहैं नहिं कोय हमारो।
खोटी कहैं सभी नर नारी॥
कहो काहु की सुनिए नाहीं।
बुरो कहैं सभ हमरे ताहीं॥

जान माल महाराज को, राजद्रोहि हम नाहि।
शत्रुन को छांडें नहीं, परें आप के पाहि॥

घमर्डसिंह इह अरजी कीनो।
महाराज सबही सुनि लीनी॥
अरजी कर मजलस महिं बैठ्यो।
महा क्रोध मन भयो इकैठ्यो॥
तहाँ सिपाही जे सग माहीं।
दई दृष्टि सब ही के ताहीं॥

घमर्डसिंह के सिपाही इस दृष्टिपात का अभिप्राय समझ गए। घमर्डसिंह ने अपने सिपाहियों से—

कही तिन्हे उठि घर कौं चलिये।
कृपाराम जू के सग मिलिये॥
कृपाराम कौं रोक रुपैयां।
हरीसिंह दे झटकी घैयां॥
हरीसिंह कै हजूरि मिञाही।
भर मजलस महिं पकडी बांही॥
कृपाराम ने भेंटहि जानी।
दगा कछू यो नाहिं पैछानी॥
भेट लेन जो हाय उठायो।
हरीसिंह ने पकड दबायो॥
लिपट गए तहँ सबै सिपाही।
मत्री सबहीं दिए बधाही॥

राजा गोद ले भग्यो खवासा।
कूदि परयो धरती के पासा॥
पाग भागते नृप की ढरी।
ता दिन तें गढ़ की राजसि गिरी॥
नंगे सिर राजा ले भागे।
ज्हाँ लोग तहँ संग महि लागे॥
राजा ले महिलों महि बाढ़े।
चहूँ तरफ दरवाजे चाढ़े॥

कृपाराम मजलस हि में, पकड लियो छिन माहि।
लाग्यो गाली देन तब, सरी और कछु नाहि॥

कृपाराम कहै सुनो घमडा।

. . .

दगा करी तें मजलिस माहीं।
रण महि तो तू जीत्यो नाहीं॥
एकवार तू छोड दे मोकों।
दूमन पास पिटाऊँ तोकों॥
किया काम यह तें नहि अच्छा।
आखर तू बाँदी का बच्चा॥
घमडसिंह सुनि भौंह चढ़ाई।
ततकाल ही दियो मराई॥
मजलस ही में घायल कीन्यो।
पेसक्बज छाती पर दीन्यो॥
पाछे धरनी माँहि उतारयो।
खड़गहि सौं सिर काटहि डारयो॥
चहूँ तरफ सौं महल घिरायो।
आफ दिवानहि लाने आयो॥

घमर्डसिंह का आतंक

मन्त्री सब तहँ पकर मँगाये।
राजा पे दो चार रहाये॥
बाहर के भीतर नहिं जावें।
भीतर के बाहर नहिं आवें॥
पड़ि हड़ताल सहर के माहीं।
बाहर कोई निकसे नाहीं॥
हाहाकार भयो पुर सारे।
राजा परजा द्वारे द्वारे॥

लाल झरोखे आन तब, राजा बैठे आय।
घमर्डसिंह कों आपने, सोंही लियो बुलाय॥

कह्यो घमर्डसिंह यो क्या कीन्यो।
राजा परजा को दुख दीन्यो॥
अदब हमारो कछु नहिं राख्यो।
जैकृतशाह यह मुख सों भाख्यो॥
घमर्डसिंह सुनि सों ही आयो।
हत्य जोरि के सीस निवायो॥
सीस निवाय अर्ज मुख कीनी।

जयकृतशाह धार्मिक राजा था। उस ने कृपाराम का मारा जाना पसंद नहीं किया। घमर्डसिंह की शक्ति और सेना को देखते हुए भी राजा ने घमर्डसिंह की कृपाराम के वध के लिए भर्त्सना की। घमर्डसिंह ने जयकृतशाह की धार्मिक भावनाओं को देखते हुए अपने को निर्दोष ठहराने के हेतु अथवा अपनी सफाई में कृपाराम के अन्याय का अच्छा चित्र खींचा—

कृपाराम के दोष और अवगुण

महाराज तुमने नहिं चीनी॥
कृपाराम कहि काज बिगारे।
तब हमने मजलिस महिं मारे॥
आपहि इह राजा कहिलायो।
हुक्म तुहारो कछु न रहायो॥

राजकाज सब घर माँहि कीन्यो।
परजा कौं अति ही दुख दीन्यो॥
दंड नाहक सब ही पै चलायो।
धर्म कर्म कछुहू न रहायो॥
खिजमत उलट पुलट कर डारी।
गढ़ मरजादा सबै बिगारी॥
अपने नाते गोल बधाये।
राजनेक सब ही जो उड़ाये॥
या तें हमनें दुष्ट सिंहारो।
अब तुम राज करो इहँ सारो॥
नीत रीत सौं राज चलाओ।
परजा अपनी सुबस बसाओ॥
गऊ विप्रन को पालन कीजे।
बिरता गूँठ रोजी मा दीजे॥
हम प्रभु तुमरो हुकम बजावें।
जो तुम कहो सोइ करि आवें॥

[२८]

घमंडसिंह का आधिपत्य

जयछतशाह ने घमंडसिंह को क्षमा किया और उस से कहा इस वक्त (रात्रि के समय) तुम जाओ और ओझा के बाग में रहो। सुबह यहाँ आना। मजलिस में बैठ कर राज्य का कार्य करो। अपने शत्रु को तुम ने मार दिया है। अब तुम राज्य के काम को सुधारो यह सुन कर घमंडसिंह ओझा के बाग में चला गया। शहर में जयछतशाह की दुहाई फेरी गई। दुकानें सब खुल गई। सब लोग अपने अपने काम में लग गए। दूसरे दिन सवेरे—

लाल दरोगा राजा बैठे।
ओझा गुरु हो संग इकैठे॥

घमर्डसिंह चौक माँहि ठाडो।
महिष समान दन महि चाडो॥

घमर्डसिंह ने राजा से कहा कि श्रीविलास, भवानद, देवीदत्त और धनीराम को मेरे सुपुर्द कर दो। ये तुम्हारे राज्य को नष्ट करेंगे।

जिनको मित्र भ्रात पितु मारचो।
उनसो मिले न चित्त हमारो॥
जो अपना तुम राजहि चाहो।
इन्हें बाँधि हमपै पकरायो॥

जयकृतशाह ने उत्तर दिया—

पाचन कौं तुम आजहि मारो॥
हम सिर देंहि इन्हें नहि देहें।
पाप आपने सिर नहि लैहे॥

घमर्डसिंह ने कहा कि मै इन को मारूंगा नही। मै कुछ दिन इन को कैद रक्खूंगा और छोड दूंगा। उस के बाद ये—

गाँव जागीर बहाली पावें।
इह सरकार में आवें जावें॥
इह सव ही पचन की मरजी।
तव हौं करी आपसों अरजी॥
महाराज तव धर्म कराई।
दीने चारो सग पठाई॥

देवीदत्त धनिराम ही, भवानद श्री विलास।
पग जजीर पहिराय के, राखे अपने पास॥

तव लागे सव कार्जाहि माहीं।
राजा राख्यो राजहि माहीं॥

प्रात निसा मजलस ही लगावें।
मंत्री सबही आवें जावें।।
घमडसिह लीनो मुखत्यारी।
चत्री फूटी फिर के सारी।।

कृपाराम के रिश्तेदारो को क़ैद कर लेने के बाद घमडसिंह अन्य उच्च राज्य-कर्मचारियो को अपनी ओर करने की चेप्टा करने लगा। किंतु विजयराम नेगी श्रीनगर से भाग गया। घमडसिंह के पूछने पर अजबराम नेगी ने कहा कि वह अपनी भतीजी के ब्याह के इतजाम के लिए गया है। मै भी पीछे जाऊँगा। घमडसिह ने कहा कि वह हम से पूछ कर क्यो नही गया? अजबराम ने उत्तर दिया कि वह तो आप से अर्ज कर रहा था। और खर्चा भी मांग रहा था। परतु आप ने उस की कुछ सुनी ही नही। अजबराम ने अन्य राजकर्मचारियो की ओर से घमडसिह से यह भी कहा—

विजयराम और अजबराम नेगियों का विद्रोह

तुम सब लागे आपहि करने।
यातें लागे सबहीं डरने।।
इह काहू के मन नहिं भावे।
राजा करे सो सब मन आवे।।
तुम्हें दूण[1] दीनी फौजदारी।
तहाँ करो तुमहूँ मुखत्यारी।।
इत सब मत्री राज चलावें।
महाराज को हुक्म बजावें।।

घमडसिह सुनि कै इहै, फटी जो तिनके माँहि।
कृपाराम तुमहूँ हत्यो, अब काढ़ो हमरे ताँहि।।

---

[1] दूण—जिला देहरादून; उस समय यह गढ़वाल राज्य के अंतर्गत था।

पाप हमारे सीस लगावो।
तुम बैठे श्रीनगर कमावो॥
बडे मतरी तुम गढ माहीं।
काहू को तुम राखो नाहीं॥
कृपाराम हमहूं सो मरायो।
हमें दूण को राह बतायो॥
हम काहू को छोडें नाहीं।
महाराज मे तुम हो गुनाहीं॥
राज भ्रष्ट तुमहूं ने करायो।
मजलस माहीं बिप्र मरायो॥

घमडसिंह ने कहा कि आप लोगो के पत्र मेरे पास रक्खे हुए हैं। अपने इन पत्रो को देखो। उच्छवसिंह खत्री और सोवनसिंह वागडी ने मुझे पत्र लिख कर यहाँ बुलाया—

तब हम तुमरी करी सहाई॥
अब तुम हमकों अकल बताओ।
हम मूरख तुम चतुर कहाओ॥

यह सुन कर सब नेगियो ने कहा कि घमडसिंह तुम ने हमारी रक्षा की है और तुम ने राज्य को बचाया है। तुम इन चार शत्रु—भवानद, श्रीविलास, देवीदत्त और धनीराम को क्यो नहीं मारते?

इन चारो को नासो जबहीं।
गढ को मिटे कुचाल जो तबहीं॥

घमडसिंह ने कहा—

धर्म देहि हम नृप सो लाये।
अब हम सो नहिं जाइ मराये॥
एक पाप तो प्रथम छुटावो।
चार पाप क्यो और कमावो॥

इह इकान्त मत्रिन ने कीन्यो।
घमर्डसिह नृप पैं कहि दीन्यो॥
ऐसे प्रभु इह मत्रि तुहारे।
अब यह लागू भये हमारे॥
कृपाराम इन हूँ ने मरायो।
अब हम ऊपर दुद उठायो॥

जयकृतशाह ने भी अब कूटनीति से काम लेना चाहा और मत्रियो को आपस में लडवाने लगा।

विपक्षी मत्री भयभीत हो गए कि अब घमडसिह हम पर हाथ फेरेगा। राजा उस को मानता है। राज्य प्रबध सब उसी के हाथ मे है। असतुष्ट मत्रियो ने आपस में एका किया और सोचा कि अब कुमाऊँ वालो की सहायता से घमर्डसिह को पराजित करना चाहिए।

घमर्डसिह के विरुद्ध षड्यत्र

अजबराम राजा पै आयो।
घमॅडसिह कौं सग महि लायो॥
कह्यो बहन को व्याह हमारो।
हमरो घर कौं भई तयारी॥
महाराज कछु खर्च दिलायो।
अजबराम तब बिदा करायो॥
अजबराम कॅनूर ही आये।
सरजाम सबहीं जो कराये॥
धम्रू कूर्माचल से धायो।
सनरा ह्वै कॅनूर[1] में आयो॥

विवाह के बहान से अजबराम ने कॅनूर के नेताओ से परामर्श किया और उन को बताया—

[1] कुमाऊँ का एक परगना जो गढ़वाल से मिला है।

गढ में गडबड बहुतै भई।
घमंडसिंह मुखत्यारी लई॥
कृपाराम मजलिस मँहि मारो।
कर्म कुकर्म कछू न बिचारो॥

तलब हमारी देत हैं नाहीं।
देत हैं अपनी फौज के ताहीं॥

यह सुन कर कैंतूर (कुमाऊ) के गढवाली फौजदार धनु ने, जिस के साथ अजबराम की बहिन का विवाह हुआ था, अपनी सेना एकत्रित की और अपने अनुयायियों से परामर्श कर—

घमंडसिंह पै पत्र पठायो॥
पाँच लाख हैं तलब हमारी[1]।
तुम पाई गढ की मुखत्यारी॥
जल्दी तलब जो देहु पठाई।
नातर फौज देखियो आई॥
घमँडसिंह सुनि के घबरायो।
महाराज के पासहि आयो॥
मन्त्री गढ के सबहि बुलाए।
खत गुल्दारन के दिखलाए॥

मन्त्रियों ने मिलकर—

प्रतिउत्तर लिखि दियो पठाई।
तुमहूँ हमहूँ तलब न पाई॥
कृपाराम तब तो हम मारयो।
तुमरो हमरो काज बिगारयो॥

---

[1] ललितशाह ने कुमाऊँ (अलमोडा) राज्य को पराजय कर अपने (गढवाल) राज्य में सम्मिलित कर वहाँ अपनी गढवाली सेना रख दी थी। धनु उसी सेना का नायक था। उसी के सिपाही अपने वेतन का तकाजा करने लगे।

घमर्डसिह का यह उत्तर पढ़ कर अजबराम और उस के मददगार कुमाऊँनियों ने–

शीघ्र प्रतिउत्तर लेखि पठायो।
कृपाराम हति तुम सब पायो॥
कृपाराम की गादी पाई।
सबा लाख गढ़ लियो दबाई॥
राज लियो तू चहत है, सब यों देहि जवाब।
तलब शीघ्र इत भेज दे, नातर करें खराब॥

इस का उत्तर घमर्डसिह ने सोमन सिंह के हाथ भेजा कि कृपाराम को इन्हीं लोगों ने मरवाया है जो अब तुम को भड़का रहे हैं। उन्हीं से तुम अपनी तनख्वाह लो।

अजबराम ने सब को पत्र पढ़ सुनाया।

पाती बाँचि सबहि सुनाही॥
पाती सुनि सब उठे रिसाई।
सिरीनगर कौं फौज चढ़ाई॥
मंत्री गढ़ के जो सब भजाये।
अजबराम पै सबही आये॥

घमर्डसिह की दूरदर्शिता

घमर्डसिह ने बंद सौं, दीन्हें सभी छुटाय।
कीन्हें फेर बहाल वह, राखे पास लगाय॥
देवीदत्त धनिराम डोभाल ही।
श्रीविलास आये नौट्याल ही॥
न्हाय धोय कै वस्त्र सजाये।
घमर्डसिह मियाँ पे आये॥
घमर्डसिह ने दई दिलासा।
करें तुहारी पूरन आसा॥
तुमरे शत्रु गढ़ मंत्री जेते।
हतें तुम्हारे आगे तेते॥

घमर्डसिह और उस के पुराने शत्रुओं में मेल हो गया। उन्हों ने मिल कर यह

तै किया कि घनीराम वगैरह श्रीनगर में राज्य की रक्षा करें, और राज्यप्रबंध करें, और घमर्डसिंह बागियो पर आक्रमण करने के लिए सेना ले कर जाय।

घमर्डसिंह की बाग़ियो से मुठभेड

इह कहि चढे घमडा धाई।
बांकी फौज निसान फहराई॥

अजबराम पे खबर ही गई।
घमर्डसिह आयो सुन लई॥
घम्रू गद्दी के बल धायो।
बलिया लच्छम ही सग आयो॥
बिजयराम सब ही सो आगे।
अजबराम नेगी सग लागे॥
गढ के मत्री सब सग माहीं।
लाये बांकी फौज के ताहीं॥

लियो घमर्डसिह घेरि कै, पीली फौज चहूँ पास।
उमेदसिह मियाँ तबै, आयो मुख ले घास॥

उमेदसिह का सधि के लिए प्रयत्न

बैठे सब गुलदार जहाँ सी।
आयो दुहुँ कर जोर तहाँ सी॥
सब ही कौं घूस पत्रो दीनी।
जुदी जुदी सब ही ने लीनी॥
ठोणा साही मोहरें बांटी।
सब सो मिलिके मसलत छांटी॥
लडो भिडो अब कोई नाहीं।
मिलि के चलो सहर के माहीं॥
राजा कहें सो सब ने करना।
इत नाहक क्यों लडके मरना॥
या बिध मत्र तत्र ठहराई।
घूस असरफी सभी पचाई॥

सिरीनगर में चली अवाई।
घमर्डसिह को देइ मराई।।

श्रीबिलास हम पास तब, आए आधी रात।
देबीदत्त धनिराम कौं, ले कै अपने सात।।

देवीदत्त, धनिराम और श्रीविलास का मोलाराम की शरण लेना

हम तिनको बहु आदर कीन्यो।
श्रीफल तिनके करसों लीन्यो।।
गधाक्षत हम तिन्हें चढाई।
तीन मुद्रिका करहि धराई।।
तब तिनसों हम बातहि बूझी।
किहि कारण तुम आये हो जी।।
श्रीबिलास कही हम कौं राखो।
संतो हमरे सगही लागो।।
तुम प्रवीन हो मित्र हमारे।
तब हम आये सरन तुहारे।।
घमर्डसिह पै बैरी आये।
जिन हूं पहिलौं हम पकराये।।
घमर्डसिह ने हम नहि मारे।
वह बैं तो इह कहि कहि हारे।।
तब वह शत्रु होय फिरि आए।
कुर्मांचल सों फौज ही लाये।।
घमर्डसिह कौं राखें नाहीं।
पहिलौं मारें हमरे ताहीं।।
जातें हमहूं भाजत रातहि।
मिलन तुहारे आये सातहि।।

मन मदि के हमहूं धरचो, जादवे को घ्यान।
परमारथ मैं करत हूं, जो तुम करो कल्यान।।

मोलाराम का अजबराम के लिए पत्र

हुकुम भयो जगदम्ब को, इन कौं रोकहि लेव।
अजबराम को पत्रिका, तुम अपनी लिखि देव॥
तब हम तिनकौं थामि कै, दई पत्रिका ताँहि।
सिरीनगर खलबल पडी, भाजत हैं सब ह्वाँहि॥
धर्मपत्र लिखि देव तो, राखें हमहूँ थाम।
जब तुम आओ शहर में, लगें तुहारे काम॥
देवीदत्त धनिराम ही, श्रीबिलास नौटयाल।
हमहूँ राखे रोकि इह, जो तुम देहो सवाल॥
सुनत सार निर्धार हम, धर्मपत्र लिखि दीन।
निर्भय होय गढ़ में रहो, तुमहूँ मानस तीन॥

शरण आए हुए देवीदत्त, धनीराम और श्रीविलास को घमडसिंह का साथ देने के कारण अजबराम के आक्रमण और विजय पर अपने प्राणो का भय था। उन्हो ने अपनी प्राण-रक्षा के लिए मोलाराम की शरण ली। मोलाराम ने अजबराम के लिए उक्त पत्र लिख कर इन तीन अपने आश्रयी ब्राह्मणो के अपराध के लिए अजबराम से क्षमा माँगी। अजबराम मोलाराम को बहुत मानता था। मोलाराम बडा चतुर दरबारी था, वह अपने को राजतत्र और षड्यंत्रो में नही उलझने देता था। वह अपनी चित्रशाला में चित्रांकण में लगा रहता था। दरबार में भी कम जाता था। अपने को सब से तटस्थ रखता था। इसी लिए रग-मच पर खेलने वाले और राजप्रासाद तथा राजसत्ता के इच्छुक सभी राजतन्त्री और मन्त्री उस की सलाह और सहायता लेते। उस को निष्पक्ष समझ कर मोलाराम की बात मान भी लेते थे। वह एक प्रकार का मध्यस्थ था। इसी लिए अजबराम ने मोलाराम की बात मान ली। देवीदत्त, धनीराम और श्रीविलोस को अभयदान दिया। अजबराम से अपने पत्र के उत्तर मे धर्मपत्र मोलाराम ने मँगाया

धर्मपत्र इह हमहूँ मँगाई।
दीन्यो तिनहूँ कौं जो दिखाई॥
भये प्रसन तब श्रीबिलासहि।
देविदत्त धनिराम हुलासहि॥

बाबू राधाकृष्णदास की अप्रकाशित कविता

[अक्तूबर, सन् १९३३ की 'हिंदुस्तानी' में स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास के कुछ अप्रकाशित पद, दोहे, सवैये, कुडलियाँ, तथा घनाक्षरी छद प्रकाशित किए गए थे। यह हमें काशी के सुप्रसिद्ध साहित्यिक तथा स्वर्गीय भारतेंदु हरिश्चद्र के नाती श्रीयुत व्रजरत्नदास जी की कृपा से प्राप्त हुए थे। इन्हे उस समय रसज्ञो ने पसद भी किया था। यह कहने की आवश्यक्ता नही कि हमारे स्वर्गीय कवियो की अप्रकाशित रचनाओ को प्रकाशित करने का कार्य अपना एक विशेष मूल्य और महत्व रखता है। इसी दृष्टि से स्वर्गीय बाबू राधाकृष्ण दास की कुछ अप्रकाशित कविताएँ पुन प्रकाशित की जाती है। यह कविताएँ भी हमें श्रीयुत व्रजरत्नदास जी की कृपा से प्राप्त हुई है।

बाबू राधाकृष्णदास, उपनाम 'दास', भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र के फुफेरे भाई थे और अपने समय के साहित्यिको में विशेष प्रतिष्ठित थे। राय बहादुर बाबू श्यामसुदर दास जी ने उन की समग्र रचनाओ का दो भागो में सग्रह किया है। इन में प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। इस भाग में कविता, लेख, जीवन-चरित्र तथा नाटक एकत्र किए गए है। दूसरे भाग में उपन्यासादि प्रकाशित होगे। बाबू राधाकृष्णदास जी की जो कविताएँ अप्रकाशित रह गई थी उन के विषय में स्वर्गीय ने अपने वसीयतनामे में यह निर्देश किया था कि यह बाबू जगनाथदास जी 'रत्नाकर' कृपया दुहरा दें तब प्रकाशित की जायँ। उस समय यह कविताएँ प्राप्य न थी। और अब तो 'रत्नाकर' जी का भी स्वर्गवास हो चुका है। आशा है कि कविता-प्रेमी पाठक इन कविताओ का न केवल इस लिए आदर करेंगे कि इन के साथ एक स्वर्गयि साहित्यिक की स्मृति जुटी हुई है, वरन् इस लिए भी कि इन में अपना एक रस है।—सपादक]

पद

[१]

हम को तुम ही ढीठ कियो।
दूधरु दही खवाइ बहुत सो जीभ बिगारि दियो॥

तुमरो गोरस चाखि भुटाने लालच भूरि हियो ।
अब क्यो भई कृपण तू प्यारी मैं तो हूँ बिन मोल लियो ॥
लियो लगाइ हृदय सों मोहन अधर सुधारस पियो ।
'राधाकृष्णदास' मैं तेरो, तोहिं जिवाये जियो ॥

[२]

कोउ सग विहरत ह्वैहैं प्यारे ।
कहुँ निकुंज वन केलि करत ह्वैहैं नैनन के तारे ॥
कहुँ जमुना तट सघन द्रुमन मैं दै गलबाहीं लाल ।
करत कहूँ ह्वैहैं बतिया हँसि सँग सुदरि नवबाल ॥
कहुँ लतान को टारत आगे प्रेमपगे नँदलाल ।
पाछे ललना प्रेमपगी नव, बोलनि मधुर रसाल ॥
हम प्यारे के सुखहि सोचि कै अति प्रमुदित मन माहिं ।
'दास' भले अनद सों विहरहु हमैं दु:ख कछु नाहिं ॥

[३]

हौं तो दरसन ही की प्यासी ।
चाहत नहीं और कछु केवल इक जुव रूप उपासी ॥
जहँ चाहौ बिहरौ पी प्यारे करहु महा सुखरासी ।
तुमरोई सुख देखि कै होइहै सुखी तिहारी दासी ॥
रात दिना जो कछु चाहहु सोइ करहु हमैं न उदासी ।
'दास' प्रात ही देहु दरस मोहिं अहो मीत बिस्वासी ॥

[४]

जो नहि दरसन पाऊँ प्रात ।
तो बिलपत मो कहँ बीतैगो सगरो दिन अरु रात ॥
तासों करत बीनती प्यारे जोरि कै दोऊ हाथ ।
'दास' सबेरे ही दासी को दरसन दीजै नाथ ॥

[५]

लालन छोड़हु चचल बान।
पौढ़े रहौ पालना ऊपर मंद मंद मुसक्यान ॥
बैठहु जिनि बलि जाउँ रावरे तुम्हें हमारी आन।
अति चचल कहुँ गिरहु न मोहन इहि डर सूखत प्रान ॥
जोइ चाहूँ सोइ माँगि लेहु तुम मेरे सब सुख-खान।
पैं जिनि झुकौ पालने पर सो कहनो लीजै मान ॥
छोटी सुंदर दुलहिन के सँग ब्याहौं सुंदर कान।
पलना झुलाऊँ दाऊ एक सँग, करूँ तेरो गुन गान ॥
नाना लाड लडावति जसुमति प्रेम अनँद रस सान।
'राधाकृष्णदास' को ठाकुर चहत यहँ सुख बान ॥

[६]

प्रगटी बरसाने ठकुरानी।
तीनि लोक आनँद सुख संपति रानी कीरति आनी ॥
जोगिराज जेहि ध्यान लगावत तऊ न पावत भेव।
सोई तीन लोक को ठाकुर करिहै याकी सेव ॥
वकसत आनँदनिधि भक्तन कों रसिकनि को सिरताज।
'राधाकृष्णदास' की स्वामिनि गुननिधि प्रेम-जहाज ॥

[७]

हम सम और न कोऊ पापी।
बाहर सजि सतन के बाने रहे साक हम थापी ॥
मन नहिं बस इंद्रिय नहिं काबू निसि दिन विषय बिलासी।
परम भक्त बनि मधुर वाक्य कहि करत घात विश्वासी ॥
घोरहु तें अति घोर पाप जो सुनि रोमांचित होय।
सो हम करत विषय रस लुबधे सुकृति सबै निज खोय ॥
करि पछतात करत फिर सोई पुनि आपही लजात।
हाय न तउ त्यागत निज बानहिं फिरि फिरि गोता खात ॥

दीनानाथ दयाल कृपानिधि मम करनी को देखि।
फिरि फिरि छमत बिवेक देत फिरि आपु बिरद दिसि पेखि ॥
रोकि अधोगति प्राणनाथ अब दृढ़ता दीजै चित्त।
'राधाकृष्णदास' सखा की लज्जा राखौ नित्त ॥

[८]

आजु रसरंग रह्यो सरसाय।
जमुना तीर झुकीं द्रुमबेली राजत दोउ हरखाय ॥
परम एकांत कांत रस-भीनी रहि लाली उर लाय।
प्रिया-प्रेम-आसव छकि लालन अरुझे सुधि बिसराय ॥
छाई घटा छटा अति शोभित मेघ मंद घहराय।
नाचत मोर रोर दादुर पिक छबि अनुपम रहि छाय ॥
झीनी बूँदें परन लगीं सहँ उठत न दोउ रस माते।
ज्यों तन भीजै त्यों मन भीजत रस बस उर लपटाते ॥
सुरँग चूनरी ओट श्याम करि प्यारी पीय बचावै।
प्रीतम पीत उपरना लेकै चूनरि ऊपर नावै ॥
लहरिदार चूनरि पीतांबर भींजि बदन लपटानो।
अद्भुत लहर रूप की उपजत लालनि मन ललचानो ॥
मउर श्याम मिलि एक रंग भयो भेद न कछू लखावै।
चूनरि रंग ढपनि तन छायो अति सोभा उफनावै ॥
मानौं भिरे प्रेम-रन सूरे नेकहुँ टरत न टारे।
नैन घाय घायल करि डारे छूटत सुरँग फुहारे ॥
यह सोभा कछु देखन ही की कहत न आवै बानी।
मम हिय बसौ 'दास' यह मूरति भींजि सरस रस सानी ॥

[९]

मोहन मोहिनि की जोरी।
परम अलौकिक रूप रसिकवर केलि-कलारस बोरी ॥

अनुपम हास बिलास प्रेममय नवल दिनन की थोरी।
'राधाकृष्णदास' की स्वामिनि परम चतुर पै भोरी ॥

[१०]

झूलत दोउ जन रंग भरे।
भीर भई लोभी भँवरन की टारत नाहिं टरे ॥
जुरि आईं ब्रजनारी सगरी लोचन देख सिरावें।
पसु पछी सब प्रेमबिबस भये ब्याकुल इत उत धावैं ॥
सोर मच्यो अकास में चहुँ दिसि बिज्जु दिया दिखरावैं।
सुर बाला सब तरसि तरसि कै नैना नीर बहावैं ॥
पछीगन बैठे तरुवर पर मीठे सुर सो बोलैं।
मानहुँ आनंदित ह्वै ह्वै यँ प्रेम गाँठ की खोलैं ॥
प्यारी गावत मीठे सुर सो सुनि कोकिल जिय लाजैं।
बीन, सितार बजावत सखिजन बिच बिच मुरली बाजैं ॥
झोटा देत सखी जन इत उत पट अंबर फहराई।
त्रिभुवन की सोभा या छवि पै वारि 'दास' बलि जाई ॥

[११]

फूलि रह्यो सगरो बन सजनी गुंजत भँवर बढ्यो आनंद।
बहि रहीं जमुना बीच द्रुमन के सीरी पवन चलत अति मंद ॥
कोकिल गावत केलि करत मृग नाचत मोर रसीली चाल।
हिलत पत्र द्रुम बेलि मनोहर गगन कहूँ ह्वै रह्यो लाल ॥
पछीगन कलरोर करत तहँ गह्वर कुंज सुहाने।
मालति लता झूमि रहीं फूलीं मैं जु गइ तहँ न्हाने ॥
धरि कै बसन घाट पै जब मैं उतरी जमुना माहिं सखी री।
तब इक निकसि अचानक आयो मुरि कै मो तन नगर सखी री ॥
मैं सकुचाय पैठि गइ जल में वह इकटक मोहि रह्यो निहारि।
बेलि कै बाकी लोलो चितवन तन मन सबहि रही मैं हारि ॥

प्रेम दिबस कछु सुरत रही ना जकि रहि जमुना माहिं ।
व्याकुल होइ धाइ यह आयो जियो मोहिं कसि दोउ भुज पाहिं ।।
मैं सकुची पै करि न सकी कछु जीत्यो छैल हार भई मेरी ।
जो मन भायो सोइ सब कीनो भई हाय मोहिं लाज घनेरी ।।
घर आवत कछु बिलँब होइ यह सुन्यो जु सास ननँद को तानो ।
गरि रहि चितवन हिय में मेरे चाहत भूलन नाहिं भुलानो ।।
होइ मिलाव कौन बिधि सजनी कैसे निरखन छिन छिन पाऊँ।
कैसे पिय प्यारे को निज हिय राखि आपुनी तपन बुझाऊँ ।।
'दास' तोरि कै लाज-कपाटहि, चली पुलकि पिय तीर ।
जाइ मिली घन में दामिनि ज्यों मेटि सकल हिय पीर ।।

[१२]

तुम मेरे प्रानन हूँ ते प्यारे ।
नेकु टरत नहिं इन नैनन सों हे ब्रजराज दुलारे ।।
थाप थक्यो सिर धौटि मींजि कर भाइ बंधु सब हारे ।
माय थकी बकि पिय प्यारे तुम कैसहु टरत न टारे ।।
जानि गयो सब ब्रज अब प्रीतिहिं खुलि गये हीयकबारे ।
'दास' मिली तिय धाइ लाल सो छिनहूँ रही न सम्हारे ।।

[१३]

जो पै ऐसिहि करनी होय ।
तौ किन बेग उठावत जग सों दुखद दुसगति खोय ।।
जिन ओछे जन मुख अवलोकत हृदय घृणित अति होय ।
बिना दोस तिन वाक्य-बान सो रहत बिद्ध हिय रोय ।।
जिन के हित जग त्रास सहत निज जनम गँवावत हाय ।
वेऊ रहत उदास दुखित ह्वै हा अदृष्ट बलि जाय ।।
ज्यों ज्यों इन सों करत भलाई दबि कै रहत मुदाम ।
त्यों त्यों चढ़त सीस पै नाहक बढ़ि बढ़ि करत कलाम ।।

प्राणनाथ तुव विरह अलौकिक सुख लूटन सों छूटि ।
व्यर्थ दिवस सब हाय बितावत जग झझट सिर कूटि ॥
नहिं धन नहिं पौरुष नहिं साहस फँसे हाय बेतौर ।
रहत मसूसि करत न बनत कछु कहुँ दिखात नहिं ठौर ॥
यह मानुष तन यह सुंदर कुल यह चित की उरझान ।
जान चहत सब हाय व्यर्थ ही एहो दयानिधान ॥
लौकिक विषय सदा दुख पावत तुव जन ससय नाहिं ।
पै क्यो नसत अलौकिक ताहू जग मलीनता माहिं ॥
प्यारे प्राननाथ प्रीतम अब फिरै कृपा की कोर ।
मम हिय फहरत रहै सदा यह पीतांबर की छोर ॥
ये जग के दुख सुख सब आवैं जायें न बाधक होय ।
बिनु अपराध शत्रुता वारे रहें मसूसनि रोय ॥
तुव पद कमल त्यागि मन मेरो कहूँ न इत उत जाय ।
नाम सु 'राधाकृष्णदास' को सार्थकता लहि पाय ॥

[१४]

सखी हौं गई नद के आज ।
हटरी मांझ बिराजे मोहन लुटत सबै सुख साज ॥
सुदर श्याम कमल दल लोचन देखन चित्त लुभाई ।
पै गुरुजन के लाजन आगे जिय भरि देख न पाई ॥
तब इक जुक्ति विचारि आरसी में पिय रूप लख्यो री ।
रूप-सुधा की प्यासी जिय भरि नैननि खूब चख्यो री ॥
इतने ही में भईं चार आँखैं आरसि में आली ।
'दास' हाय मन लियो छीनि मम मुसकि ठगौरी डाली ॥

[१५]

प्राणनाथ पिय प्यारे मोहन का कहि तुम्हैं बुझाऊँ ।
फँस्यो जात नित नित भव-कीचड कैसे नाथ बचाऊँ ॥

कबहूँ न भीजत हिय पिय-रस में कैसे ताहि भिजाऊँ।
नाथ हाय! कैसे बिरहागिन हिरदय में सुलगाऊँ॥
नेकहु ध्यान शुद्ध मन ह्वै कै तुमरो करन न पाऊँ।
विषय वासना लिप्त सदा ही बालू भीत बनाऊँ॥
जो कहुँ कबौ हिये में आवो तौ हौं तुरत भगाऊँ।
हाय, कबहुँ नहिं जिय भरि प्यारे तुम्हरो ध्यान लगाऊँ॥
जो कबहूँ मन तुव पद सोचैं तौ सोचन नहिं पाऊँ।
विघ्न अनेक आइ सनमुख ह्वै सब ही तुरत भुलाऊँ॥
नाथ, नहीं पुरुषारथ हम में हठ करि नेह निबाहूँ।
'राधाकृष्णदास' अपुनाइय कछु तौ तपनि जुड़ाऊँ॥

बरवै

ए हो मीत पियरवा परम सुजान।
मेरी हू सुधि लीजै तलफत आन॥
तुम तो रसिक-सिरोमनि सब गुन खान।
हिरदय कठिन कठोरवा केहि हित ठान॥
प्रीतम प्यारे मितवा तुम बिनु हाय।
इक छन रहत न घिरवा हिय लहराय॥
सब अँग अतिसय कोमल दयानिधान।
मो हित हृदय कठोरवा काहे ठान॥

घनाक्षरी

[१]

मैं तो पिय प्यारे ही के रंगन रँगीली सदा,
मोसों जिन भाखो ऐसी बातें दुखदाइनी।

औगुन हू वाके मोहिं गुन ही से दीसत हैं,
प्यारे की रहनि मोहिं जियतें सुहाइनो ॥
प्यारे जू की प्यारी सोई मेरी प्यारी आली सुनि,
तासों बढ़ि नाहीं कोऊ मेरो हितकारिनी ।
ऐरी हटि दूर होइ निंदै जिनि ताको बलि,
जाको लहि भागन सों भई हौं में सुहागिनी ॥

[२]

करत अनीति ब्रज मंडल इतरात फिरौ,
तासो कसक सब अबसि निकारेंगी ।
होइ निरदई दई आंजि कै कमल नैन,
मींडि मुख कोमल गुलाल मूठ मारेंगी ॥
यह हू हठीली तुम सदा ही खिझावो ताहि,
'दास' पाइ औसर न आजु वह हारेंगी ।
हा हा प्राणनाथ कहूँ बाहर न जैये बलि,
देखत ही लाल तुम्हें लाल करि डारेंगी ॥

[३]

जनम लियो है ब्रज प्रेम-सुधा सागर सो,
बापुरो मयंक प्रगट्यो है जल खारी को ।
घटत बढत तेजहीन तेजमान होत,
बाढ़ै दिन दूनो तेज कीरति कुमारी को ॥
वह सकलंक 'दास' दुखद चकोर यह,
मेटत कलंक भव पोषत बिहारी को ।
घन में छिपत यह घनश्याम संग सदा,
मंद करै चंदहि अमंद मुख प्यारी को ॥

कुंडलिया[1]

[१]

अहो पथिक कहियो इतो, गिरधारी सो टेर।
दृग झर लाई राधिका, अब बूड़त बन फेर ॥
अब बूड़त बन फेर, पियारे तुम देखे बिन।
बरसत ही ये रहें, थमत नाहिन एकहु छिन ॥
लग्यो रहै यह तार घोर घन निसि दिन बरसहि।
क्यों बचिहैं अब देस जाइ कै अहो पथिक कहि ॥

[२]

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झांई परे, श्याम हरित दुति होय ॥
श्याम हरित दुति होय, परे जा तन की आभा।
जा को सुमिरन मात्र अहै या जग में लाभा ॥
जा के होत प्रसन्न लगत तनिकहुँ नहिं देरी।
सोइ श्री राधा 'दास', हरौ बाधा सब मेरी ॥

[३]

मोर मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल ॥
सदा बिहारीलाल बसौ हिरदै में मेरे।
सदा तिहारो ध्यान रहै चहुँ दिसि सों घेरे ॥
'दास' चरन में भक्ति रहै सब देवन सों हटि।
देखत ही नित रहौं, सुसज्जित मोर मुकुट कटि ॥

---

[1] ये कुंडलियाँ बिहारी के दोहों पर रची गई हैं।

[४]

अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठ पट जोत।
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्र धनुष सी होत॥
इंद्र धनुष सी होत पीय पै अधर सुधारस।
खुलत औरहू रंग बजावत प्यारे हँसि हँस॥
एकटक देखत रहौं एक हूँ छन नाहिन टरि।
'दास' रँगीली बेनुहि जेहि छिन अधर धरत हरि॥

[५-६]

किती न गोकुल कुलवधू, काहि न केहि सिख दीन।
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन॥
ह्वै मुरली सुर लीन धाइ बन बीथिन भटकीं।
छांडि वेद की रीति लोक मरजादहि पटकीं॥
तजि गुरुजन की त्रास 'दास' उपहास औंर कुल।
लपटीं स्याम तमाल जाइ तिय किती न गोकुल॥

ह्वै मुरली सुर लीन खिंचि गई बिवस आपु ह्वै।
चुबक सी आकरसित भई मनु सुधि बुधि सब ह्वै॥
नाहिं रुकीं कहुँ उमगि चलीं मनु तोरि दुहूँ कुल।
नागर सागर जाइ मिलीं तिय किती न गोकुल॥

सवैया

[१]

कुल कानि गँवाइ बहाइ कै लाज
प्यारे तिहारी प्रतीति करी।
जगसीस दै पाँव चवाव सुन्यो
नहि काहु की नेकहु भीति करी॥

रुख देखत ही सब धोस गयो
सुधि हाय कवौं नहिं मीति करी ।
हम हीं यह लाल अनीति करी
तुमसों बिनु जाने जो प्रीति करी ।।

[२]

हम चेरी ह्वै तेरी रहेंगी सदा
बलि नेकहि लाइ मिलाओ तिन्हें ।
करिकै बहु चाह उपाय अनेक
सुप्रेम भरे पिय भेंटें जिन्हें ।।
हिय लाइ कै चूमौं कपोलन कौं
जिन पै पिय चुम्बन राजैं चिन्हें ।
पिय सगम को सुख लूटि सखी
बड भागिनि होऊँगी देखि उन्हें ।।

सोरठा

प्रान-पतग अकास, जाइ जाइ फिरि आवई ।
पिया-मिलन की आस, डोरी जान न देइ उडि ।।

दोहा

चौथ चद देख्यो सखी, मो जिय अति आनद ।
यह कलक लगिहैं कहा, हम प्रेमी ब्रजचद ।।
अहौ कलकिन सदा की, निरखत मुख ब्रजचद ।
हमें कहा डरपावहो, अरे चौथ के चद ।।

स्वर्गीय 'रियाज़' ख़ैराबादी

[लेखक—श्रीयुत इक़बाल वर्मा, 'सेहर']

'रियाज' अरबी शब्द और 'रौजा' का बहुवचन है। 'रौज़ा' कहते हैं 'बाग' को। इस बात को देखते हुए सैयद रियाज अहमद 'रियाज' खैराबादी ने, जिन का ३० जुलाई सन् १९३४ ई० को लगभग ८० वर्ष की आयु मे स्वर्गवास हो चुका है, अपना उपनाम अपने काम के उपयुक्त ही रक्खा था। उन के कलाम की उपमा किसी हरे-भरे बाग से दी जा सकती है। उस में सौंदर्य और मादकता का अपूर्व सम्मिश्रण हुआ है। उन के सौंदर्य का सबध प्रेमिका से है और उन की मादकता का मदिरा से। आप चाहे कही-कही अपनी मर्जी से उन का लगाव परलोक से समझ लीजिए पर असल में उन का प्रयोग लौकिक रीति पर ही हुआ है। वह पहले 'असीर' और फिर 'अमीर मीनाई' के शागिर्द हुए। दोनो लखनऊ के मशहूर उस्ताद थे। दोनो की शायरी लखनऊ की शायरी थी, जो परिस्थितियो के देखते भले ही ठीक कही जा सके, पर अब तो बहुत कुछ बदनाम ही हो रही है। उस्तादो की रविश पर चलना शागिर्द का भी फर्ज था। 'रियाज' भी अधिकतर उन्नीसवी शताब्दी के उर्दू कवि थे, तत्कालीन परिस्थितियो से बच कर कैसे रह सकते थे? अत उन के कलाम में भी यदि नैतिकता या आध्यात्मिकता है, तो उतनी ही कम-कम जितनी उन के गुरुओ या अन्य तत्कालीन प्रसिद्ध उर्दू कवियो की कृतियो में पाई जाती है। पर इस में सदेह नही कि 'रियाज' ने अपने विचारो को खूब सजा कर अधिक रोचक रूप में पेश किया है। उन्हे अपने समकालीनो से "ख़ैयामुलहिंद" या हिंद के खैयाम की उपाधि मिली थी। उन के उस्ताद 'अमीर मीनाई' और 'दाग' देहलवी—ये दोनो समकालीन सुप्रसिद्ध उर्दू कवि पारस्परिक तुलना के विषय बन चुके है। 'रियाज' कहते तो यही थे कि "मेरे कलाम को तो उस हर्फ का दर्जा भी हासिल नही जो 'दाग़' के कलम से सहवन निकल गया हो, फिर उन का मुकाबिल या हमसर (बराबर) होना तो बडी बात है', पर सच पूछिए तो वह साधारणत 'दाग' की बराबरी वाले शायर जरूर थे

और विशेषत शराब के कीर्तिगान में तो 'दाग' क्या, उर्दू का कोई भी शायर उन के सामने नहीं ठहर सकता।

हूं 'रियाज़' इक जवाने-मस्ते-खिराम[1] ।
न पिये और झूमता जाये ।

—यह मस्ती और झूमने वाली बात उन के काव्य और तज्जनित प्रभाव की दृष्टि से पूर्णत चरितार्थ होती है।

'रियाज़' खैराबादी १२७३ हिजरी (लगभग १८५६ ई०) में पैदा हुए। उन के पिता सैयद तुर्फैल अहमद खैराबाद के रईस और बड़े विद्वान थे। वह सन् १८७० ई० के लगभग गोरखपुर में पहले तहसीलदार और फिर पुलीस के कोर्ट इस्पेक्टर भी रहे थे। 'रियाज़' ने शुरू-शुरू में खैराबाद के अरबी स्कूल में तालीम पाई थी। फारसी अपने पिता से पढ़ी थी और अरबी हकीम फैयाज़ हुसेन रईस खैराबाद से, जो 'रियाज़' के महल्ले में ही रहते थे। अभी पढ़ाई समाप्त न हुई थी और उम्र के १८ साल भी पूरे न हुए थे कि नौजवान शायर के दिल पर शेर-सखुन के शौक ने अपना रग जमाना शुरू कर दिया। खैराबाद से सीतापुर तक मुशायरो का ज़ोर-शोर हुआ और 'रियाज़' की उमग-भरी तबीअत अपना जौहर दिखाने लगी। जब वह अपने पिता के पास गोरखपुर रहते तो वहाँ भी दिन-रात शेर-शायरी की चर्चा और मुशायरो की शिरकत रहती। इन इल्मी सुहबतो का नतीजा यह हुआ कि 'रियाज़' की महारत तेज़ी से बढती गई और शनै शनै उन के कलाम में उस्तादाना रग झलकने लगा। उन की शिरकत का आखिरी मुशायरा वह था जिसे स्वर्गीय निज़ाम मीर महबूब अली खाँ ने उन्ही के सम्मान में अपने महल में किया था। स्वर्गीय स्वय भी अच्छे कवि थे और अच्छे कवियो का आदर-सत्कार करना भी खूब जानते थे।

'रियाज़' ने सन् १२९६ हि० (सन् १८७८ ई० के लगभग) में खैराबाद ही में एक प्रेस कायम कर 'गुलकदा' नामी मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारभ किया, जिस के एक भाग में सुप्रसिद्ध उर्दू कवियो के 'दीवानो' (काव्य-सग्रहो) का इतखाब (चुना कलाम) और दूसरे भाग में 'अमीर', 'दाग़', 'जलाल' जैसे ख्यातनामा उर्दू कवियो की

---

[1] चाल में मस्त।

समस्यापूर्ति-सबधी गजलो का प्रकाशन होता था। उस समय 'गुलदस्ता' अपने रंग में डूबा था। इस के बाद ही 'रियाजुल अखबार' भी निकला जो साप्ताहिक होते हुए भी अधिकतर साहित्यिक था। फिर खैराबाद से ठीक न चलने के कारण उस का प्रकाशन लखनऊ से होने लगा। जब 'रियाज़' सन् १८८० या १८८१ ई० में स्वयं सरकारी मुलाजिम हो कर गोरखपुर में, पहले पुलीस-सब-इस्पेक्टर और फिर पुलीस-सुपरिटेंडेंट के पेशकार हो गए तब कुछ अर्सो बाद यानी सन् १८८३ ई० में उन का अखबार भी गोरखपुर लाया गया। यही से उन्हो ने 'फितना' और 'इत्रे-फितना' नामी गद्य और पद्य की पत्रिकायें भी प्रकाशित की। इन के अतिरिक्त उन्हो ने 'गुलदस्ते-नुक्ल' और 'गुलचीं' नामी पत्र तथा पत्रिका का भी संपादन किया था। अपने पत्रो में लिखते रहने के अलावा अन्य पत्रो के लिए भी लिखते थे, जिन में लखनऊ का 'अवध-पंच' प्रमुख था। उन्हो ने अपनी ही निगरानी में रेनाल्ड्स के 'लब्ज़ अव दि हैरेम', 'ब्राज़ स्टेच्यू' और 'एलेन पर्सी' नामी नावेलो के उर्दू तर्जुमे भी कराए जो बड़े रोचक थे। इन सब बातो से विदित होगा कि वह कुशल कवि तो थे ही, पर साथ ही कुशल पत्रकार और लेखक भी थे। फिर उन की दृष्टि में अपनी कलाओ का मूल्य कितना अधिक था, इस के अदाजे के लिए यही कहना काफी होगा कि अखबार ही के कारण हाकिमो से रंजिश हो जाने पर उन्हो ने अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया था।

'रियाजुल अखबार' में सामाजिक और राजनीतिक विषयो की चर्चा भी होती थी। सन् १८९६ ई० में तो लोग 'हड़ताल' का नाम भी न जानते थे। गोरखपुर के तत्कालीन कलेक्टर वहाँ के म्यूनिसिपल-चेयरमैन भी थे जिन की मंशा से किसी कब्रस्तान को बद कर के दूसरा बनाया गया था और कोई मसजिद भी बावर्चीखाने में तबदील कर दी गई थी। कुछ महकूले-जग चढ़ाने की भी बात थी। 'रियाजुल अखबार' ने इन सभी बातो के विरोध में बड़ी सरगर्मी दिखाई। हड़ताल भी बड़ी जबरदस्त थी। आखिर प्रांत के तत्कालीन लफ्टंट-गवर्नर सर ऐंटनी मैकडानेल की कृपा से सभी शिकायतें दूर हो गई। उसी समय अखबार के 'शरारती' नामी एडीटर को हाकिमो के खिलाफ कुछ सख्त लिखने पर जेल भी जाना पड़ा था। यद्यपि 'रियाज़' ने वैसा न लिखने की हिदायत कर दी थी।

'रियाजुल अखबार' बड़े प्रभाव एव महत्व का पत्र था जिस का, और जिस के

नाते उस के सचालक 'रियाज' का, सभी आदर करते थे। इस प्रकार वह राजा तथा प्रजा का शिक्षक एव सुधारक बन कर लगभग १६–१७ साल तक गोरखपुर से बडी सफलता के साथ निकलता रहा। फिर लखनऊ लाया गया। उस समय 'रियाज' की आयु लगभग ५० वर्ष थी।

'रियाज' थो जो नसीबों में याज़गश्ते-शबाब,[1]
जवान होने को पीरी[2] में लखनऊ आए।

'रियाज' को लखनऊ के सरस वातावरण ने भले ही जवान बना दिया हो पर बेचारे अखबार को तो उठती जवानी में ही बुढ़ापे के दिन देखने पडे। बडा घाटा हुआ। पर उस से भी बडा घाटा यह हुआ कि जब 'रियाज' लखनऊ आने के लिए खैराबाद उतरे तो चार गज कोरी मारकीन में बँधा हुआ एक बहुत बडा बडल रेल ही पर रह गया। इस में लगभग २० हजार के बक़ाया और मुतालबा (पावना) का हिसाब, 'अमीर', 'दाग़', 'जलाल' आदि के रक्षणीय पत्र, 'रियाज' के दो पूरे 'दीवान' और मसविदे आदि कितने ही अमूल्य कागज़ात थे। बडल की खोज सीतापुर से ले कर कासगज तक हुई पर कुछ पता न चला और इस तरह 'रियाज' की सारी उम्र की कमाई नष्ट ही गई। उस समय तक उन का जो कलाम पत्र-पत्रिकाओ में छप चुका था वही बच रहा।

वह अपने जादू-भरे कलाम की बदौलत न केवल हैदराबाद के निज़ाम द्वारा सम्मानित हुए थे बल्कि रामपुर के नवाब कल्बअलीखाँ ने भी अपने यहाँ बुला कर इनआम-इकराम द्वारा उन का समुचित सम्मान किया था। वह स्वय अपने कलाम को क्या-कुछ समझते थे, इस का अनुमान एक घटना से हो सकेगा। कोई बडे रईस[3] उन का 'दीवान' छपा देने को तैयार थे, मगर इस शर्त पर कि कुछ 'बाज़ारू' पद उस से निकाल दिए जायँ। 'रियाज' राजी न हुए और यह कहते हुए उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि 'वैसे प्रत्येक पद का मूल्य मेरी दृष्टि में उन की सारी रियासत के मूल्य से अधिक है।' वह अपने आखिरी दिनो तक अपना 'दीवान' छपाने के लिए चिंतित रहे, पर स्वाभिमानी

---

[1] जवानी की वापसी। [2] बुढ़ापे।

[3] मेरे पूछने पर रियाज़ ने लिखा था कि रईस का नाम फिर बतलाऊँगा पर इस बीच में 'रियाज़' का देहात ही हो गया।

कवि ने काट-छाँट कर छपाने की अपेक्षा उस का न छपाना ही बेहतर समझा। अभी कुछ महीने हुए उन्हो ने मुझे लिखा था कि "खान बहादुर मुहम्मद इस्माईल[1] का आग्रह है कि उन का 'दीवान' गोरखपुर को ही प्रकाशित करना चाहिए अतः इस काम के लिए वही उन की अध्यक्षता में एक कमेटी भी बन गई है, जिस के पास 'दीवान' का पूरा मसविदा भी भेज दिया गया है। अब मेरी सेहत ने इजाज़त दी तो जल्द ही छपेगा।" अफसोस कि मौत के बेदर्द हाथो ने उन की जिंदगी में उन की यह साध न पूरी होने दी।[2]

निस्सदेह उन के दीवान का छापना गोरखपुर के लिए गौरव की बात होगी। गोरखपुर से 'रियाज़' का बडा घनिष्ट सबध रहा—इतना कि बहुधा 'रियाज़-गोरखपुरी' कहे जाते है। वह एक प्रकार सन् १८७० ई० से सन् १९०९ ई० तक गोरखपुर में ही रहे। वही मकान भी बनवाया। वही उन की शायरी भी चमकी और वही उन्हो ने अपने अखबार द्वारा सार्वजनिक सेवायें भी की। सक्षेप में उन के जीवन की बहार वही बीती। फरमाते है —

हुई है मेरी जवानी फिदाय-गोरखपूर,
लहद[3] से आएगी आवाज़ 'हाय गोरखपूर'।
हम अपने खूने-तमन्ना[4] से सींच आए हैं,
हसीं लगायें मँगा कर हिनाय[5]-गोरखपूर।

निम्न पदो से प्रगट है कि उन्हो ने अपने उस प्रिय स्थान को बडी मजबूरी की दशा में ही छोडा होगा—

सितम है आदमी के वास्ते मजबूर हो जाना,
जमीं का सख्त हो जाना फलक[6] का दूर हो जाना।
'रियाज़' इस शहर से अब क्या करें हम कस्द जाने का,
नसीबो में लिखा है खाके-गोरखपूर हो जाना।

---

[1] अब प्रयाग-हाईकोर्ट के सरकारी एडवोकेट।
[2] मु० रघुपतिसहाय 'फिराक' गोरखपुरी ने 'रियाज़' का एक छोटा काव्यसग्रह छपा भी दिया है, जिसे छपे कई वर्ष हो गए।
[3] कब्र। [4] कामना रक्त। [5] मेहँदी। [6] आसमान।

पर वहाँ न रहते हुए भी वह गोरखपुर को याद न भूले थे—

'रियाज़' अहबाबे[1]-गोरखपूर अकसर याद आते हैं,
ज़बां पर मेरी अक्सर ज़िक्रे-गोरखपूर रहता है।

फिर उन का प्रेम स्मरण तक ही परिमित न था। वह अवसर खैराबाद से वहाँ जाते भी रहते थे —

'रियाज़' इस तरह आ जाता है दो दिन को शबाब,[2]
दाग़े-कुहना[3] ताज़ा कर आते हैं गोरखपूर से।

कवि शोक में हर्ष मानता है। वहाँ जा कर उस के दिल का स्मृति-रूपी दाग़ उभरे बिना नहीं रहता, पर वह उसी उभार में अपनी गई हुई जवानी की एक बुझी सी चमक देख कर निहाल हो जाता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि 'रियाज़ुल अख़बार' राजनीतिक चर्चा से शून्य न था, पर 'रियाज़' की कविताओं में तो वैसी चर्चा का प्राय अभाव ही होता था। हाँ, कभी किसी ग़ज़ल के सिलसिले में वैसे २–४ पद निकल भी गए तो वे बड़े मार्के के होते थे। उदाहरणार्थ जब गत महासमर में टर्की हार चुका था और खिलाफ़्ती गुत्थी सुलझाने के लिए हिंदू-मुस्लिम ऐक्य को लेते हुए महात्मा गाधी का आदोलन ज़ोरों से चल रहा था तो 'रियाज़' ने अपनी एक ग़ज़ल में ये दो पद कह डाले थे —

अब मर्द बनी है क़ौम अपनी, लौंडी से ग़ुलाम हो गई है।
मक्का-मसजिद[4] में शोरे-नाक़ूस,[5] आवाज़े-इमाम हो गई है।

प्रथम पद में कितना व्यंग, कितनी यथार्थता और कितनी रोचकता है, और द्वितीय पद में हिंदू-मुस्लिम ऐक्य को चरितार्थ करने के लिए मसजिद के इमाम की आवाज़ को ही शखनाद बना दिया गया है। 'रियाज़' की सूझ-बूझ अनोखी ही है। उस का परिचय ग़ज़ल के अन्य पदों मे भी मिलता है पर अन्य रीति पर। देखिए —

---

[1] मित्रगण। [2] जवानी। [3] पुराना दाग़। [4] हैदराबाद-दक्खिन की एक मशहूर मसजिद। [5] शखनाद।

जिस दिन से हराम हो गई है,
मै[1] खुल्द मुक़ाम[2] हो गई है।
क़ाबू में है उन के वस्ल[3] का दिन,
जब आए हैं शाम हो गई है।
तौबा[4] से हमारी बोतल अच्छी,
जब टूटी है जाम[5] हो गई है।

प्रथम पद—इस्लाम में शराब हराम है पर इस्लामी स्वर्ग म तो उस की नहरें बहती है। कवि कहता है कि यहां हराम होने से ही वह स्वर्ग म बस गई है—जमीन से आसमान पर जा पहुँची है!

द्वितीय पद—प्रेमिका के आगमन में ही करामात है। उस के आते ही शाम हो जाती है!

तृतीय पद मे कुशल कवि अपनी ही पसद की चीज को बेहतर साबित करना चाहता है। कहता है 'तौबा' तो टूट कर किसी काम की नही रहती पर शराब की बोतल तो बोतल न रह कर भी शराब का प्याला बन जाती है!

राजनीति के बारे में 'रियाज' की गजल के जो पद पहले दिए गए है उन से यह न समझ लेना चाहिए कि उन की स्वतत्र राजनीतिक कविता भी वैसे ही मार्के की हो सकती थी। *'रियाज' की विशेषता तो गजल में ही थी। हाँ, यदि उन्हो ने एक-आध* खालिस राजनीतिक कविता लिखी भी, तो उन की साधारण शैली का अपवाद होते हुए वह शिथिल ही पड गई। एक सादगी तो बराबर कायम रही।

अब हम कुछ गजलो के चुने हुए पद दे कर 'रियाज' को उस रग में पेश करते हैं जो उन का अपना है और जो पुराने कवियो का सा होते हुए भी अपनी बहार में निराला है —

---

[1] शराब। [2] स्वर्गस्थ। [3] मिलन। [4] पाप पर पछतावा के साथ पाप न करने का इक़रार। [5] प्याला।

मेरी फरियाद का क्या ख़ाक असर हो उन पर,
बुत[1] तो पत्थर है नहीं सुनते है पत्थर फ़रियाद।
चैन से कोई नहीं अह्दे-सितम[2] में तेरे,
क्या ज़माना है कि दिन रात है घर घर फरियाद।
वह खुला दश्त[3] हो या बद क़फ़स[4] एक है सब,
चहचहे बाग़ में है बाग़ से बाहर फरियाद।

कैसे खिले और बोलते हुए शेर है! सचाई में भी काव्य-कल्पना अपनी छटा दिखा रही है। आप इन शेरो का मतलब चाहे जिस प्रकार समझ लें, आप को कवि के उस कलाम की दाद ही देनी पड़ेगी जो उस की गजलों की विशेषता है। प्रथम पद के द्वितीय दल में 'बुत' और 'पत्थर' के प्रयोग ने कैसा चमत्कार पैदा कर दिया है!

बहार[5] नाम की है काम की बहार नहीं,
कि दस्ते-शौक[6] किसी के गले का हार नहीं।
जो आज वस्ल[7] में इस तरह चूसे जाते हैं,
इन्हीं लबो से सुनी है हजार बार 'नहीं'।
इधर है बेख़ुदिए[8]-शौक उधर है नश्ये-हुस्न,[9]
शबे-विसाल[10] है और कोई होशियार नहीं।
सहर[11] भी होती है चलते है ए अजल[12] हम भी,
अब उन के आने का हम को भी इंतजार नहीं।
रहेगी याद उन्हें भी मुझे भी वस्ल की रात,
कि उन सा शोख़[13] नहीं मुझ सा बेक़रार नहीं।
हिना[14] लगा के पहुँचते है गुलरुखों[15] में 'रियाज़',
कुछ इन की रीशे[16]-मुबारक का एतबार नहीं।

[1] मूर्ति, प्रेमिका। [2] अत्याचार-पूर्ण युग। [3] जंगल। [4] पिंजड़ा। [5] वसंत-ऋतु। [6] शौक भरा हाथ। [7] मिलन। [8] बेसुधी। [9] सौंदर्य-मद। [10] मिलन-रात्रि। [11] सवेरा। [12] मृत्यु। [13] चंचल। [14] मेहँदी। [15] पुष्प-मुखियों। [16] डाढ़ी।

प्रथम पद की काव्यकल्पना सराहनीय है। 'हार' न होने के कारण 'बहार' का काम की न हो कर केवल नाम की होना ठीक ही है। 'नाम की' और 'काम की' बड़े मौके के शब्द हैं। द्वितीय पद शृंगाररस में शराबोर है जिसे 'रियाज़' की विशेषता ही समझनी चाहिए। तृतीय पद में कवि ने मिलन-रात्रि की दशा का कैसा सरस एवं सजीव चित्र खींचा है। चतुर्थ पद से निराशा की एक अजीब कैफियत छा जाती है। पंचम पद में जो माशूक की शोखी है वही आशिक की बेकरारी है। कैसा सुंदर साम्य है! अंतिम पद में 'हिना' और 'गुल' (गुलाब) एक-दूसरे के उपयुक्त हैं। पद 'रियाज़' की ज़िदादिली का नमूना है। बड़ी मशहूर ग़ज़ल है। सारल्य, प्रवाह और शब्द-विन्यास ने एक संगीत पैदा कर दिया है जो कविता की जान है।

बार[1] होता न दावे-वस्ल नज़ाकत[2] को तेरी,
लब[3] मेरा मिस्ले-तबस्सुम[4] तेरे लब पर होता।
ज़िंदगी आठ पहर लुत्फ़ से कटती क़ातिल,
साँस की तरह रवाँ सीने में ख़ंजर होता।

प्रथम पद में कवि ने मिस्ले-तबस्सुम का प्रयोग कर पद में विचित्र कोमलता एवं सुंदरता भर दी है। इसे शृंगारी काव्य-कल्पना की अंतिम उड़ान समझनी चाहिए जिस ने पद की अश्लीलता को एक दम दबा दिया है।

द्वितीय पद में ज़ुल्मी माशूक की छुरी का ज़ुल्म-पसंद आशिक के सीने में साँस बन कर चलना और वैसी साँस से आशिक की ज़िंदगी का सुख से कटना—बड़ी ज़बर्दस्त उड़ान है।

मैं रहे मीना[5] रहे गर्दिश में पैमाना[6] रहे,
मेरे साक़ी तू रहे आबाद मैख़ाना[7] रहे।
गोरे हाथों में बने चूड़ी ख़ते-साग़र[8] का अक्स,
इस अदा से हाथ में नाज़ुक सा पैमाना रहे।

---

[1] बोझ। [2] कोमलता। [3] ओठ। [4] मुसकान-सदृश। [5] शराब का शीशा। [6] प्याला। [7] कलवारी। [8] प्याले की लकीर।

कम से कम इतना असर हो जो सुने आ जाय नींद,
बेकसों की मौत का दुनिया में अफ़साना[1] रहे।
हश्र[2] है तुम शर्म के पुतले न बन जाना कहीं,
चाल अठलाती हुई अन्दाज़ मस्ताना रहे।
ज़िंदगी का लुत्फ़ है उड़ती रहे हर दम 'रियाज़',
मै हूँ शीशे की परी हो घर परीख़ाना रहे।

प्रथम पद में 'मीम' (म) की आवृत्ति ने संगीत सा उत्पन्न कर दिया है। पद में तद्विषयक सभी उमंगों और दावों को संक्षेप में रख दिया गया है जिस से चित्र में बड़ी सुंदर संपूर्णता आ गई है।

द्वितीय पद में प्रेमिका के बड़े नाज़ुक और ख़ूब गोरे हाथों में पहनाने के लिए प्यार की लकीर व वज़न से कैसी नाज़ुक चूड़ी तैयार की गई है। कितनी सूक्ष्म काव्य-कल्पना है। ऐसे ही पदों ने 'रियाज़' को शृंगारी काव्य-जगत का राजा बना दिया है।

तृतीय पद में कवि ने बड़ी बारीकी से अपना मतलब निकाला है। सुनते-सुनते नींद आ जाना असल में किसी असर का परिचायक नहीं, पर कहानी सुनने में नींद तो आती ही है। फिर दुनिया में किसी बात की कहानी चलना उस की प्रसिद्धि को प्रगट करता है। अतः कवि ने 'अफ़साना रहे' को श्लेषात्मक रीति पर प्रयुक्त कर 'बेकसों की मौत' की शोहरत चाहा है और इस तरह असर न होने में भी असर होना बतलाया है।

अंतिम पद 'रियाज़' की मदिरा संबंधी विशेषता ज़ाहिर करता है। 'शीशे की परी' से मस्ती का होना भी ठीक है और घर का 'परीख़ाना' बन जाना भी। लुत्फ़ के लिए दोनों का होना ज़रूरी है। इसी लिए शराब को शराब न कह कर 'शीशे की परी' कहा गया है।

ठोकरें खाके हमें दानये-अंगूर मिले,
हम यह समझे कि भरे साग़रे बिल्लूर मिले।

---

[1] कहानी। [2] क़यामत का दिन, जब इस्लामी मतानुसार मुर्दे ज़िंदा होंगे और ख़ुदा उन का इंसाफ़ करेगा।

कितने काबे मिले रस्ते में कई तूर[1] मिले,
इन मुकामात से हम को वह बहुत दूर मिले।
नश्शा है उन को जवानी का हमें नश्शये-मै,
हम उन्हें और वह नश्शे में हमें चूर मिले।
नाम जो पूछ हो उन्हें कहते हैं सब लोग 'रियाज़',
आज हम को वह बड़े शायरे-मशहूर मिले।

प्रथम पद में वही शराब वाली बात है। 'तीसरे फाके' का प्रयोग सब है। फिर तभी अंगूर के दानों को शराब-भरे बिल्लौरी प्याले समझ लेना कोई अजीब बात नहीं। शराब अंगूर से भी बनती है। उपमा में कवि का कमाल है। 'रियाज़' ने शराब की तारीफ में अपनी प्रतिभा से खूब काम लिया है जो उन के योग्य ही है।

द्वितीय पद में आध्यात्मिकता है। कवि कहता है कि खुदा न 'काबे' में है न 'तूर' में, बल्कि इन जैसे स्थानों से बहुत दूर है, जहाँ तक पहुँच पाना वैसा आसान नहीं। कहने में कितनी सादगी और रवानी है। 'कितने काबे' और 'कई तूर' से दूरी का अनुमान हो सकता है। अंतिम पद 'रियाज़' के लिए गर्वोक्ति सही, पर यों है बहुत ठीक।

इस नज़ाकत से महे-नौ[2] का नुमायाँ[3] होना,
चाहता है कोई नाज़ुक सा गरेबाँ होना।
मुझ को आँखों ने दिखाया है पलक झपकाते,
खुश्क हो कर किसी दरिया का बेयाबाँ[4] होना।
यादे-गेसूय-दराज़[5] और तेरी उम्र दराज,
अब बहुत दूर है सुबहे-शबे-हिजराँ[6] होना।
क्या ज़माना है कि दुशवार नज़र आता है,
लाख दो लाख में भी साहेबे-ईमाँ[7] होना।
वज़ा[8] रिंदाना[9] रहे रीश[10] रहे साफ 'रियाज़',
खौफ की चीज़ है इस वक्त मुसलमाँ होना।

---

[1] वह पहाड़ जिस पर पैग़म्बर मूसा को खुदा की रोशनी दिखाई दी थी। [2] नया चांद। [3] प्रगट। [4] जंगल। [5] लंबे बालों की याद। [6] वियोग-रात्रि की सुबह। [7] ईमानदार। [8] चाल ढाल। [9] ग़ैर इस्लामी। [10] डाढ़ी।

प्रथम पद में द्वितीया के चद्र को किसी चद्रमुखी का 'नाजुक सा गरेबाँ' बनाना काव्य-कल्पना की कितनी सुदर उडान है।

द्वितीय पद में 'पलक झिपकाने' का प्रयोग कर कवि ने कमाल किया है। श्लेष से काम लेते हुए देखिए कि जहाँ आँसुओ से दरिया का दृश्य सामने था वहाँ अब आन की आन में रेगिस्तान का समाँ दिख रहा है। 'दरिया' और 'बेयाबाँ' में विरोधाभास का लुत्फ है।

तृतीय पद में माशूक के स्याह लबे बालो की उपमा रात्रि से दी गई है। कवि उन की याद को चिरायु होने का आशीर्वाद देता है। नतीजा यह होगा कि उस याद की बदौलत वियोग-रात्रि का अवसान हो कर भी सवेरा न होगा। पद की योजना ऐसी है कि प्रथम दल से वैसी रात्रि की चाह भी प्रगट होती है और साथ ही द्वितीय दल से सवेरा न होने का अदेशा भी जाहिर होता है। अजब खींच-तान है ! यो तो प्रेमी वियोग-रात्रि की निवृत्ति का ही इच्छुक रहता है। प्रथम दल में 'दराज़' की पुनरुक्ति बडा मजा दे रही है और साथ ही दूसरे दल के 'बहुत दूर' वाले प्रयोग के उपयुक्त ही है।

'सारदा-बिल' ने नये दीन में रखने डाले,
रहनुमा[1] कुफ्र[2] हो जिस का वह मुसलमाँ न रहा।
शोख़ियाँ इतनी बढ़ीं नीची निगाहें भी गईं,
हुस्ने[3]-बेपरद का अब कोई निगहबाँ न रहा।
दोनों जाँदादये-मजहब[4] हैं मगर वक्त की बात,
कोई हिंदू न रहा कोई मुसलमाँ न रहा।
सेहरकारी[5] तेरी ए आलमे-फानी[6] देखी,
घर तक आते असरे-गोरे-ग़रीबाँ[7] न रहा।
मुख्तसर वक्त में क्या कुछ न हुआ वस्ल की शब,
मुझ को हसरत न रही आप को अरमाँ न रहा।

---

[1] पथप्रदर्शक। [2] ग़ैर इस्लामी मत। [3] सौंदर्य। [4] मज़हब पर मिटे हुए। [5] जादूगरी। [6] नश्वर ससार। [7] ग़रीबों की क़ब्रों का प्रभाव।

प्रथम पद में कवि ने 'शारदा-कानून' वाली बात ले कर अपने रुढ़िप्रेम को ही प्रगट किया है जो 'रियाज़' जैसे बुज़ुर्ग के लिए क्षम्य हो सकता है। 'मिल' के साथ 'रख़्ना' (=सूराख़) कितना उपयुक्त है।

द्वितीय पद में भी कुछ वही बात है पर अन्य निमित्त से। कवि कहता है कि स्त्रिया का परदा तो पहले ही हट गया था पर उन की लाज-भरी नीची निगाह शेष थी, जो खुले सौंदर्य की कुछ न कुछ तो रखवाली करती ही थी। अब बढते हुए चाचल्य से वे भी पनाह मॉगती हुई विदा हो रही है। निगाह' के खयाल से 'निगहबाँ' बहुत मौज़ूँ है।

चतुर्थ पद में उस शान का ज़िक्र है जिसे 'श्मशान-शान' कहते है और जिस के मिटाने की जिम्मेदारी प्रकृति की जबर्दस्त लगायटा पर रक्खी गई है जो ठीक ही है।

अतिम पद में वही बात है जिस के बिना 'रियाज़' की गज़ल उन की अपनी न जान पडती। पद नितात शृगारी है पर उस का होना तो ज़रूरी ही था। काव्य-कल्पना की भी कमी नहीं। 'मुख़्तसर वक्त में क्या कुछ न हुआ' पर गौर करते हुए द्वितीय दल मे देखिए कि वाकई कितनी बडी बात हो गई। हसरत' और 'अरमान' का शेष न रहना कोई छोटी बात तो नही !

यहाँ तक हम 'रियाज़' की रचनाओ के कुछ नमूने दे चुके जो यह दिखलाने के लिए बहुत काफी है कि वह किस रग और किस पाये के शायर थे। 'रियाज़' साहेब की तहरीर से मालूम होता है कि ज़माना देखते हुए कभी आप के दिल में अतुकात या अव्यवस्थित छदो की रचना का भी ख़याल हुआ था पर आप ने उस पर अमल नही किया। लिखते है —

"बेकैद नज्म कहने वाले तालीमयाफ्ता हज़रात[१] टकसाली ज़बान और कयूद[२] की पाबदी को अपने अदाये-बयान[३] और मुफीद व वसीअ[४] खयालात के लिए मुज़िर समझते है, और यह सहीह भी है और साथ ही बेइतहा मुशकिल भी—'भारी पत्थर था उसे चूम के बस छोड दिया'।"

पर इस में सदेह नही कि उन्हो ने जो रचना की है वह *नवीनतायुक्त न होती*

---

[१] लोग। [२] 'कैद' की जमा—बधन। [३] वर्णन। [४] विस्तृत।

हुई भी, उन की गणना उर्दू काव्य-साहित्य के अचार्यों में कराने और उन के नाम को उर्दू काव्य-जगत में अमर बनाने के लिए पर्याप्त है। हम को तो उर्दू काव्य का भविष्य देखते हुए यही प्रतीत होता है कि वह अपनी योग्यता और अपनी शैली के अंतिम कवि और अपने देखे हुए जमाने की आखिरी यादगार थे। अत उन का यह कथन ठीक ही जँचता है —

शायरी है 'रियाज़' के दम तक,
फिर कहाँ लोग इस तबीअत के?

वह महाकवि थे और यो भी महाकवि होने का सौभाग्य सभी को तो नही मिलता। उन के शिष्यो की सख्या भी बहुत है।

'रियाज़' के जीवन का अंतिम भाग सासारिक चिंताओ से शून्य न था। स्वर्गीय *महाराजा महमूदाबाद की उदारता से उन का काम चलता जाता था*[1], पर इधर तो अब वह सहारा भी बाकी न रहा था। फिर भी उन की ज़िंदादिली में कोई फर्क न पडा था। वह निमग्नता में परिवर्तित हो कर उन को उसी रास्ते पर बराबर लिए चली जा रही थी जिस पर वह उम्र-भर चलते रहे। आखिरी वक्त का एक शेर मुलाहज़ा हो—

'रियाज़' अब शक्ल भी बदली मज़ाके-तब्अ[2] भी बदला,
यह सिन का है तकाज़ा जो खयाले-हूर आता है।

कवि वृद्ध हो गया है। उस के दिल में अब माशूको की चाह का हौसला नही रहा। परंतु चाह तो किसी की होनी ही चाहिए, और इस के लिए सिन के एतबार से स्वर्ग की अप्सराओ का खयाल आना नितात स्वाभाविक है।

कुछ इस प्रकार कही जाने वाली असामयिक विशेषताओ के होते हुए 'रियाज़' में एक सामयिक—बहुत बडी सामयिक—विशेषता भी थी। वह थी उन की भाषा का 'हिंदुस्तानी' होना। यो तो उर्दू-ज़बान शताब्दियो से मँजते-मँजते बहुत साफ हो गई है—उस में बहुत कुछ निखार आ गया है। पर सादगी के खयाल से देखा जाय तो बहुत बडी कसर ही दिखेगी। अत इस कसर की पूर्ति के लिए जो प्रयत्न 'रियाज़' ने किया,

---

[1] चालीस रुपये मासिक मिलते थे। [2] तबीअत का रुजहान।

उन के लिए यह विशेषतः चिरस्मरणीय रहेंगे। यह ज़बान के बहुत बड़े सुधारक थे। उन का कौल था कि 'शेर (पद) साफ़, सादा और सब के समझने लायक होना चाहिए, पेचीदा और मुश्किल नहीं।' यह हमेशा इसी पर अमल करते रहे, अतः उन की यह गर्वोक्ति[1] बेजा न थी—

यह मैं हूँ आज ज़माने को नाज़ है जिस पर,
'रियाज़' धूम है जिस की वह है ज़बाँ मेरी।

चंद नमूने दिए जाते हैं जिन में बेहद सादगी के साथ शब्द-चमत्कार की भी कमी नहीं —

न आया हमें इश्क करना न आया,
मरे उम्र भर और मरना न आया।
यही दिन थे सौ-सौ तरह हुस्न सँवरते,
जवानी तो आई सँवरना न आया।

❦ ❦ ❦

बड़े लुत्फ़ से दिन गुज़र जाते यह भी,
बुढ़ापे में हम को जवानी जो मिलती।
यह ठंडी हवाएँ यह काली घटाएँ,
मज़ा था मये-अर्गवानी[2] जो मिलती।
'रियाज़' अब कहाँ यह जवानी का आलम,
गले से लगाते जवानी जो मिलती।

❦ ❦ ❦

बाम[3] पर आए कितनी शान से आज,
बढ़ गए आप आसमान से आज।
किस मज़े की हवा में मस्ती है,
कहीं बरसी है आसमान से आज।

---

[1] उर्दू-फ़ारसी कवि तो यों भी ऐसी बात कहना बेजा नहीं समझते।
[2] लाल शराब। [3] कोठा।

नीची डाढ़ी ने आबरू रख ली,
फर्जे पी आए इक दुकान से आज।

✽ ✽ ✽

आप हों या आप से बढ़ कर कोई,
हम नहीं तो इक ज़माना कुछ नहीं।
सारे झगडे ज़िंदगानी के लिए,
ज़िंदगानी का ठिकाना कुछ नहीं।

✽ ✽ ✽

नज़अ[1] में उलफ़त[2] का अब इज़्हार रहने दीजिए,
छोडिए भी जान मेरी प्यार रहने दीजिए।
की है पैदा क्या नज़ाकत ने लचक वक़्ते-ख़िराम,[3]
अब कमर में यह नई तलवार रहने दीजिए।

कमर की लचक को नई तलवार बतलाना 'रियाज़' जैसे रसिक कवि के ही योग्य है।

'रियाज़' बड़े शायर ही न थे, बड़े सीधे-सादे, मिलनसार और शरीफ़ बुज़ुर्ग भी थे। घमड और दिखावा तो उन में नाम को भी न था। पत्रो का उत्तर बड़ी मुहब्बत से देते थे, पर बुढापे के कारण बडी देर से। अफसोस कि इस देर के कारण उन की बाबत उतना न जान सका जितना मैं जानना चाहता था। उत्तर भी अपूर्ण होता था जिस में बहुत कुछ कुसूर बुढापे का था और कुछ-कम उस पुराने तर्ज़ का जो उन की गद्य में प्राय मिलता है।

---

[1]मरणकाल। [2]प्रेम। [3]इठला कर चलते समय।

समालोचना

व्याकरण

श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्—सपादक, श्री मुनि-हिमाशुविजय, न्याय-काव्यतीर्थ, पृष्ठसख्या २०+१११+६२४। सजिल्द। प्रकाशक, सेठ आनद जी कल्याण जी, झावेरी रोड, अहमदाबाद। मूल्य ४॥)

विक्रमीय बारहवी शताब्दी में गुजरात में एक प्रखर विद्वान, हेमचद्राचार्य नाम के हो गए हैं। इन का सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश भाषाओ पर पूर्ण आधिपत्य था। इन्हो ने गुजरात के प्रतापी राजा सिद्धराज जयसिंह की प्रेरणा से सस्कृत का यह 'सिद्ध हेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्' बनाया। गुजरात में इस के पूर्व अन्य व्याकरणो का प्रचार था। हेमचद्र सूरि के इस 'शब्दानुशासन' ने उन का प्रचार अशरूप से रोक दिया।

'शब्दानुशासन' पाणिनि की अष्टाध्यायी के ढग पर लिखा गया है। इस में भी आठ अध्याय है और प्रत्येक में चार-चार पाद। कुल सूत्रो की सख्या ४६८५+१००६ हैं। सपादक के मतानुसार हेमचद्र सूरि पूर्व वय्याकरण पाणिनि, शाक्टायन आदि से भी सफल हुए है। इस समय पाणिनि व्याकरण का ही अधिक प्रचार है और यह सदिग्ध ही है कि हेमचद्र सूरि की सस्कृत व्याकरण का प्रचार हो सकेगा।

'शब्दानुशासन' का सपादन सुचारु रूप से हुआ है। प्रस्तावना और परिशिष्ट उपादेय हैं। मूलपाठ भी कई हस्तलिखित पुस्तको से सशोधित कर के रक्खा गया है।

हेमचद्र सूरि जैनधर्म के बडे भारी प्रचारक थे। इसी कारण इन के ग्रथ जैनो में बडे प्रसिद्ध है और इन के प्रकाशन आदि में, सेठो की उदारता के कारण, कोई कठिनाई नहीं होती। हेमचद्र की 'प्राकृत-व्याकरण' तथा 'देशीनाममाला' पुस्तकें अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत ग्रथ का यह सुसपादित सस्करण आदर की दृष्टि से देखा जावेगा।

वा० स०

नाटक

कारवाँ—लेखक, श्री भुवनेश्वर प्रसाद; प्रकाशक, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ ११६। १९३५। मूल्य १)

श्रीयुत भुवनेश्वर प्रसाद हिंदी के एक नववयस्क लेखक हैं। इन्हो ने हिंदी में एकाकी नाटकों की रचना की ओर ध्यान दिया है। प्रस्तुत पुस्तक में उन के ६ एकाकी नाटक एकत्र किए गए है। यह प्राय सभी हिंदी की पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित हो चुके है। यह पुस्तक लेखक की पहली कृति है।

पुस्तक में आए हुए नाटक प्राय सभी उस वर्ग के हैं जो आजकल हिंदी में समस्या-नाटक के नाम से चल रहे है। लेखक आधुनिक पाश्चात्य साहित्य से परिचित और बहुत कुछ प्रभावित जान पड़ते है। आस्कर वाइल्ड और शा जैसे साहित्यिको की चमत्कारिक भाषा तथा शैली से नवयुवको के लिए प्रभावित होना सहज है। उन लोगो की शैली में अपनी बाते कहने की क्षमता के लिए मानसिक परिपाक की आवश्यकता है। हमारी धारणा है कि लेखक ने 'अपने' विचारो को ले कर पाठको के सामने प्रस्तुत होने में जल्दी की है। "शैतान" शीर्षक नाटक के एक सीन में शा की छाया तनिक मुखर हो गई हैं, इसे तो लेखक महोदय स्वय स्वीकार करते हैं। अन्य नाटकों में यही सभवत 'मुखर' न हुई हो, परंतु साधारणतया इन नाटकों में उपस्थित किए गए वातावरण में हमें कृत्रिमता का आभास मिलेगा।

पुस्तक में 'प्रवेश' और 'उपसहार' के रूप में लेखक ने कुछ उक्तियाँ एकत्र की हैं। यदि यह लेखक की अपनी ही है तो यह कहना होगा कि इन में किसी कारण से अनुवाद की गध है। फिर भी इन उक्तियो में कुछ स्पष्ट, कुछ अर्ध-स्पष्ट, तथा शेष अस्पष्ट है।

लेखक की भाषा बहुत चित्य है। व्याकरण और प्रूफ की ग़लतियाँ जोड़ी जायँ तो उन की सख्या सैकडो में जायगी। आशा है दूसरे सस्करण में (जब इस का समय आए) लेखक महोदय कम से कम इन्हे सुधार लेगे। पुस्तक के सभी दोषो के निदर्शन के लिए अवकाश अपेक्षित है। परंतु इस सबध में श्रम करना पुस्तक को वह महत्व देना है जिस के यह योग्य नहीं है।

रा०

मिस ३५ का पति-निर्वाचन तथा कलय की सावस्या—लेखक, श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०। प्रकाशक, सरस-साहित्य-सदन, इलाहाबाद। पृष्ठ १६२। १९३५। मूल्य १)

श्रीयुत सत्यजीवन वर्मा हिंदी-संसार के एक परिचित लेखक हैं। आप पत्र-पत्रिकाओं में 'श्री भारतीय' के उपनाम से बहुधा मनोरंजक लेख तथा कहानियाँ लिखा करते हैं। इस पुस्तक में आपने 'मिस ३५ का पति-निर्वाचन' शीर्षक प्रहसन तथा ६ कहानियाँ प्रस्तुत की हैं। यह प्रहसन किसी समय इलाहाबाद के 'मदारी' पत्र में क्रमशः निकल चुका है। कहानियाँ भी 'चाँद' में तथा अन्यत्र इस से पूर्व छप चुकी हैं।

यह प्रहसन नियमित नाटक के रूप में नहीं है। इस में न कोई प्लाट या घटना-चक्र मिलेगा और न पात्रों के आपस में कथोपकथन मिलेंगे। एक आधुनिक मिस साहिबा हैं, जो एक-एक करके कवि, साहित्यिक, अंडर-ग्रेजुएट, आर्टिस्ट, प्रोफेसर, कुँवर साहब, और एक आई० सी० एस० मिस्टर से, पति-निर्वाचन के लिए भेंट करती हैं। इन में से प्रायः सभी के, लेखक ने, अच्छे खाके खींचे हैं। बीच-बीच में मधुर व्यंगों द्वारा हमारी सामाजिक प्रवृत्तियों और दुर्बलताओं पर प्रहार किया गया है।

सरस साहित्य-ग्रंथमाला का यह पहला प्रकाशन है। इस प्रकार के अन्य ग्रंथ प्रकाशित करती रही तो यह ग्रंथमाला अवश्य लोक-प्रिय हो जायगी। पुस्तक में आठ-नौ रेखा-चित्र दिए गए हैं, और इस की छपाई आदि सुंदर हुई है।

रा०

कहानी

प्रदीप—लेखक, श्री वाचस्पति पाठक, प्रकाशक, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ १५८। १९९२ वि०। मूल्य १)

श्रीयुत वाचस्पति पाठक जी ने आजकल के हिंदी के कहानी-लेखकों के बीच एक आदरणीय स्थान प्राप्त कर लिया है। कुछ वर्ष पूर्व इन का पहला संग्रह 'द्वादशी' नाम से भारती-भंडार ने प्रकाशित किया था। यह पाठक जी का दूसरा संग्रह है, और इस में उन की आठ कहानियाँ एकत्र की गई हैं।

पाठक जी बहुत थोड़ा लिखते हैं, परंतु जो कुछ लिखते हैं उस में मार्मिकता पर्याप्त

यात्रा में रहती है। उन की भाषा सरस और सजीव होती है। उन की बहुधा कहानियों में हम कथा-वस्तु तो स्वल्प परंतु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही अच्छा पावेंगे। इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ अच्छी बन पड़ी हैं, परंतु कदाचित् सबसे सुंदर और मार्मिक कहानी वह है जिसे संग्रह में प्रथम स्थान दिया गया है। मेरा आशय 'कागज की टोपी' शीर्षक कहानी से है।

आशा है पाठक जी इसी प्रकार हमारे कहानी-साहित्य की अभिवृद्धि करते रहेंगे।

रा०

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ५ } अक्तूबर, १९३५ { अंक ४

कृत्रिम डिंगल

[लेखक—श्रीयुत सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०]

भक्तिकाल में सूरदास और अष्टछाप के इतर वैष्णव कवियो की व्रजभापा की कविता बडी महत्वशील और लोकानुरजनकारिणी हुई। राजस्थान पर इस का गहरा प्रभाव पडा और राजस्थानी कवि और राजा लोग भी व्रजभापा मे रुचि-पूर्वक कविता लिखने और सुनने लगे। अब राजस्थान में दो काव्य-भाषाएँ हो गईं। दोनो मे भेद करने के लिए व्रजभापा की कविता को "पिंगल" और देश भापा राजस्थानी की कविता को "डिंगल" नाम दिया जाने लगा। डिंगल साधारण बोलचाल की भाषाशैली न थी, यह कृत्रिम काव्य भाषा थी, जिस मे चारण, भाट आदि कवि काव्य-रचना करते थे। पिंगल के नाम-साम्य पर 'डिंगल' नाम गढ लिया गया प्रतीत होता है, अन्यथा प्राचीन काल के राजस्थानी साहित्य मे इस शब्द का प्रयोग कही देखा नही जाता। डिंगल का साहित्य-भडार भरा-पूरा है, काव्य-रचना मुख्यत वीर और शृगार रसो में हुई है।

इधर उत्तर-भारत में जब से व्रजभापा का उत्कर्ष हुआ और वह काव्यभापा के सर्वोच्च सिंहासन पर आसीन हुई, तब से राजपूत रियासतो के काव्यप्रेमी राजाओ ने दत्तचित्त हो कर उस की सेवा करना आरभ किया। यह सेवा इन्हो ने दो प्रकार से की—(१) कवियो और लेखको को राज्याश्रय दे कर, और (२) स्वय व्रजभापा में काव्य ग्रथ लिख कर।

भाषा-शैली के इन दोनो मार्गो से भिन्न एक और मध्यवर्ती मार्ग भी उपलब्ध होता है जिस में राजस्थानी और हिंदी के अनेक कवियो ने काव्य-रचना की है। राजस्थान के कुछ कवियो ने राज्याश्रय पा कर ऐसे ढग की कविता की जिस का मुख्य उद्देश्य राजाओ का यश-कीर्त्तन करना था। इन के विषय में विचार करने योग्य बात यह है कि इन्हो ने अपनी रचना में एक विशेष प्रकार की भाषा का उपयोग किया, जिसे हम न तो डिंगल ही कह सकते है और न व्रजभाषा। इसे हम ध्वज-प्रधान "कृत्रिम डिंगल" कह सकते हैं। इस बनावटी भाषा का मुख्य ढांचा तो व्रजभाषा का ही है, परतु शब्दो की तोड-मरोड कर के उन को ऐसा रूप दे दिया गया है कि वे द्वित्व-प्रधान डिंगल शब्द प्रतीत होते है। सयुक्त वर्ण और द्वित्व की जटिलता कही-कही तो इतनी बढ जाती है कि भाषा समझने में दुरुह और उच्चारण में कठिन मालूम होती है। ऐसे स्थलो मे पढनेवाले को भाषा के सबध में डिंगलाभास का भ्रम हुए बिना नही रहता। क्रिया और कारक के चिन्ह प्रधानत व्रज के होने के कारण हम इसे व्रजभाषा ही कहेगे परतु इस में सदेह नही है कि यह है एक विचित्र प्रकार की व्रजभाषा। 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा मे भी द्वित्व प्रधान वर्णों की प्रधानता से एक प्रकार का ओज प्रकट होता है। चद के काव्य में भाषाओ का खासा समिश्रण है। वह कोई एक सुसगठित भाषा नही है। परतु तो भी 'रासो' की, साहित्य में, कई शताब्दियो से अद्वितीय प्रतिष्ठा रही है। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि पीछे के कवियो ने चद के अनुकरण में वैसी ही कृत्रिम भाषा-शैली का प्रयोग करना आरभ कर दिया हो। चद की भाषा की तुलना निम्नलिखित कृत्रिम डिंगल के उदाहरणो से करने पर दोनो में पर्याप्त समता मिलेगी, विशेषत वीर रस के वर्णनो में तो समानता और भी अधिक मिलती है।

इस प्रकार की रचना करनेवाले कवियो में उल्लेखनीय नाम है—

(१) 'राजविलास' का लेखक कवि मान।

(२) खडेला-निवासी हरिनाम उपाध्याय—'केसरीसिंह-समर' काव्य का रचयिता।

(३) सूदन, 'सुजान-चरित' का रचयिता।

(४) जोधराज, 'हम्मीर-रासो' का लेखक।

(५) कविवर सूर्यमल मिश्रण। और

(६) ऊमरदान, 'ऊमर-काव्य' का लेखक।

और भी कई कवियो ने इसी शैली में काव्य रचना की है, परतु विषय को सक्षेप में दृष्टातान्वित करने के लिए कुछ प्रमुख कवियो को ही चुन लिया गया है।

(१) मान कवि महाराणा राजसिंह के दरबार में प्रतिभासपन्न कवि थे। उन्हो ने 'राज विलास'[१] नामक प्रख्यात ग्रथ इसी प्रकार की भाषा-शैली में लिखा। इस काव्य में महाराणा राजसिंह के राजत्वकाल का बड़ा ओजस्वी वर्णन दिया गया है। ग्रथ का निर्माण सवत् १७१७ मे हुआ। उदाहरण के लिए नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'राज विलास' के युद्ध-वर्णनो को देखना चाहिए।

(२) खडेला निवासी कवि हरिनाम ने सवत् १७५४ में, वहाँ के राजा केशरी-सिंह (स० १७४०–१७५४ वि०) के आश्रय म 'केसरीसिंह-समर' नामक ऐतिहासिक काव्य-ग्रथ लिखा, जिस म अपने आश्रयदाता राजा केसरीसिंह की युद्ध-वीरता का ओजस्वी भाषा में अच्छा वर्णन किया है। उसी काव्य में से कृत्रिम डिंगल की भाषा-शैली का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

गुर नालि हक्की सुधक्की हमल्ला।
क्रिते बान जम्मूर धारे सुबल्ला।
जुटी सेन दोऊ घडी चारि लग्गी,
मिली जोगिनी वीर ताली सु वग्गी ॥१३३॥
बहै सेल सत्यं गिरे भीछ भारे,
भरै पत देव चले रत्तनारे।
महाघोर सग्राम मच्चै गहीर।
भटां सीस फुट्टै सु कट्टै सरीरं ॥१३५॥

(३) सूदन (स० १८११–१८२० वि०) वीर रस की ओजस्विनी काव्य रचना करने में हिंदी के सर्वोत्तम कवियो में से एक हैं। इन का युद्ध वर्णन बड़ा सजीव और फड़-

---

[१] 'राजविलास' के द्वितीय परिमार्जित और परिवर्द्धित सस्करण का सपादन इस लेख के लेखक ने किया है, और वह काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होने वाला है।

कता हुआ होना है। लाल, भूषण और सूर्यमल मिश्रण को छोड कर बहुत थोडे हिंदी के कवि हैं जो इस विषय में इन की समता में ठहर सकते हैं। ये कविवर भरतपुर के राजा सुजानसिंह के यहाँ आश्रित कवि थे और उन के साथ कई युद्धों में लडे थे। अपने आश्रय-दाता की प्रशस्ति में इन्हों ने 'सुजानचरित' ऐतिहासिक काव्य बनाया जो नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो चुका है। सूदन की कविता में व्रजभाषा, खडी बोली, राजस्थानी और पंजाबी का समिश्रण पाया जाता है। वर्णन की शैली वही कृत्रिम डिंगल है। दो-एक उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं—

दव्वत लुथ्थिनु अव्वत इक्क सुखब्बन से।
चव्वत लोह अचव्वत शोनित गव्वत से।
चुट्टित खुट्टित केस मुलुट्टित इक्क मही,
जुट्टित फुट्टित सीस, सुखुट्टित तेग गही॥
कुट्टित घुट्टित काय बिछुट्टित प्रान सही।
घुट्टित आयुध, हुट्टित गुट्टित देह दही॥
धुर कोटहु टुट्टिय बहु भट कुट्टिय पुर लुट्टिय बेहाल।
सुत भ्रातहु कट्टिय भुव तें हट्टिय घट्टिय तोप जंजाल॥
जल अग्रहु बित्तिय दारु रित्तिय कित्तिय रन दिन तीनि।
धाइन अवधाइय थौन बहाइय राउ समर अति पीनि॥

(४) जोधराज कवि ने नीमराणा (अलवर राज्य) के राजा चंद्रभानु के आग्रह से 'हम्मीर रासो' नामक एक बडा प्रबंध-काव्य सं० १८७५ में लिखा, जिस में रणथंभोर के वीर महाराज हम्मीरदेव की वीर-चरितावली छप्पय-छंद में कही गई है। इस काव्य की भाषा बडी ओजस्विनी है और इस के वर्णन बडे सजीव और रोमांचकारी है। उदाहरण—

कहाँ पँवार जगदेव सीस आपन कर कट्ट्यो।
कहाँ भोज विक्रम सु राव जिन पर दुख मिट्ट्यो॥
सवा भार नित करन कनक विप्रन को दिन्नो।
रह्यो न रहिये कोय देव नर नाग सु चिन्नो॥
यह बात राव हम्मीर सूँ रानी इमि आसा कही।
जो भये चक्कवै मंडली सुनो राव दीखै नहीं॥

(५) सूर्यमल मिश्रण (वि० स० १८७२–१९२५) बूंदी-निवासी कविराजा चडीदान के सुपुत्र थे। इन्हो ने महाराव रामसिंह जी के आश्रय मे रह कर 'वश-भास्कर' नामक भारी महाकाव्य का निर्माण स० १८९९ मे किया। इस ग्रथ के विविध छदो मे बूंदी राज्य का ऐतिहासिक क्रम से वर्णन है, प्रसगवश और भी बहुत सी ऐतिहासिक गाथाएँ इस मे सम्मिलित कर ली गई हैं। सूर्यमल विलक्षण प्रतिभासपन्न और पडित कवि थे और इन की कविता में काव्य-चमत्कार अच्छा है। प्राकृत भाषाओ, डिंगल और व्रज-भाषा पर इन को समान रूप से पूरा अधिकार था। 'पृथ्वीराज रासो' के बाद 'वश-भास्कर' हिंदी का सब से बडा महाकाव्य है, और उस मे युद्धो का वर्णन बडी ज्वलत भाषा मे किया गया है। भाषा-शैली वही व्रजप्रधान कृत्रिम डिंगल है। ओजस्वी वर्णन-शैली-वाले कवियो की श्रेणी मे सूर्यमल, लाल, भूषण और सूदन के समकक्ष हैं। 'वश-भास्कर' के अतिरिक्त मिश्रण जी ने (१) 'बलवत-विलास', (२) 'छदोमयूख', (३) 'वीरसतसई' ग्रथ भी बनाए। भाषा-शैली का उदाहरण नीचे देते हैं—

दुव सेन उदग्गन खग्ग सुभग्गन,
अग्ग तुरग्गन बग्ग लई।
मचि रग उतंगन दंग मतंगन,
सज्जि रनंगन जंग जई॥
गज-घण्ट ठनंकिय भेरि भनंकिय,
रंग रनंकिय कोच करी।
पखरान झनंकिय बान सनंकिय,
चाप तनंकिय ताप परी॥
डगमग्गि शिलोच्चय शृंग डुले,
झगमग्गि कृपानन-अग्गि झरी।
धजि खल्लन्तवल्लन हल्ल उझल्लन,
भुम्मि हमल्लन घुम्मि भरी॥

(वश-भास्कर)

(६) कवि ऊमरदान (स० १९०८–१९६१ वि०) चारण हाल ही में मार-वाड के एक प्रतिभासपन्न और लोकप्रिय कवि हो गए हैं। इन की कविता का सग्रह

'ऊमर-काव्य' नाम से प्रकाशित हुआ है। इन के काव्य में हास्य, वीर, शृंगार, शान्त आदि प्राय सभी प्रधान रसो का समावेश हुआ है और सामाजिक सुधार और आलोचना का मीठा व्यंग्य सर्वत्र उपलब्ध होता है। स्वामी दयानंद सरस्वती के सत्संग से और आर्य-समाज के सिद्धान्तों की ओर झुकाव होने के कारण इन की रचना में कटु-सत्य, स्पष्टवादिता और सुधार-प्रवृत्ति की मात्रा अधिक है और इन्हीं कारणों से वह राजस्थान में लोक-सम्मानित हुई हैं। कई लोग इन की भाषा को डिंगल कहते हैं, यद्यपि अधिकांश पद्यों में उस का कलेवर ब्रजभाषा का ही है। अपनी परिभाषा के अनुसार हम उसे कृत्रिम डिंगल कहना ही अधिक समीचीन समझते हैं।

'ऊमर-काव्य' में से दो उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

(१) योद्धाओं का यश-वर्णन —

कहूँ मटा समत्थ कै दया समत्थ सत्थ दे,
समत्थ अत्थ साधने समत्थ में समत्थ जे।
अखंड ब्रह्मचर्य्य के सिखंड खंड अग्ग के,
सधीर ही हमीर से गंभीर भीर गज्जते ॥१॥
धुरा सुघाट घाट के कपाट छत्ति के धरें,
घनं प्रतच्छ तच्छ के प्रदच्छ स्वच्छ के घरें।
सुसील सभ्य साच्छर श्रुति प्रमांन सोह नें,
अभंग पुत्ति ओज के मनोज मूर्त्ति मोह नें ॥२॥

(२) तोप की प्रशंसा —

तनू प्रबंध तोप के तुरंग कंध ते तने,
भुजालि थालि मोलि तें बहे विमा विमावनें।
बरिट्ठ में वरिट्ठ जे घरेक निग्र सालि तें,
गरिट्ठ में गरिट्ठ ते गुरे कतो गजालि तें ॥
प्रधान गोल कप्र मोर सोर कोस संग्रहे,
उडग्ग खग्ग मग्ग में दिवग्ग अग्ग को गहे।
चमूप शस्त्र अस्त्र लेय दिव्य दिग्विजे चढ़ें,
दयमुद उम्मरेस की विशुद्ध भारती बढ़ें।

हिंदी की सब से प्राचीन आत्मकथा—'अर्द्ध-कथा'

[लेखक—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

इस लेख में हम जिस आत्मकथा-ग्रथ का परिचय देने जा रहे है वह सुप्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास लिखित 'बनारसी-अवस्था' की 'अर्द्ध-कथा' है। हिंदी-साहित्य की जो खोज अभी तक हुई है, उस के अनुसार प्राचीन हिंदी-साहित्य की यह अकेली आत्म-कथा-पुस्तक है और सभवत आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ के साहित्य में भी इस से पूर्व की कोई आत्मकथा न मिल सकेगी।

लेखन-कला की दृष्टि से प्रस्तुत आत्मकथा वस्तुत एक उत्कृष्ट रचना है। एक अच्छी आत्मकथा में जिन प्रमुख विशेषताओ का समावेश होना चाहिए वे सभी इस में यथेष्ट मात्रा में मिलती है। अधिकतर यह देखा जाता है कि आत्म-कथाओ के रचयिता अपने चरित्र के कालिमा-पूर्ण अशो पर एक हलका-सा आवरण डाल देते है, किंतु यह दोष भी प्रस्तुत आत्मकथा में नहीं है, जैसा हम आगे स्वत देखेंगे।

केवल कविता की दृष्टि से भी 'अर्द्ध-कथा' का स्थान ऊँचा है। और आडवर-हीन भाषा में घटनाओ के सजीव और यथातथ्य वर्णन का जहाँ तक सबध है इतनी सुदर रचना प्राचीन हिंदी साहित्य में बहुत कम मिलेगी। इसी लिए आगे के पृष्ठो में कविता की दृष्टि से सुदर स्थलो को अधिकतर कवि के ही शब्दो में रक्खा गया है, यद्यपि ऐसा करने से प्रस्तुत लेख का आकार कुछ बढ गया है।

प्रस्तुत आत्मकथा का महत्व एक अन्य दृष्टि से और भी अधिक है। वह मध्य-कालीन भारत की सामाजिक अवस्था, धनी और निर्धन प्रजा के सुख-दुख का यथार्थ परिचय देती है। बादशाहो की लिखी दिनचर्याओं और मुसलमान इतिहास-लेखको द्वारा लिखित तारीखो से हमें शासन और युद्ध-सबधी घटनाओ की अटूट शृखलाएँ भले

ही मिल जायें, किंतु इतिहास के उस स्वर्णयुग में राजधानियों से दूर, जनता और विशेष-कर उस के धनी और व्यापारी वर्ग को अहर्निशि कितनी यातनायें भोगनी पडती थी, इस का अनुमान उन दिनचर्याओ और तारीखो से हम नही कर सकते। उस के ज्ञान के लिए हमें 'अर्द्ध-कथा' ऐसी रचनाओ का ही आश्रय लेना पडेगा। जिस दिन 'अर्द्ध-कथा' की भाँति कुछ अन्य रचनायें भी प्रकाश में आवेगी, मध्यकालीन भारतीय इतिहास के कई पृष्ठ निश्चय ही फिर से लिखने पडेगे।

दो शब्द प्रस्तुत आत्मकथा की उस प्रति के सबध मे भी कहना कदाचित् अनुचित न होगा जिस से ले कर आगे के कतिपय उद्धरण दिए गए है। यह प्रति स० १९०२ की लिखी हुई है और दिल्ली के एक जैन पुस्तकालय में है। वही के श्री० पन्नालाल जैन अग्रवाल द्वारा मुझे यह प्राप्त हुई थी। तुलसी-काल की सामाजिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मुझे यह पुस्तक आवश्यक जान पडी थी और इसी लिए पिछले दो वर्षों से मैं इस की खोज में था। थोडे दिन हुए प्रसिद्ध साहित्य-सेवी श्री० नाथूराम जी प्रेमी से मुझे यह पता चला कि इस आत्म-कथा की एक प्रति दिल्ली में है जो उक्त श्री० पन्ना-लाल जी द्वारा मिल सकती है। तब मैं ने उक्त श्री० पन्नालाल जी को लिखा जिन्हो ने पुस्तकालय से प्रति ले कर मेरे पास भेज दी, इस लिए मैं उन का अनुग्रहीत हूँ।

रचना के प्रारभ में ही कवि उस की भाषा के सबध में कहता है[१]—

मध्य देश की बोली बोल।
गर्भित कथा कहौं हिय खोल॥
भाखौ पूरव दसा चरित्र।
सुनहु कान धरि मेरे मित्र॥

उस समय खडी बोली और ब्रजभाषा प्रात को मध्यदेश कहा जाता था। ऊपर के उद्ध-रण से तो यह स्पष्ट है ही, यथास्थान आगे जो उद्धरण हमें मिलेगे उन से भी यह प्रगट होगा कि 'अर्द्ध-कथा' की भाषा में खडी बोली और ब्रजभाषा दोनो का समिश्रण हुआ है। सभवत इस में उसी जन-भाषा का प्रयोग किया गया है, जो उस समय आगरे में व्यवहृत

---

[१] अ० अ०, १

होती थी। आगरा उस समय मुगल शासको की राजधानी थी, इस लिए उस स्थान में इस प्रकार का समिश्रण अनिवार्य था।

आत्मकथा का प्रारभ, तदनतर, वह अपने पूर्वजो के सक्षिप्त परिचय के साथ करता है। वह लिखता है कि इसी मध्यदेश मे एक नगर रहुतगापुर था जिस के निकट एक गाँव बिहोलीपुर था। लेखक के पूर्वज आदि में इसी गाँव के रहनेवाले थे। पहले वे राजपूत थे, फिर वे जैन हुए और श्रीमाल कहलाने लगे। आगे चल कर उसी वश में मूलदास हुए। उन्हो ने हिंदगी (सभवत 'हिंदवी') और फारसी पढी और एक मुगल के मोदी बन कर मालवे चले आए। उस मुगल को माल्वे में हुमायूँ ने जागीर दी थी। इन्ही मूलदास के पुत्र खरगसेन हुए जो हमारे चरितनायक के पिता थे।

खरगसेन का जन्म स० १६०८ में हुआ। स० १६१३ में मूलदास की मृत्यु हो गई। मूलदास की मृत्यु क अनतर उस मुगल ने उन के घर का सारा माल-असबाब छीन लिया। खरगसेन और उन की माता दीन और दुखी हो कर 'पूरब देश' जौनपुर आए। यहाँ पर कवि ने गोमती नदी तथा जौनपुर नगर का वर्णन किया है और वहाँ की शासक-परपरा का थोडा सा इतिहास दिया है। माता और पुत्र मदनसिंह श्रीमाल का नाम पूछते हुए आए। मदनसिंह सर्राफी का व्यवसाय करते थे और खरगसेन की माता के पितृव्य थे। माता ने मदनसिंह से अपनी विपत्ति का सारा वृत्तात कहा। उन्हो ने उसे धैर्य बँधाया। माता-पुत्र सुख से जौनपुर में रहने लगे। आठ वर्ष की अवस्था मे खरगसेन ने कुछ लिखना-पढना सीखा। उसी समय बगाल में धन्याराय श्रीमाल नामी एक जैन सज्जन खानजहाँ लोदी के दीवान थे उन का नाम सुन कर खरगसेन ने माता से सम्मति की और सबेरे ही रास्ते के खर्चे के लिए कुछ धन ले कर बगाले की ओर चल पडे। उस समय खरगसेन की अवस्था केवल तेरह वर्ष की थी, वे धन्याराय से मिले। धन्याराय ने उन्हें ढाढस बँधाया। कुछ दिनो बाद उस ने इन्हे अपना पोतदार बना दिया। किंतु इस घटना के छ-सात मास के पश्चात् ही यकायक धन्याराय की मृत्यु हो गई। धन्याराय की मृत्यु से राज्य में बडा कोलाहल मचा। खरगसेन बेचारे छिपते-छिपाते अपनी जान ले कर भागे और जौनपुर आए[1]—

---

[1] ब० अ०, ७

कीनौ दुखी दलद्री भेष ।
लीनौ उमट पंथ अनेक ॥
नदी गांव बन पर्वत घूम ।
आये नगर जौनपुर भूमि ॥

तदनतर चार वर्ष तक वे घर ही पर रहे। १८ वर्ष की अवस्था में वे आगरे गए और वहाँ सुदरदास नामी एक सर्राफ के साझे में व्यापार करने लगे। बाईस वर्ष की अवस्था में उन्हा ने अपना विवाह किया। तीन वर्ष के अनतर सुदरदास की मृत्यु हो गई और खरगसेन अपनी कमाई का द्रव्य ले कर जौनपुर चले आए। यहाँ आ कर रामदास नामी एक अग्रवाल वैश्य के साझे में सर्राफी का काम उन्हो ने शुरू किया। स० १६३५ में खरगसेन का पहला पुत्र उत्पन हुआ किंतु थोडे ही दिनो में वह काल-कवलित हुआ। स० १६३७ की घटना है कि वे सती की यात्रा क लिए रोहतक गए। लौटते हुए मार्ग में चोरो ने सब कुछ लूट लिया। केवल शरीर के वस्त्र रह गए थे। उस समय इन्हो ने सती की यात्रा की मानता की थी। स० १६४१ में मदनसिंह की मृत्यु हो गई। उस के दो वर्ष पीछे उन्हें अपनी मानता का स्मरण आया और उन्हो ने सती की यात्रा की। इस बार की यात्रा के अनतर स० १६४३ में खरगसेन के दूसरे पुत्र का जन्म हुआ—यही प्रस्तुत आत्मकथा के चरित-नायक है। अपनी जन्म-तिथि का उल्लेख लेखक ने इस प्रकार किया है[1]—

सवत सोलह सै तैताल ।
माघ मास सितपक्ष रसाल ॥
एकादशि रविवार सुनद ।
नछत्र रोहिनी वृष को चद ॥
रोहनि तृतिय चरण अनुसार ।
खरगसेन घर सुत अवतार ॥

इस बालक का नाम विक्रमाजीत रक्खा गया। बालक जब छ-सात मास का हुआ तब खरगसेन अपने परिवार क साथ सुपार्श्वनाथ की यात्रा के लिए चले। सुपार्श्वनाथ की विधिवत् पूजा करने के अनतर हाथ जोड कर बालक को आगे रख दिया। पुजेरे ने

[1] ब० ब०, ९

सुपार्श्वनाथ से बालक के लिए आशीर्वाद माँगा और तत्पश्चात् उसी ने बालक का नाम-करण किया। पुजेरे की पाखंड-पूर्ण क्रियाओं का वर्णन कवि ने बड़े रोचक ढंग से किया है[1]—

तब सु पुजेरा साधै पौन।
मिथ्या ध्यान कपट की मौन॥
घड़ी एक जब भई वितीत।
सीस घुमाय कहै सुन मीत॥
सुपनंतर कछु आयो मोहि।
सो सब बात कहों मैं तोहि॥
पदमपार्श्व जिनवर को जक्ष।
सो मो पै आयो परतक्ष॥
तिन यहु बात कही मुझ पाहि।
इस बालक कौं चिंता नाहि॥
जो प्रभु पास जन्म कौ गाव।
सो दीजै बालक कौ नाउ॥
तौ बालक चिरजीवी होय।
यहु कहि लोप भयो सुर सोय॥
जब यह बात पुजेरा कही।
खरगसेन जिय जानी सही॥
हरषत रहै कुटंब सब, स्वामी पास सुपास।
दुहु कौ जन्म बनारसी, यहु बानारसि दास॥
इह बिधि धर बालक कौ नांव।
आये पलट जौनपुर गांव॥

सं० १६५० में खरगसेन के घर एक कन्या का जन्म हुआ। आठ वर्ष की अवस्था में बनारसीदास विद्याध्ययन के लिए पाडे गुरु की चटशाला में भर्ती हुए और एक वर्ष तक उस में

---

[1] अ० अ०, १०

रहे। इस एक वर्ष में उन्हो ने अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया और लेखा लिखना सीखा। नौ वर्ष की अवस्था म खैराबाद के किन्हीं कल्याणमल की कन्या के साथ उन का विवाह तै हुआ। स० १६५३ में अकाल पडा और अन्न इतना महँगा हो गया कि किसी दाम पर नहीं मिलता था। जब अकाल चला गया तब स० १६५४ मे बनारसीदास का विवाह हुआ। जिस दिन खरगसेन घर में पुत्रवधू लाए सयोग से उसी दिन उन की दूसरी कन्या का जन्म हुआ और वृद्धा नानी का स्वर्गवास हो गया। तीनो घटनाओ की ओर सकेत करते हुए कवि ने लिखा है[1]—

> नानी मरन सुता जनम, पुत्रवधू आगौन।
> तीनो कारज एक दिन, भए एक ही भौन॥
> यह ससार विटबना, देख प्रगट दुख खेद।
> चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ न जाने भेद॥

विवाह के दो मास पीछे दुलहिन का चचा आया और उसे अपने घर ले गया।

इसी बीच एक बडी विषम घटना हुई। इस समय जौनपुर का हाकिम नवाब कलीच खा था। उस ने एक दिन जौनपुर के सब जौहरियो को बुलाया और उन्हे खूब पिटवाया जिस से सब जौहरी जौनपुर छोड कर भाग निकले और खरगसेन अपना परिवार ले कर पश्चिम गगापार चले आए[2]—

> विपता उदै भई इस बीच।
> पुर हाकिम नोवाब कलीच॥
> तिन पकरे सब जौहरी दिये कोठरी मांहि।
> बडी वस्तु मागै कछू सो तौ इन पै नाहि॥
> एक दिवस तिनको पकर कियो हुकुम उठ भोर।
> बाधि बाधि सब जौहरी लडे किये ज्यो चोर॥
> हने कटीले कोरडे कीने मृतक समान।
> दिये छोड तिस बार तिन आए निज निज थान॥

[1] ब० अ०, ११
[2] वही।

आय सबन कीनो मतौ भागि जाय तज भौन।
निज निज घरगह साथ लै परै काल मुष कौन ॥
यहु कहि भिन्न भिन्न सब भये।
फूटि फूटि कै चहुँदिशि गये ॥
खरगसेन ले निज परवार।
आये पश्चम गंगापार ॥

वर्षा की अंधकारमयी रात्रि थी। शाहज़ादपुर में अपने को निराश्रय पा कर खरगसेन रोने लगे। इतने में करमचंद नामक एक दयालु माथुर वैश्य आ निकले। उन्हों ने खरगसेन को आश्वासन दिया और अपना घर खाली कर के परिवार समेत खरगसेन को उसी में आश्रय दिया। खाने-पीने की भी सारी वस्तुएँ उन के लिए इकट्ठी कर दी। शाहज़ादपुर में दस मास तक रहने के बाद खरगसेन प्रयाग आए। प्रयाग की बस्ती त्रिवेणी के पास थी और उस का नाम 'इलाहाबास' था। बनारसीदास और उन की दादी जौनपुर रह गए थे। यहाँ बनारसीदास दिन भर में जो थोड़ा बहुत कमाते वह अपनी दादी के आगे नित्य रख दिया करते और दादी जिस का विश्वास सतो आदि में था अपने पोते की पहली कमाई से नित्य प्रसाद-वितरण किया करती। तीन मास के अनंतर खरगसेन का पत्र मिला कि बनारसीदास सकुटुंब फतेहपुर चले जावें। वे फतेहपुर गए। फतेहपुर से भी खरगसेन ने उन्हें 'इलाहाबास' बुला लिया। पिता-पुत्र ने यहाँ सर्राफी का काम किया। छ महीने बाद जब उन्हों ने सुना कि कलीच आगरे चला गया तब वे जौनपुर लौट आए।

एक वर्ष तक शांति रही। सं० १६५७ में शाहज़ादा सलीम जौनपुर आया। वह कोलवन (?) जाना चाहता था। उस समय जौनपुर का हाकिम झम्मू सुल्तान था। अकबर का फर्मान उस के पास आया कि जिस तरह बने सलीम कोलवन (?) न जाने पावे। अकबर की आज्ञा को शिरोधारण कर के नूरम खाँ जौनपुर का गढ़पति हुआ। उस ने मरने की ठान ली। तदनंतर जौनपुर की जनता को जो कष्ट हुआ उस का वर्णन 'अर्द्ध-कथा' के लेखक ने इस प्रकार किया है[1]—

---

[1] अ० क०, १५

इह बिधि अकबर को फरमान ।
सीस चढायो नूरम खान ॥
तब तिन नगर जौनपुर बीच ।
भयो गढपती ठानी मीच ॥
जहा तहां सवत घोवाट ।
नाव न चले गोमती घाट ॥
पुल दरवाजे दिये कपाट ।
कीनो तिन बिग्रह को ठाट ॥
राखे बहु पायक असवार ।
चहु दिसि बैठे चौकीदार ॥
कोट कगूरन राखी नाल ।
पुर में भयो ऊचला चाल ॥
कर बजल गढ सजोवनी ।
अन्न वस्तु जल की ढोवनी ॥
जिरह जीन बदूक अपार ।
बहु दारू नाना हथियार ॥
खोल खजाना खरचे दाम ।
भयो आय सनमुख सग्राम ॥
प्रजा लोक सब व्याकुल भये ।
भाजे वह ऊर उठ गये ॥
महा नगर में भई उजार ।
अब आई अब आई धार ॥
सब जौहरी मिले इकठौर ।
नगर माहि तर रह्यो न और ॥
क्या कीजे अब कौन बिचार ।
मुसकल भई सहत परवार ॥

रहे न कुसल न भागे छेम।
पकरी साप छछूदर जेम॥
तब सब मिल नूरम के पास।
गये जाय कीनी अरदास॥
नूरम कहं सुनो रे साहु।
भावै इहा रहौ कै जाहु॥
मेरो मरण बन्यो है आप।
मै क्या तुमको कहौ उपाय॥
तब सब फिर आए निज धाम।
भागहु जो कछु करौ सुजान॥
आप आप को सब भगे एकहि एक न साथ।
कोऊ काहू की सरण कोऊ कहूँ अनाथ॥

इस भगदड मे बेचारे खरगसेन एक जगल मे भाग निकले। छ-सात दिन पीछे उन्हो ने जब यह सुना कि नगर मे सब शाति हो गई है, क्योकि नूरम खा ने सलीम से क्षमा माँग ली है, तब वे भी अपने घर आए।

बनारसीदास अब कुछ चैतन्य हो गए थे। विन्ही प० देवदत्त के पास जा कर उन्हो ने *नाममाला, अनेकार्थ, ज्योतिष, अलकार, लघुकौमुदी* तथा चार सौ स्फुट श्लोक पढे। स० १६५७ का समय था। चौदह वर्ष की अवस्था मे बनारसीदास को 'इश्क' का दुर्व्यसन लग गया[1]।

तज कुलकान लोक की लाज।
भयो बनारसि आसिक बाज॥
करै आसकी धर मन धीर।
दरद बद ज्यो सेख फकीर॥
इकटक देख ध्यान सौ धरै।
पिता आपने कौ नहि डरै॥

---

[1] ब० अ०, १६

घोरै वती माग कामनी।
आनै पान मिठाई धनी॥
भेजे पेसकसी हित पास।
आप ग़रीब कहावै दास॥

तदनन्तर जौनपुर में एक जैन महात्मा भानुचद मुनि आए। उन से बनारसीदास ने कुछ जैन-धर्म का साहित्य पढ़ा, फिर भी 'इश्क' गला नहीं छोड़ता था। इसी समय बनारसीदास ने एक शृंगार-रस-युक्त रचना की[1]—

कबहू आय सबद नर धरै।
कबहू जाय आसकी करै॥
पोथी एक बनाई नई।
मिति हजार दोहा चौपई॥
तामें नवरस रसना लिखी।
पै विशेष बर्नन आसिकी॥
ऐसे कुकवि बनारसि भये।
मिथ्या ग्रंथ बनाये नये॥

कै पढ़ना कै आसिकी, मगन दोय रस माहि।
खान पान की सुध नहीं, रोजगार कछु नाहि॥

दो वर्षों तक उन की यही दशा बनी रही। माता-पिता ने बहुतेरा समझाया किंतु उस का कुछ भी असर नहीं हुआ। स० १६५९ में बनारसीदास ससुराल गए। एक महीना ससुराल में बीता था कि पौष मास में उन्हें अकस्मात् 'वात का रोग' हो गया। इस 'वात के रोग' से लगातार वे छ महीने तक व्यथित रहे। अत में एक नाई के उपचार से वे स्वस्थ हुए। इस बीमारी में उन्हे बड़ा ही कष्ट रहा। अपनी दुर्गति का जो वर्णन बनारसीदास ने किया है उस के पढ़ने पर गोस्वामी तुलसीदास की उन यातनाओं का

[1] ब० अ०, १७

स्मरण हो आता है जिन का वर्णन उन्हों ने 'वाहुक' के छंदों में किया है। बनारसीदास के 'वात के रोग' का वर्णन इस प्रकार है[१]—

मास एक जब भयौ बितीत।
पौष मास सितपष रितु सीत॥
पूरब कर्म उदै संजोग।
आकस्मात वात को रोग॥

भयो बनारसिदास तनु, कुष्ट रूप सरबंग।
हाड़ हाड़ उपजी बिथा, केस रोम जनु भंग॥
बिस्फोटक अगनित भए, हस्त चरण चौरंग।
कोई नर सौवा ससुर, भोजन करै न संग॥
अैसी असुभ दसा भई, निकट न आवे कोय।
सासू और विवाहिता, करहि सेव तिय दोय॥
जल भोजन की लेहि सुधि, देहि अन्न सुष माहि।
ओषध नावें देह मैं, नाक मूंदि उठि जाय॥

इस अवसर ही नापत कोय।
औषध पुरी पवावै सोय॥
चनें अलौने भोजन देय।
पैसा टका कछू नहिं लेय॥
च्यार मास बीते इस भांति।
तब कछु भई बिथा उपशांत॥
मांस दोय औरी चल गए।
तब बानारसि नीके भये॥

दस दिन अच्छे होने पर खैराबाद में वे और रहे। तदनंतर जौनपुर आए। घर पहुँचने पर पिता ने उन्हें बहुत कुछ बुरा भला कहा। उस के चार महीने बाद खरगसेन पटना

---

[१] अ० अ०, १८

चले गए और बनारसीदास फिर ससुराल आए। इस बार वे लज्जा के मारे बाजार में नहीं निकलते थे। कुछ दिनो बाद वे अपनी स्त्री को ले कर जौनपुर आए। घरवाले उन के विद्या-व्यसन और 'इश्क' के दुर्व्यसन दोनो को एक-सा बुरा समझते थे और इसीलिए उन्हों ने दोनो के विरुद्ध बनारसीदास को उपदेश किया, जिस का कोई प्रभाव उन पर न पडा[1]—

गुरजन लोग देहि उपदेश।
आसिकबाज सुनै दुरवेश॥
बहुत पढ़ै बाम्हन औ भाट।
बनिक पुत्र वह बैठे हाट॥
बहुत पढ़ै सो मागे भीष।
मानहु पूत बडे की सीष॥

इत्यादिक स्वारथ वचन, कहे सबनि बहु भांति।
मानै नहीं बनारसी, रहचो सहज रस माति॥

स० १६६० में खरगसेन पटने से घर वापस आए। उन्हो ने अपनी बडी बेटी का विवाह किया किंतु विवाह के छ-सात दिन बाद ही वह मर गई। बनारसीदास भी इसी बीच बीमार पडे, कोई दवा देनेवाला नही था। बीस लघन करने के पश्चात् वे अच्छे हुए।

स० १६५९ की एक और कथा है। एक सन्यासी ने उन्हे लिख कर एक मत्र दिया और कहा कि उस मत्र के नियमपूर्वक साल भर जप करने से जप पूरा होने पर बनारसीदास को प्रतिदिन प्रात काल अपने दरवाजे पर एक दीनार पडा हुआ मिला करेगा। इसी प्रकार पुन एक वर्ष तक जपने पर उस के आगे फिर एक वर्ष तक वह मिलता रहेगा। बनारसीदास ने सन्यासी की बातो का विश्वास कर के नियमपूर्वक उस मत्र का एक वर्ष तक जप किया। तदनतर जब वे प्रात काल एक दिन दरवाजे पर गए तो उन्हे वहाँ भी दीनार न दिखाई पडा। इसी प्रकार दूसरे दिन भी वे गए तब भी उन्हे वही दीनार न

[1] अ० क०, १९

दिखाई पडा। इस की चर्चा जब उन्हो ने और लोगो से की तो उन्हो ने बनारसीदास से कहा कि यह सब मिथ्या है।

इसी प्रकार, एक दिन एक जोगी बनारसीदास को एक शखोली, अर्थात् छोटी शख दे गया और कह गया कि यह सदाशिव की मूर्ति है। निरतर इसकी पूजा करने से शिव की प्राप्ति होती है। बनारसीदास ने विधिवत् उस की पूजा करनी आरभ कर दी। स० १६६१ के चैत्र में खरगसेन एक यात्रा के लिए चले गए, तब बनारसीदास और भी निरकुश हो गए। कार्तिकी पूर्णिमा के अवसर पर वे काशी गए। वहा भी उस शखोली को वे लेते गए थे और बिना उस की पूजा किए कभी भोजन तक न करते थे। उस शखोली और बनारसीदास का अच्छा साथ रहा[1]—

संख रूप शिव देव, महासंख बानारसी।
दोऊ मिले अबेव, साहिब सेवक एक से॥

काशी में कुछ दिन रह कर बनारसीदास घर वापस आए। खरगसेन भी यात्रा से लौटे। कुछ दिनो के बाद बनारसीदास की स्त्री को एक पुत्र हुआ, जो थोडे ही दिनो में मर गया।

स० १६६२ का कार्तिक आया और छत्रपति जलालुद्दीन अक्बर बादशाह की मृत्यु आगरे में हो गई। इस समाचार को सुनते ही बनारसीदास को चक्कर आ गया। उस समय वे एक सीढी पर बैठे हुए थे, वहाँ से वे गिरे और उन्हे बडी चोट आई[2]—

संवत सोलह सै बासठा।
आयो कातिग पावस नठा॥
छत्रपत अक्बर स्याह जलाल।
नगर आगरै कीनौ काल॥
आई षबर जौनपुर माहि।
प्रजा अनाथ भई बिनु नाह॥
पुरजन लोग भये भयभीत।
हिरदै व्याकुलता मुष पीत॥

---

[1] अ० क०, २२
[2] वही, २४

अकस्मात बानारसी, सुनि अक्बर को काल ।
सीढी पर बैठ्यो हुतो, भयो भरम चित चाल ॥
आय तिवाला गिर पर्यो, सक्या न आपा राख ।
फूटि भाल लोही चल्यौ, कह्यौ देव मुख साखि ॥
लगी चोट पाषान की, भयौ गहेगण लाल ।
हाय हाय सब कर उठे, मात तात बेहाल ॥

गोद उठाय माय ने लियो ।
अंबर फारि घाव में दियो ॥
खाट बिछाय सुवायो लाल ।
माता रुदन करै असि हाल ॥

और जनता में जो खलबली मची उस का कुछ ठिकाना नहीं[1]—

इस ही बीच नगर में सोर ।
भयौ उदंगल चारौ ओर ॥
घर घर देइ दिये हैं कपाट ।
हटवानी नहि बैठे हाट ॥
भले अस्त्र अस भूषण भले ।
सो सब घर में बांधि धरे ॥
हडवाई गाडी कहु और ।
नगदी माल विभरमी ठौर ॥
घर घर सबनि विसाहे सस्त्र ।
लोगन पहरे मोटे बस्त्र ॥
ऊढे कंबल अथवा खेस ।
नारिन पहरे मोटे भेस ॥

[1] ब० अ०, २२

ऊँच नीच कौ नहिं पहिचान।
धनी दलिद्री भये समान॥
चोर धार कहू दीसैं नाहिं।
योंही अपभय लोक डराय॥

अंत में जब लोगों को यह समाचार मिला कि जहांगीर तख्त पर बैठ गया तब उन्हें शांति मिली। बनारसीदास ने यह समाचार सुन कर स्नान किया और दान दिए और उन के घर पर उत्सव मनाया गया[१]—

धांम धाम दिन दस रही, बहुरो बरती सांझ।
चीठी आई सबनि कैं, समाचार इस भांति॥
प्रथम पातस्याही करी, बावण बरस जलाल।
अब सोलह सै बासठै, कातिक हूवो काल॥
अकबर कौ नंदन बडौ, साहिब स्याह सलेम।
नगर आगरे मैं तपत, बैठो अकबर जेम॥
नाव धरायो नूरदीं, जिहांगीर सुलतान।
फिरी दुहाई जगत मैं, बरती जहं तहं आन॥
इह बिधि चिट्ठी मैं लिखी, आई घर घर बार।
फिरी दुहाई जौनपुर, भयो जु जै जै कार॥

परगसेन के घर आनंद।
मंगल भयो गयो दुखदंद॥
बानारसि कियो असनान।
कीजै उत्सव दीजै दान॥

इस घटना के अनंतर एक दिन बनारसीदास इक्के पर बैठे हुए चले जा रहे थे। यकायक वे मन मे यह विचार करने लगे कि उन्हो ने शिव की पूजा व्यर्थ की, क्योंकि जब वे मूर्छित हो कर गिर पडे थे, तब शिव को उन की सहायता करनी चाहिए थी, जिस से

---

[१] ब० अ०, २४

उन्हे चोट न लगती। ऐसा विचार आते ही उन्हो ने शिव की पूजा छोड दी और वह शालोली भी उन्हो ने उठा कर अलग रख दी।

इसी प्रकार एक दिन वे मित्रों के साथ अपनी वही शृंगारपूर्ण रचना ले कर चले। रास्ते में आ कर गोमती के पुल पर बैठ गए। उन्हो ने कुल पोथी बांची। उसे समाप्त करने के अनंतर यकायक उन के मन में यह तरग उठी कि जो व्यक्ति एक झूठ बोलता है, उसे तो नर्क जा कर यातनाएँ भोगनी पडती है और यह पुस्तक अनेक कल्पित बातो से भरी है, जिन में से एक भी सच्ची नही है, तब उन की क्या दशा होगी ? यह बुद्धि होते ही उन्हो ने नीचे नदी की ओर देखा। नदी वेग से बह रही थी, उसी में उन्हो ने अपनी यह रचना डाल दी। मित्र सब हाय हाय करने लगे। नदी गहरी और भयानक थी और उस में पुस्तक के पन्ने बिखर गए। तब, उन्हे कौन एकत्र करता। खरगसेन ने जब यह समाचार सुना तो उन्ह बडी प्रसन्नता हुई। उसी दिन से बनारसीदास के हृदय में धर्म-रुचि जागरित हुई और उन्हो ने 'इश्क' के फदा से अपना पीछा छुडाया और वे जैन-धर्म के नियमो का पालन करने लगे।

खरगसेन की दो लडकियाँ थी, जिन में से एक का विवाह पहले हो चुका था। इस वर्ष उन्हो ने दूसरी का विवाह भी किया। यह पाटलीपुर व्याही गई। स० १६६४ में बनारसीदास का दूसरा पुत्र पैदा हुआ किंतु वह भी केवल चार दिनो में जाता रहा।

अपने लडके को रास्ते पर आया हुआ देख कर खरगसेन प्रसन्न हुए। स० १६६७ में उन्हो ने सर्राफी की वस्तुएँ तथा मार्ग-व्यय के लिए कुछ द्रव्य इधर-उधर से इकट्ठा कर के बनारसीदास को दिया और उन्हे व्यापार के लिए आगरे भेजा। विदा करते समय पुत्र के मस्तक में पिता ने तिलक किया और कहा कि कुटुब के भरण-पोषण का भार अब वह अपने सिर पर ले। बनारसीदास घर से चल कर इटावा पहुँचे। बादल घिर आए और पानी बरसने लगा। बाजार में बैठने के लिए कहीं जगह नही मिलती थी। एक स्त्री ने जब बैठने को भी कहा तो उस के पति ने बनारसीदास को बाँस ले कर धमकाया[1]—

---

[1] ब० अ०, २७

फिरत सबै फरवा भए, बैठन कहूं न कोय।
तलै कीच सौं पग भरे, ऊपर बरपै तोप॥
अधकार रजनी समैं, हिमरुत अगहन मास।
नारि एक बैसन कह्यो, पुरप उछालै बास॥

चलते-चलते बेचारे एक स्थान पर पहुँचे, जहाँ कुछ चौकीदार एक झोपड़ी में बैठे हुए थे। उन बेचारो ने इन्हे शरण दी। वहाँ पर ये तृण बिछा कर लेटे ही थे कि एक और बल-शाली व्यक्ति आया और उस ने इन से कहा कि ये चले जायँ नही तो इन्हे चाबुक खानी पड़ेगी[1]—

तन बिछाय सोए तिस ठौर।
पुरष एक जोरावर और॥
आयौ कहे तुम हिया कौन।
इहै झौपरी हमारो भौन॥
सैन करूह पाट बिछाय।
तुम किस ठावह ऊतर जाय॥
कै तौ तुम अब ही उठ जाउ।
कै मेरे तुम चाबक पाव॥

पानी बरस रहा था, लेकिन बेचारे करते क्या? घबरा कर वहाँ से भी चले। किंतु, फिर उस व्यक्ति को दया आ गई। उस ने हाथ पकड़ कर बैठाया और अपनी चारपाई के नीचे शयन करने की आज्ञा दे दी। रात भर बेचारे उसी चारपाई के नीचे सोये। सबेरा होने पर वहाँ से गए[2]—

तब थानारसि ह्वै हलबले।
बरसत मेह बहुर उठ चले॥
उन दयाल ह्वै पकरी बाहु।
फिर बैठाये छाया माहि॥

---

[1] ब० अ०, २८
[2] वही, २८

दीनो एक पुरानो टाट।
ऊपर आन बिछाई खाट॥
कहं टाट पर कीजै सैन।
मुझे खाट बिनु परै न चैन॥
एव मस्तु बानारसि कहै।
जैसी जाहि परै सो सहै॥
जैसा काते तैसा बुनै।
जैसा बोवै तैसा लुनै॥
पुरख खाट पर सोया तलै।
तीनौं जने खाट कै तलै॥
सोए रजनी भई बितीत।
ऊठ सौर नहिं व्यापी सीत॥

वर्षा बद होने पर बनारसीदास आगरे आए।

आगरे में उन्हो ने व्यापार करना शुरू किया, किंतु मानव स्वभाव से परिचय कम होने के कारण उस व्यापार में इन्हे घाटा ही देना पडा। एक दिन उन्हो ने अपनी दूकान की बहुत सी वस्तुएँ खो दी। इसी बीच इन्हे बडे जोरो का ज्वर भी आ गया। कई लघन करने पडे और एक महीने तक वे बाज़ार न जा सके। आगरे में उन के एक बहनोई रहा करते थे। उन्हो ने बनारसीदास की दुरवस्था का समाचार अपने घर जौनपुर भेजा। उन के घर से खरगसेन ने अपने पुत्र की विपत्तियो का समाचार सुना तो उन्हे बडी ग्लानि हुई। पतोहू तो उन्हो ने तुरत उस के मायके भेज दी।

धीरे धीरे अब बनारसीदास के पास कुछ न रहा। वे घर की वस्तुएँ भी बेच बेच कर खाने लगे। सारी सपति खा गए, दो चार टके रह गए। बाज़ार जाना भी उन्हो ने छोड दिया। रात्रि में वे घर ही पर 'मधुमालती' 'मृगावती' आदि दो-चार पोथियाँ बाँचते, जिसे सुनने दस-बीस आदमी उन के यहाँ रोज़ पहुँच जाया करते। इन्ही श्रोताओ में एक कचौडी वाला भी था। उसी से प्रतिदिन शाम-सबेरे एक सेर कचौडी उधार ले कर वे क्षुधा शात करते। एक दिन एकात देख कर उस कचौडीवाले से बनारसीदास ने अपनी सारी परिस्थिति कह सुनाई और उस से कह दिया कि वह उन्हे अधिक उधार न

दे, क्योकि पीछे दाम वसूल होने मे उसे बडी कठिनाई होगी। उस ने उत्तर दिया कि दस बीस रुपये तक उसे कोई चिंता नही होगी, बनारसीदास वहाँ तक बराबर उधार कचौडियाँ खाया करे। उधार खाते छ-सात महीने बीत गए। दो महीने तक बनारसीदास ने किन्ही ताराचद साहु के यहाँ भी भोजन किया। तदनतर एक धर्मदास के साझे में फिर उन्होने सर्राफे का व्यापार प्रारभ किया। फेरी लगा कर शाम को वे घर लौटते। धीरे-धीरे उन पर लोगो का विश्वास बढने लगा और उन्हो ने कमा कर कचौडीवाले के दाम चुका दिए। उस समय बनारसीदास के ऊपर कचौडीवाले के १४) निकल रहे थे जिन्हे बनारसीदास ने तीन बार कर के चुकाया। साझे का काम दो वर्ष तक चलता रहा। तब बनारसीदास का चित्त वहाँ से उचटा। स० १६७० मे उन्हो ने दूकान की सारी वस्तुएँ बेच कर जब हिसाब किया तो बचती कुछ भी नहीं निकली और सारा परिश्रम व्यर्थ गया। बनारसीदास फिर दरिद्र हो गए। एक दिन वे बाजार जा रहे थे। सयोगवश उन्हो ने जब नीचे दृष्टि की तो उन्हे एक थैली रास्ते में गिरी हुई दिखाई पडी। बनारसीदास उसे उठा कर अपने डेरे को लौट आए। उसे खोल कर देखा तो उस मे आठ मोती निकले। तुरत उन्हे छिपा कर वे पूरब की ओर चल पडे और खैराबाद आए। अपनी ससुराल गए। रात्रि मे स्त्री पूछने लगी कि आगरे की कमाई उन्हो ने क्या कर डाला। बनारसीदास ने उत्तर दिया कि आगरे की सारी कमाई खर्च हो गई और अत में उन के पास कुछ भी शेष न रहा, और अब वे जौनपुर जाना चाहते थे। बातें करते करते सबेरा हो गया और स्त्री ने चुपके से ला कर २०) बनारसीदास के हाथ में रख दिए। माता से उस ने जा कर यह बाते कही और यह भी कहा कि २०) वाली बात प्रकट न होने पावे क्योकि बनारसीदास बडे लज्जालु प्रकृति के थे। माता ने उस से कहा कि वह विशेष चिंता न करे, अगर बनारसीदास आगरे वापस जाने के लिए तैयार हो तो वह सौ मुद्रायें दे सकती थी। दूसरे दिन रात्रि मे स्त्री ने बनारसीदास से पूछा। बनारसीदास तैयार हो गए। स्त्री ने ला कर रुपए गिन दिए। धीरे-धीरे बनारसीदास को ससुराल में चार महीने लग गए। इस बीच उन्हो ने दो सै नाममालायें लिखी और अजितनाथ के छदो की रचना की, और आगरे में विक्रय करने के लिए कपडो के थान घुला-धुला कर इकट्ठे किए, और मोतियो का हार खरीदा और तदनतर यह सब ले कर आगरे गए। वहाँ पहुँच कर उन्होने कपडे का व्यवसाय प्रारभ किया। सयोगवश कपडे की बाजार मदी पड गई।

चार महीने तक बनारसीदास ने कपड़े का काम किया, किंतु कपड़ा बिकता ही नहीं था। इसी बीच आगरे में नरोत्तमदास नामी एक सज्जन से मित्रता हो गई। अपनी गुप्त संपत्ति को भी बेच-बाच कर नरोत्तमदास के साथ बनारसीदास एक बारात करने गए और उस में अपना सारा धन खर्च कर डाला। बारात से लौट कर आगरे आए।

अब दोनों मित्रों में पटने जाने की ठहरी। नरोत्तमदास के ससुर ने भी साथ चलना चाहा। तीनों व्यक्ति पटने की ओर चल पड़े। चलते-चलते शाहज़ादपुर पहुँचे। एक सराय में ठहरे। चांदनी रात थी, समय का ठीक अनुमान न कर सके, सवेरा होता समझ कर वे चल पड़े। एक बोझिया साथ में ले लिया था। रास्ता भूल गए और अचानक वे एक जंगल में आ पहुँचे। बोझिया रोने लगा और वह भाग निकला। तीनों व्यक्तियों ने बोझा आपस में बाँट लिया और आगे बढ़े। बोझा कभी वे कंधे पर रखते थे कभी सिर पर। जब आधी रात हो गई तब वे बड़े घबराए। चलते-चलते तीनों व्यक्ति उस स्थान पर पहुँचे जहाँ चोरों की बस्ती थी। बड़ी कठिनाई में पड़े। यहाँ अगर बनारसीदास ने चतुरता से काम न लिया होता तो तीनों व्यक्तियों की न जाने क्या दुर्दशा हुई होती। बनारसीदास ने ब्राह्मण बनने का ढोंग किया तब उन की जान बची। इस घटना का वर्णन कवि ने नीचे लिखे शब्दों में किया है[1]—

> चले चले आये तिस ठाव।
> जहा बसैं चोरन को गाव॥
> बोला पुरुष एक तुम कौन।
> गये सूषि मुष पकरी मौन॥
> इन परमेस्वर की लौ धरी।
> वह था चोरन का चौधरी॥
> तब बनारसी पढ़ा सिलोक।
> दे असीस उन दीनी धोक॥

---

[1]अ० क०, ३८

कहै चौधरी आवहु पास।
तुम्ह नारायन मैं तुम दास॥
आज बसौ मेरी चौपार।
मेरे तुम्हरे बीच मुरारि॥
तब तीनौ नर आये तहां।
दिया चौधरी थानक जहां॥
तीनौ पुरुष भये भयभीत।
हिरदे मांहि कंप मुष पीत॥

सूत काढ़ि डोरा बट्यो किए जनेऊ च्यार।
पहिरे तीन तिहू जने राख्यो एक उबार॥
माटी लीनो भूम सू पानी लीनौ ताल।
बिप्रभेद तीनौ बने टीका कीन्यो भाल॥

पहर दोय लौं बैठे रहे।
भयो प्रभात बाहर पूछै है॥
हैं आरूढ़ चौधरी ईस।
आयो साथ और ना बीस॥
उठ कर जोरि नवायो सीस।
इन उठ कर दीनी आसीस॥
कहै चौधरी पंडितराय।
आछहु मारग देय दिषाय॥
परायौन तीनो उठ चले।
मस्तग तिलक जनेऊ गलै॥
सिर पर तीनहु लीनो पोट।
तीन कोश जंगल की ओट॥
गए चौधरी किया निबाह।
आई फतेपुर की राह॥

वहं चौधरी इस मग माहि ।
जाहु हमैं आज्ञा हम जाहिं ॥
फत्तेपुर इन रुपन तलै ।
चंजीव कहि तीनौ चले ॥

चार कोस चलने पर वे फत्तेहपुर पहुँचे, और फत्तेहपुर से आगे चल कर तीनों व्यक्ति 'इलाहावास' पहुँचे।

'इलाहावास' में खरगसेन से भेंट हुई। बनारसीदास की विपत्तियाँ सुन कर वे मूर्छित हो कर गिर पडे और चार घडी तक अचेत पडे रहे, तब उन्हें चेत हुआ। डोली पर बनारसीदास पिता को जौनपुर लिवा आए। वहाँ से नरोत्तमदास को साथ ले कर बनारसीदास व्यापार के लिए बनारस गए। स० १६७१ के वैशाख शुक्ल में बनारसीदास ने सुपार्श्वनाथ का व्रत किया और उन की पूजा की। वहाँ व्यापार करने लगे। कुछ दिनों के बाद उन्हें खरगसेन का पत्र मिला कि खैराबाद में उन की स्त्री का तीसरा पुत्र उत्पन्न हुआ। यह समाचार पा कर मित्रों को सुख हुआ। किंतु, फिर उन्हें यह समाचार मिला कि १५ दिन बाद ही माता और पुत्र दोनों की मृत्यु हो गई। बनारसीदास की स्त्री की एक छोटी बहिन थी, पहली स्त्री के मरते ही उस के पिता ने नाई भेज कर अपनी इस कन्या के विवाह के लिए बनारसीदास का तिलक भेज दिया, जिसे बनारसीदास ने स्वीकार कर लिया। छ-सात महीने बनारस में रह कर दोनों मित्र जौनपुर आए। जौनपुर में उस समय कोई चिनी कलीच खा मीर था। बनारसीदास से उस से मित्रता हो गई। वह बनारसीदास से कभी 'नाममाला' पढता था कभी छंद, कभी कोष या कभी 'श्रुतबोध'। वह बनारसीदास पर बहुत स्नेह रखने लगा था, किंतु स० १६७२ में उस की मृत्यु हो गई। अब दोनों साथी पटने गए। छ-सात महीने वहाँ भी रहे किंतु कोई कमाई न हुई इस लिए जौनपुर वापस आ गए। यहाँ उन्हों ने व्यापार का सिलसिला शुरू किया। इसी समय बादशाह ने आगानूर को उमराव बना कर जौनपुर भेजा और दोनों मित्र अयोध्या की यात्रा के लिए रवाना हुए। उन्हों ने अयोध्या की यात्रा की और रौनाई जा कर वे धर्मनाथ के सेवक हुए। लौटते हुए रास्ते में उन्हों ने सुना कि आगानूर ने जौनपुर में बडा उत्पात मचा रक्खा है। यह समाचार सुन कर वे लोग ४० दिनों तक जगल में छिपे रहे। तदनंतर जब उन्हों ने यह सुना कि आगानूर आगरे चला गया तब जौनपुर आए।

जौनपुर पहुँचने पर दोनों मित्रो को आगरे से आया हुआ सबलसिंह का पत्र मिला जिस में उन्हो ने दोनो व्यक्तियो को आगरे बुलाया था। सबलसिंह नेमीसाहु के पुत्र थे। दोनों साथियो ने चलने की तैयारी की, किंतु इसी समय खरगसेन बीमार पड गए। स० १६७६ की वैशाख शु० ७ को (यहाँ सभवत स० १६७६ भूल से लिखा गया है, होना चाहिए था स० १६७३, जैसा पूर्वापर सबध से ज्ञात होगा) दोनो साथियो मे साझे का हिसाब हुआ और पिता की सेवा के लिए बनारसीदास को छोड कर नरोत्तमदास आगरे के लिए रवाना हुए। ज्येष्ठ कृ० ५ को खरगसेन का स्वर्गवास हो गया। बनारसीदास पिता की मृत्यु पर भरपेट रोए, किंतु अत में यह समझ कर उन्हे हृदय कडा करना ही पडा कि ससार में कोई भी सदैव जीवित नही रहा है। एक मास बाद फिर सबलसिंह का पत्र आया, और बनारसीदास भी आगरे के लिए चल पडे। मार्ग मे घाटमपुर के निकट एक बडी विचित्र घटना हुई। मार्ग मे एक माहेश्वरी तथा दो ब्राह्मण मिल गए थे। सराय में सब साथ ही ठहरे। दोनो में से एक ब्राह्मण को कुछ फुटकर पैसो की आवश्यकता हुई। वह एक सर्राफ के यहाँ एक रुपया ले कर भुनाने गया। रुपया भुना कर जब वह ब्राह्मण लौटा तब पीछे-पीछे सर्राफ भी आया और कहने लगा कि वह रुपया जिसे ब्राह्मण ने भुनाया था जाली था। ब्राह्मण ने कहा कि उस का रुपया जाली नही था। दोनो मे बातें बढ गईं और ब्राह्मण ने सर्राफ को खूब पीटा। इसी बीच सर्राफ का एक भाई भी आ गया। उस ने टटोल कर देखा कि ब्राह्मण की थैली में पचीस रुपये थे। यह देख कर वह घर चला गया और पचीस खोटे रुपए ला कर ब्राह्मण की थैली मे उस ने चुपके से रख दिए और अच्छे रुपये उस मे से निकाल लिए, और वह ब्राह्मण की थैली लिए हुए कोतवाल के पास चला गया और कोतवाल से उस ने कहा कि सराय में चोर आए हुए है यदि उन्हे यकायक घेर लिया जावे तो वे मिल जायँगे। कोतवाल हाकिम के पास गया, हाकिम ने साथ में दीवान कर दिया। शाम को कोतवाल और दीवान दोनो सराय मे आए। ब्राह्मणो को बुलवा कर उन्होंने पूछा कि वे कौन थे। ब्राह्मणो ने उत्तर दिया कि वे ब्राह्मण थे। तदनतर उस माहेश्वरी और बनारसीदास से भी उन्हो ने वही प्रश्न किया। इन्हो ने कहा कि वे आगरे नेमीसाहु के यहाँ जा रहे थे और व्यापारी थे। कोतवाल को इन की बातो पर विश्वास नही हुआ। उस ने इन्हे रात भर का समय दिया कि अपनी पहिचान के लोग घाटमपुर,

कोरडा, तथा वरी नामक तीन गाँवो में ढूढें नही तो जान न बचेगी। यह कह कर चौकी बैठा दी और स्वय दोनो चले गए। रात्रि भर बनारसीदास और वह माहेश्वरी जागते रहे। सोचते-सोचते उस माहेश्वरी को रात के पिछले पहर मे यह याद आया कि उसके छोटे भाई का लडका वरी में ही ब्याहा था और वह यहाँ बारात के साथ आया था। यह बात उस ने बनारसीदास से बताई तब कुछ चिंता कम हुई। सवेरा होते ही उन्नीस शूलियाँ उन्नीस मजदूरो के सिर पर कोतवाल ने सराय में भजी और तदनतर कोतवाल दीवान तथा उस पुर के लोग आए। उन के आते ही बनारसीदास ने कहा कि वरी में उन की एक पहिचान निकल आई। दीवान को विश्वास नही हुआ, उस ने चल कर दिखाने को कहा। माहेश्वरी के साथ दीवान गया। माहेश्वरी को देखते ही उस के समधी ने बडे आदर-पूर्वक उस का स्वागत किया और माहेश्वरी को रोक लिया। दीवान लौट कर आया और कोतवाल से कहने लगा कि बनारसीदास की बात सच्ची निकली। तब दीवान और कोतवाल चले गए। एक पहर दिन चढने पर बनारसीदास छ-सात सेर फुलेल ले कर दीवान के पास पहुँचे और यथायोग्य सब को फुलेल दे कर उन्हो ने प्रसन्न किया। सर्राफ को सजा देने के लिए उन्हो ने कहा तो दीवान ने उत्तर दिया कि सर्राफ की खोज कराई गई थी, किंतु वह मिला नही, वह पहिले ही अपना माल असबाब ले कर भाग गया था। बनारसीदास डेरे पर आए रात को माहेश्वरी भी आया। सवेरे उठ कर वे दोनो आगरे के लिए चले। रास्ते में बनारसीदास को नरोत्तमदास की मृत्यु का समाचार मिला। समाचार पाते ही वे मूर्छित हो कर गिर पडे। होश आने पर फिर चले और नदी के इस पार आगरे के निकट जब वे पहुँचे तब उन्हे फिर दो ब्राह्मण मिले और अपघात करने का भय दिखा कर इन लोगो से पचीस रुपये माँगने लगे। मजबूर हो कर बारह रुपये माहेश्वरी ने और तेरह बनारसीदास ने दिए। बनारसीदास आगरे पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्हो ने साहु का हिसाब किया और साझा समाप्त किया।

अगहन स० १६७३ में बनारसीदास ने अलग एक मकान रहने के लिए किराए पर लिया। इसी समय आगरे में पहली मरी का प्रकोप हुआ। उस मरी का वर्णन बनारसीदास ने इन शब्दो में किया है[1]—

---

[1] ब०अ०, ५१

इस ही समैं ईत बिस्तरी।
परी आगरें पहिली मरी॥
जहा तहा सब भागे लोग।
परगट भया गाठ का रोग॥
निकसै गाठि मरैं छिन माहि।
काहू की बसाय कछु नाहि॥
चूहे मरैं बैद मर जाहि।
भय सौ लोग अन्न नहि खाय॥

आगरे के निकट ब्राह्मणो की एक बस्ती थी जिस का नाम अजीजपुर था। बहुत से लोग भाग कर यही चले आए थे। बनारसीदास ने भी यहाँ आ कर किराये पर एक मकान लिया। जब मरी शात हुई तब सब लोग अपन घर आए, और बनारसीदास भी आगरे आए। इस मरी के पीछे वे एक बारात में अमृतसर गए और फिर आगरे वापस आए। इसी बीच उन की माता भी जौनपुर से आगरे आ गईं और बनारसीदास आगरे में ही रहने लगे। खैराबाद जा कर उन्हो ने अपना दूसरा विवाह किया, और आगरे लौट आए।

स० १६७५ में उन्हो ने अहिछत्र की पूजा की और हस्तिनापुर की यात्रा की। लौटते समय वे दिल्ली और मेरठ होते हुए आगरे आए। धर्म-रुचि की ओर वृद्धि हुई। स० १६७६ में बनारसीदास की इस दूसरी स्त्री को लडका पैदा हुआ, किंतु स० १६७७ में उन की माता का स्वर्गवास हो गया और फिर स० १६७९ में उन के उस पुत्र और उस स्त्री का भी देहात हो गया। बनारसीदास की तीसरी सगाई फिर खैराबाद में किन्ही बेगा साहु की कन्या से हुई। स० १६८० में वे विवाह कर के आगरे लौटे। यहाँ उन्हे रायमल नाम के एक जैन विद्वान् मिले जिन्हो ने 'समयसार' नामक जैन-ग्रथ की टीका की। 'समयसार' की उक्त टीका के अध्ययन से बनारसीदास को कुछ वैराग्य की स्फूर्ति हुई और उन्हो ने 'ज्ञान-पचीसी', 'ध्यान-बत्तीसी' तथा आध्यात्मिक गीतो की रचना की और अनेक कवित्तादि भी रचे। किंतु तीन कुमति-युक्त व्यक्तियो के साथ से बनारसीदास की कुछ विचित्र दशा हो गई। वे जिन-प्रतिमाओ का मन में निरादर करने लगे और

मुख से अकथनीय बातें कहने लगे। गुरु के सामने जिस बात के लिए प्रतिज्ञा करते, घर आ कर उसी का उल्लंघन करते। दिन-रात पशु की भाँति खाते और घर में मस्त पड़े रहते। दिनोंदिन दशा कुछ विचित्र होती जा रही थी। स० १६८४ के आषाढ़ में इस तीसरी स्त्री से उन का पहला लड़का पैदा हुआ, किंतु वह भी अल्पायु में ही चल बसा। इसी समय बाईस वर्ष राज्य करने के अनंतर काश्मीर के रास्ते में लौटते समय अचानक छत्रपति जहाँगीर की मृत्यु हो गई। चार मास बीतने पर शाहजहाँ तख्त पर बैठा और उस ने चारों ओर संसार में अपना सिक्का जमा लिया। स० १६८४ में वह आगरे में सिंहासन पर बैठा। स० १६८५ में बनारसीदास की इस स्त्री को दूसरा पुत्र हुआ किंतु एक वर्ष का होने पर वह भी जाता रहा। स० १६८७ में फिर तीसरी बार उन की इस स्त्री को लड़का हुआ और स० १६८९ में एक लड़की पैदा हुई। यह लड़की भी कुछ दिनों में चल बसी। सभी लड़के लड़कियाँ जो पैदा हुए मरते गए, अंत में केवल एक पुत्र बच रहा। इस बीच बनारसीदास ने और कई नवीन रचनाएँ की—'सूक्त मुक्तावली' 'अध्यात्म-बत्तीसी', 'पैंडी फाग और धमार', 'सिंधु चतुर्दशी', स्फुट कवित्त, 'शिष्य-पचीसी', 'सहस्रठोत्तर नाम', 'कर्म-छत्तीसी', 'झूलना' तथा 'रावण और राम में अंतर' (?)। स० १६९२ में आगरे में रूपचंद नामी एक महात्मा आए जिन्हों ने 'गोमटसार' की रचना की थी। उन के सत्संग से पहले स्यादवाद की ओर जो बनारसीदास का झुकाव हो चला था वह जाता रहा। 'गोमटसार' सुनने से बनारसीदास को बड़ी शांति मिली। किंतु स० १६९२ में ही रूपचंद का देहावसान हो गया। रूपचंद के उपदेशों से बनारसीदास और दृढ़ जैन हो गए और तदनंतर उन्हों ने एक ही आशय की अनेक आध्यात्मिक रचनाएँ की। हृदय में जो थोड़ी बहुत कालिमा थी वह जाती रही और उन की सम्यक्-दृष्टि हो गई। स० १६९३ में उन्हों ने 'समयसार नाटक' का भाषानुवाद किया, जिस में ७२७ कवित्त हैं। स० १६९६ में उनके चौथे पुत्र की भी मृत्यु हो गई। बनारसीदास बड़े दुखी हुए। दो वर्ष तक उन्हें यह दुख बना रहा, तब उन्हें शांति मिली। इन पचावन वर्ष की अवस्था में ही बनारसीदास की तीन स्त्रियाँ हुईं जिन से दो कन्याएँ और सात पुत्र पैदा हुए और मरे। अंत में केवल पति-पत्नी रह गए। 'स्त्री, पुत्र, और कन्याएँ, सभी मोह के बंधन हैं, जिस प्रकार ये कम होते जाते हैं उसी प्रकार चित्त को शांति भी मिलती जाती है।' इस प्रकार अपनी कथा कहने के अनंतर बनारसीदास ने अपने गुण-दोष भी कहे हैं। इन गुण-दोषों

से उन के व्यक्तित्व का यथार्थ बोध होता है। हम देखेंगे कि अपने गुण-परिचय में कोई ऐसी बात वे नहीं कहते जिस से किसी प्रकार का अहम्मन्यत्व हमें उन के चरित्र में ज्ञात हो सके। और, अपने दोषों के कथन में भी वे हम से कुछ छिपा नहीं रखते। अपने गुणों का परिचय वे निम्नलिखित शब्दों में देते हैं[1]—

अब बानारसि के कहूं वर्तमान गुण दोष।
बिद्यमान पुर आगरै सुष सौ रहै सजोष॥

भाषा कहैं अध्यातम माहि।
पढ़ता और दूसरो नाहि॥
छिमावंत संतोषी भला।
भली कबित पढ़िवे की कला॥
पढ़ै संसकृत प्राकृत सुद्ध।
बिबिधि देस भाषा प्रति वुद्धि॥
जानै सरब अरथ को भेद।
मानै नहीं जगत को वेद॥
मीठो बोलै सब सौं प्रीत।
जैन धर्म की दिढ परतीत॥
सहनसील नहि कहैं कुबोल।
सुथिर चित्त नहि डामाडोल॥
कहैं सबन सौं हित उपदेश।
हृदै सुष्ट दुष्टता न लेस॥
पर रमनी कौं त्यागी सोय।
कुकबि न और न ठानैं कोय॥
हियैं शुद्धि समकित की टेक।
इत्यादिक गुण और अनेक॥

[1] ब० अ०, ५७

किंतु इस विश्वास से कि

अल्प अघन्न कहे गुन जोय।
नहि उतकृष्ट न निर्मल कोय ॥

अपने दोषो का परिचय भी वे निम्नलिखित शब्दो में देते हैं[1]—

कहे बनारसि के गुन जथा।
दोष कथा अब बरनौ तथा ॥
क्रोध मान माया जल रेष।
पै लछमी को लोभ बिशेष ॥
पोतैं हांस करम का उदा।
घर सौ हुवा न चाहै जुदा ॥
करै जो जप तप संजम रीत।
नही दान पूजा सौं प्रीत ॥
थोरे लाभ हर्ष बहु धरै।
अलप हीन बहु चिंता करै ॥
मुख वद्या भाषत न लजाय।
सीषै भड कला मन लाय ॥
भाषै अकथ कथा बिरतंत।
गने नृत्य पाय एकांत ॥
अनदेषी अनसुनी बनाय।
कथा कहै सभा में आय ॥
होय न मगन हास रस पाय।
मृषा वाद बिनु रह्या न जाय ॥
अकस्मात भय ब्यापै घनी।
ऐसी दसा आय कर बनी ॥

---

[1] ब० अ०, ५८

कबहू दोष कबहू गुन होय।
जाको उदौ सु परगट होय।
इह बनारसी जो की बात।
कहूँ मूल जो हुतौ विख्यात॥
और जो सूक्ष्म दसा भगवत।
ताको गति जानै भगवत॥

रचना के अत म कवि उस का समय इस प्रकार देता है[१]—

सोलह सै अट्ठाणवे, सवत अगहन मास।
सोमवार तिथ पचमी, सुकल पक्ष परगास॥
ताके मन आई यह बात।
अपनो चरित कह्यो विख्यात॥
तब तिन बरस पच पचास।
परमत दसा कही है भास॥
आगे जो कछु होयगी और।
तैसी समझैगे तिस ठौर॥

'अर्द्ध-कथा' नाम रखने का कारण कवि इस प्रकार देता है[२]—

बरतमान नर आव बखान।
बरष एक सौ दस परवान॥
तातै अरध कथान मह, बानारसी चरित्र।
दुष्ट जीव सुन हसहिगे, कहै सुनैगे मित्र॥

और अत मे पुस्तक की छद-सख्या देते हुए वह उसे समाप्त करता है[३]—

सब दोहा और चौपई, छ सै पिचत्तर जान।
कहै सुनै बाचै पढै, तिन सब कौ कल्यान॥

---

[१] अ० अ०, ५९
[२] वही, ६०
[३] वही, ६०

महाराजा अजितसिंहजी के नाम का महाराना संग्रामसिंह जी द्वितीय का एक पत्र

[लेखक—श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ]

मारवाड-नरेश महाराजा अजितसिंह जी का जन्म विक्रम-सवत् १७३५ की चैत्र बदी ४ (ई० स० १६७९ की १९ फरवरी) को लाहौर में हुआ था। यह उन प्रबल पराक्रमी राठोड वीर महाराजा जसवतसिह जी प्रथम के पुत्र थे जिन की स्वाधीन प्रकृति के सामने कट्टरपथी मुगल सम्राट् औरगजेब को भी खुल कर खेलने का मौका नही मिलता था। इसी से वह मन ही मन कुढते रहने पर भी समय-समय पर उन का सम्मान कर उन्हे शात रखने की चेष्टा करता था। हाँ, जहाँ तक होता वह उन्हे दूर-देशो के प्रबध में ही लगाए रखता था।

इसी से जब वि० स० १७३५ की पौष वदी १०, (ई० स० १६७८ की २८ नवबर) को जमरूद में महाराजा जसवत का स्वर्गवास हो गया, तब उस ने आज तक के वैर का प्रतिशोध करने के लिए तत्काल मारवाड पर अधिकार कर लिया, और साथ ही मदिरो को तुडवा कर मसजिदें बनवाने और चिरवाछित जजिया जारी करने की आज्ञाएँ भी दे दी।

यद्यपि महाराजा अजित के जन्म पर मारवाड के सरदारो ने उन का पैतृक राज्य उन्हे लौटा देने की बहुत कुछ प्रार्थना की, तथापि वह इधर उन्हे बहाने बना-बना कर टालता रहा, और उधर मारवाड को स्थायी रूप से हडप लेने का प्रबध और भी ज़ोर शोर से करने लगा। यह देख कर स्वर्गवासी महाराजा जसवत के साथ के सरदार बालक महाराजा अजितसिंह को छल-बल के द्वारा शाही पजे से निकाल कर मारवाड में ले आए। परतु उस समय मारवाड में मुगलो का दौर-दौरा हो चुका था। इस लिए करीब आठ वर्ष तक तो बालक महाराजा को अज्ञातवास मे रहना पडा, और इस के बाद करीब बीस

वर्षं तक इन के स्वामिभक्त सरदार और (बडे होने पर) स्वय महाराज मुगलो से लोहा लेते रहे। वि० स० १७६३ की चैत्र वदि ५ (ई० स० १७०७ की १२ मार्च) को कही जा कर इन का अधिकार जोधपुर पर हुआ। फिर भी अभी विघ्न-बाधाओ ने इन का पीछा पूरी तौर से नही छोडा था। परतु समय की गति ने एकाएक ऐसा पलटा खाया कि वि० स० १७७५ के भादो (ई० स० १७१८ के अगस्त) में उस समय के मुग़ल-सम्राट् फर्रुखसियर को स्वय प्रबल-प्रतापी महाराजा अजितसिह जी की सहायता की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। परतु उस की अव्यवस्थित-चित्तता के कारण शीघ्र ही महाराज का विश्वास उस पर से उठ गया, और इन्हो ने सैयद-भ्राताओ से मिल कर उस के स्थान पर रफीउद्दरजात को बादशाही तख्त पर बिठा दिया।

इस के बाद महाराजा अजितसिह जी के कहने से नए बादशाह ने जजिया उठा कर तीर्थों पर लगनेवाला कर भी माफ कर दिया। उस समय की घटनाओ से सबध रखनेवाला मेवाड-नरेश महाराणा सग्रामसिह जी का एक पत्र आगे उद्धृत किया जाता है। इस से प्रकट होता है कि वे ही महाराजा अजितसिह जी, जिन को अपने जन्म-समय मुगल-सम्राट् के कोप के कारण प्राण बचाने तक कठिन हो गए थे आगे चल कर कुछ काल के लिए मुगल बादशाह के मुख्य सहायक ही हो गए।

पत्र की नक़ल

(सीधी तरफ)

१—स्वस्ति श्री ढीली मुथाने महाराजा [धिराज महा]
२—[रा] जजी श्री महाराज श्री अजीत [सिहजी.....
३—(उ) देपुर था राणा सग्राम सिंघ लिखावत [मुजरे]
४—वाचजो जी अठारा समाचार भला है जी रावला
५—कागद समाचार सदा म्हावजीजी राजठाकु[र]
६—हो थडा हो हेत मया राखो हो तीर्थां बोसेस [रखा]
७—वजोजी यो राजरो घर है उठा अठारा [एक था]
८—त कर जाणजीजी जुदायगी कणी बात [न]

९—लेखवोजी————

१०—अप्र [च] राजरो कागद आयो तया राजली [खीफ]

११—रुखसेर कोताअंदेसरे कहे म्हां हुं बुलाया था

१२—सो सेदा थी नें मायी ओरतरे वोचारी थी जणी

१३—प्रे अमीरल उमराव दीवण थी बुलावे ने...

१४—साह रफी अलदरजात तखत बैठाया नें

(उलटी तरफ)

१५—हिंदुस्थान रो जेजीयो छुडायो ने तीरथांरो अ—

१६—टकाव थो सो मीटायो लीख्या सो सगली हकी—

१७—कत वांच्यां थी घणी खुस्याली हुई सो राज स—

१८—रीखो अठा पेहली कोई हिंदुवां माहे........

१९—हुओ न असुं हेगो ईश्वर ईसा मोटा.......

२०—ना घणी घणी ऊपजावे ईणी वातम... ....

२१—हुं वडो नफो हे सो ईत्रादीन तुरकां रा अ........

२२—या सो वे आपणा आसीरत हुआ........[हुं]

२३—कीकत लीखी सो ईवारुं हिंदुस [था] न रो वोज.......

२४—लो उणाहीज थो हे ने...पण........

२५—कर ठेठ थी जाणे हे सो आपां हे........

२६—वरकार हे में कोता अंदेस तुरक

२७—री बात आगे हो हलको नीजर आ [ई......वि]

२८—[ना] वोचारे काम न करेगा ने हलका [ला] गानेअ [ठा]

२९—री वात सदा राजरा घररी हे ज्युही जांणे काम चा-

३०—करी फुरमावेगा राज करे आखा हिंदुस्था [न में]

३१—नचीता ई हैं म्हे तो घणा नचीता हां [घणो कांई]

३२—लीखां संवत् १७७५ वर्षे वेसाख वदी ११

(सीधी तरफ आड़ी लकीर में महाराणा की स्वहस्त लिपि में)

१—श्री [राज] राजेश्वरजी हजुर मुजरो मालम व्हे थी [जी] रा प्रताप

२—थी ... [मो] टी फते कोई जणी ....खी लखी सो [अणीरी] वात सारा हींदुसथांने

(उलटी तरफ आड़ी लकीर में महाराणा की स्वहस्त लिपि में)

३—कलस चढयो—ईसी मोटी वात राजयीज वणं सबज ...... री

४—वाते नचीता [हा] ....ईतरे राज जोग हे।

कविवर नंददास और उन की रचनाएँ

[लेखक—श्रीयुत बलभद्रप्रसाद मिश्र, एम्० ए०]

जीवनी

नंददास के छः ग्रंथ—(१) 'रासपंचाध्याई', (२) 'भँवरगीत' (३) 'अनेकार्थ-मंजरी', (४) 'नाममाला', (५) 'रुक्मिनी-मंगल', और (६) 'स्याम-सगाई'—मुद्रित रूप में मेरे देखने में आए हैं। इन में से किसी में भी कवि ने अपने संबंध में कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः उन की जीवनी पर प्रकाश डालनेवाला कोई आंतरिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कुछ पुराने ग्रंथों में अवश्य ही नंददास के संबंध में एक-आध उल्लेख मिलते हैं, परंतु वे भी इतने अपर्याप्त हैं कि उन के आधार पर नंददास की शृंखलाबद्ध जीवनी उपस्थित नहीं की जा सकती। ये ग्रंथ नाभादास-कृत, 'भक्तमाल', बाबा वेनी-माधवदास-कृत, 'मूल गोसाईंचरित',[1] ध्रुवदास-कृत 'भक्तनामावली', गोकुलनाथ के नाम से प्रचलित 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता',[2] तथा 'श्रीनाथ जी के प्राकट्य की वार्ता'[3] है।

---

[1] इस ग्रंथ की ऐतिहासिकता अत्यंत संदिग्ध है। देखिए 'हिंदुस्तानी', जुलाई १९३२, पृष्ठ २५३–२६७

[2] यह ग्रंथ गोकुलनाथ-रचित न हो कर कदाचित् सत्रहवीं शताब्दी के बाद 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुकरण पर किसी अन्य वैष्णव भक्त द्वारा लिखा हुआ जान पड़ता है। देखिए 'हिंदुस्तानी', अप्रैल १९३२, पृष्ठ १८३–१८९

[3] इस ग्रंथ की सन् १८८४ में लीथो में मुद्रित प्रति श्री धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, अध्यक्ष हिंदी-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, को प्राप्त हुई थी। इस के संक्षिप्त परिचय के लिए देखिए 'हिंदुस्तानी', अप्रैल १९३३, पृष्ठ १०३–१०७

'भक्तमाल' से नंददास की जीवन-संबंधी तीन बातें ज्ञात होती हैं—(१) नंददास रामपुर गांव के रहने वाले थे। (२) यह उच्च कुल (अथवा सुकुल आस्पद) के थे, और (३) इन के बड़े या छोटे भाई का नाम चंद्रहास था।[१]

'मूल गोसाईंचरित' से यह पता चलता है कि (१) नंददास कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, (२) इन्हों ने गोस्वामी तुलसीदास के साथ-साथ शेष सनातन से शिक्षा प्राप्त की थी और इस प्रकार ये दोनों गुरुभाई थे, और (३) तुलसीदास भ्रमण करते हुए मार्गशीर्ष सुदि ५ को जब वृंदावन गए तो उन्हीं दिनों वहीं पर नंददास तुलसीदास से आकर मिले।[२]

'भक्तनामावली' में नंददास का जो उल्लेख है उस में उन की कविता की प्रशंसा के अतिरिक्त उन के जीवन-संबंधी वृत्त की कोई बात नहीं दी है। अतः उस से केवल

---

[१] नाभादास ने 'भक्तमाल' में नंददास पर निम्न छप्पय दिया है :—

लीला पद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर।
सरस उक्ति युत जुक्ति भक्ति रसगान उजागर॥
प्रचुर पयध लौं सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संवलित भक्ति पद रेनु उपासी॥
चंद्रहास अग्रज सुहृद परम प्रेम पै मैं पगे।
श्रीनंददास आनंदनिधि रसिक सु प्रभु हित रंग मगे॥

(नवलकिशोर प्रेस—प्रथम संस्करण, पृ० ६७८)

इस छप्पय पर प्रियादास ने कोई टीका नहीं की है।

[२] ....संवत् लगु उनचास।

....

बसीबन नाम धरयो बटरय।
मगसर सुदि पंचमी रास रचय॥
वृंदावन में तेह ते जु गये।
सुठिराम सुघाट पै बास लये॥

....

नंददास कनौजिया प्रेम मढ़े।
जिन सेष सनातन तीर पढ़े॥
सिच्छा गुरु बंधु भये तेहिते।
अति प्रेम सों आय मिले यहिते॥

('मूल गोसाईंचरित'—बाबा बेनीमाधवदास-कृत, पृष्ठ २८–२९, प्रथम संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर।)

इतना ही प्रमाण प्राप्त किया जा सकता है कि नंददास ध्रुवदास के पूर्ववर्ती अथवा उन के समकालीन थे।[१]

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में नंददास के पुष्टिमार्ग में आ जाने के बाद का धार्मिक एवं भक्ति-पूर्ण वृत्तांत साम्प्रदायिक गुणगान के ढंग से लिखा गया है। इस में से नंददास के व्यक्तिगत स्वभाव तथा उन की जीवनी-संबंधी ये उल्लेख मिलते हैं—(१) श्री गुसाईं जी (विट्ठलनाथ) ने नंददास को दीक्षा दे कर अपना शिष्य बनाया; (२) पुष्टिमार्ग में आने के बाद नंददास गोवर्धन और गोकुल में रहा करते थे, (३) वे तुलसीदास के छोटे भाई थे,[२] और (४) नंददास नाच-तमाशा देखने और गाना सुनने के बड़े शौकीन तथा अत्यंत प्रेमी स्वभाव के थे।[३]

'गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में नंददास के संबंध में यह उल्लेख मिलता है कि श्रीनाथ जी की सेविका रूप-मंजरी से नंददास की मित्रता थी और उन्हीं के लिए नंददास ने 'रूपमंजरी' नामक ग्रंथ लिखा।

---

[१] नंददास जो कछु कह्यो रागरंग में पागि।
अक्षर सरस सनेह में सुनत श्रवन उठि जागि॥
रमन सदा अदभुतहु ते करन किल (? कवित्त) सुठार।
बात प्रेम की सुनत ही छुटत नैन जलधार॥
बावर सो रस में फिरै खोजत नेह की बात।
अच्छे रस के वचन सुनि बेगि विवस ह्वै जात॥

(भारतजीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित 'ध्रुवसर्वस्व' के पृष्ठ १९५ पर दिए हुए 'भक्तनामावली' के दोहे नं० ७७–७९)

ध्रुवदास ने अपने 'रहस्यमंजरी' ग्रंथ का रचना-काल इस प्रकार दिया है—
सत्रह सै द्वै ऊन अरु, अगहन पछि उजियारि।
दोहा चौपाई कही, ध्रुव इक सत परि चारि॥
('ध्रुवसर्वस्व'—भारतजीवन प्रेस, पृ० ८४)

[२] 'वार्ता' में दिया हुआ नंददास-संबंधी प्रायः समस्त वृत्तांत ऐसे स्पष्ट संकेतों से भरा पड़ा है, जिन से यह ध्वनि निकलती है कि वार्ताकार का तात्पर्य 'मानस' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास से है न कि 'किसी' तुलसीदास से जैसा कि मिश्रबंधुओं ने अपने 'विनोद' में माना है।

[३] नंददास की वार्ता 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के डाकोर-वाले संस्करण से श्री धीरेंद्र वर्मा द्वारा 'अष्टछाप' के नाम से संकलित, रामनारायण लाल, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित ग्रंथ, पृष्ठ ९४–१०३; अथवा 'वार्ता' का डाकोरवाला संस्करण, पृष्ठ २८–३५

इन ग्रंथों के अतिरिक्त गार्साँ द तासी-कृत 'इस्त्वार दे ला लितेरात्यूर हेंदुए हेंदुस्तानी',[1] ठाकुर शिवसिंह के 'सरोज', डा० ग्रियर्सन-कृत 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर अव् हिंदुस्तान' तथा मिश्रबंधुओं के 'विनोद' आदि हिंदी साहित्य के इतिहास की कोटि के ग्रंथों में भी नंददास की जीवनी अथवा उन के समय के संबंध में कोई विशेष ज्ञातव्य बात नहीं दी गई है। साहित्यिक परंपरा और किंवदंतियों के आधार पर 'सरोज' 'वर्नाक्युलर लिटरेचर अव् हिंदुस्तान' और 'विनोद' में नंददास गोसाईं विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित 'अष्टछाप'[2] में से एक बतलाए गए हैं।

सं० १९९० में 'सुकवि-सरोज' नामक एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है।[3] इस में सनाढ्य जाति के साहित्य-सेवियों का परिचय और उन की कविता के उदाहरण दिए हैं। ग्रंथकार ने 'स्वर्गीय श्री पं० गोस्वामी तुलसीदास जी शुक्ल' ('रामचरितमानस' के रचयिता) तथा 'स्वर्गीय श्री पं० नंददास जी शुक्ल' दोनों को ही सनाढ्य जाति का मान कर[4] इन का परिचय भी दिया है। इस ग्रंथ में 'दो सौ बावन वार्ता' का यह कथन प्रामाणिक माना गया है कि तुलसीदास और नंददास भाई-भाई थे और उसी की पुष्टि की गई है। इसी मुख्य आधार पर तुलसीदास सनाढ्य माने गए हैं।

---

[1] इस ग्रंथ की रचना एक फ्रेंच विद्वान ने अपनी मातृभाषा में 'सरोज' से भी ३८ वर्ष पूर्व की थी और यह हिंदी साहित्य के इतिहास के वर्ग का सर्व-प्रथम ग्रंथ है। इस का प्रथम संस्करण सन् १८३९ तथा द्वितीय संस्करण सन् १८७१ में प्रकाशित हुआ था। इस में हिंदुस्तानी (हिंदी व उर्दू दोनों) कवियों तथा उन के ग्रंथों का 'सरोज' के ढंग का परिचय दिया हुआ है।

[2] गोसाईं जी (विट्ठलनाथ) द्वारा 'अष्टछाप' की स्थापना का तत्कालीन उल्लेख सूरदास के एक पद में इस प्रकार मिलता है :—

'थी गुसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप ।।'

('दृष्टिकूट', पद नं० ११०, नवलकिशोर प्रेस, पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ ८९)

[3] संपादक पं० गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' और प्रकाशक सनाढ्यादर्श ग्रंथमाला टीकमगढ़, बुंदेलखंड।

[4] इस ग्रंथ में 'दो सौ बावन वार्ता' से जो उद्धरण दिए हैं,उन में नंददास के सनाढ्य होने का उल्लेख है —'तब एक वैष्णव ने तुलसीदास सों कही, जो एक सनौढ़िया (सनाढ्य) ब्राह्मण है, सो ताको नाम नंददास है, सो यह पढ़्यो बहुत है।' परंतु 'वार्ता' के एकमात्र प्राप्त डाकोरवाले संस्करण में तो नंददास के संबंध में यह वाक्य कहीं भी नहीं मिलता। (देखिए श्री धीरेंद्र वर्मा-संकलित 'अष्टछाप', पृष्ठ ९४–१०३)

इस ग्रंथ के अनुसार—(१) नंददास का जन्म सं० १५९४ के लगभग[1] सोरों जिला एटा के निकट रामपुर नगर में हुआ था। नंददास के पिता रामपुर से हट कर सोरों के योगमार्ग मोहल्ले में रहने लगे। बाद में नंददास ने धन-संपन्न हो कर रामपुर को फिर से हस्तगत किया और उस का नाम बदल कर रामपुर से श्यामपुर किया।[2] (२) नंददास के पुत्र का नाम कृष्णदास था और वे अपने चाचा गोस्वामी तुलसीदास को लिवाने राजापुर गए किंतु वे नहीं आए, और (३) नंददास जी के वंशजों का सं० १८९० तक पता लगता है।[3]

अस्तु, नंददास की जीवन-संबंधी जो सामग्री प्राप्त है उस का तथा उस के आधारों का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। अब इस विवेचना की आवश्यकता है कि दी हुई बातों में से कौन-कौन सी प्रामाणिक और ग्राह्य हैं। यह संकेत पहले ही किया जा चुका है कि *'मूल गोसाईंचरित'* की ऐतिहासिकता संदिग्ध है, अतः उस का अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' के संबंध में विद्वानों ने जो प्रकाश डाला है उसे देखते हुए इस ग्रंथ की नंददास-संबंधी इतनी ही बात प्रमाण की कोटि तक पहुँचती है कि नंददास विट्ठलनाथ के शिष्य थे और पुष्टिमार्गी हो जाने पर *वे गोवर्धन और गोकुल में रहा करते थे*। 'भक्तमाल' की प्रामाणिकता पर संदेह करने का अभी तक कोई कारण नहीं जान पड़ता है। इस के साथ ही नंददास के समकालीन होने के कारण इस ग्रंथ के उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान हैं। साहित्यिक परंपरा के आधार पर साहित्य के इतिहास के लेखकों की यह बात भी मानने योग्य है कि नंददास अष्टछाप के कवियों में से एक हैं। 'शुकविसरोज' में नंददास के जन्म की तिथि और उन के जीवन-संबंधी जो विस्तारपूर्ण उल्लेख हैं वे केवल पुस्तक में उपस्थित विवरणों के आधार पर ही साहित्यिक खोज की दृष्टि से माननीय नहीं हैं।

इस प्रकार नंददास की जीवनी के बारे में इस समय निर्विवाद रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि वे विट्ठलनाथ के शिष्य, पुष्टिमार्गी भक्त, और उन के द्वारा स्थापित

---

[1] 'सुकविसरोज' (द्वितीय भाग), पृ० ३५
[2] वही, पृ० ९
[3] वही, पृ० १२

अष्टछाप के एक सदस्य थे। वे रामपुर गाँव के रहनेवाले उच्च कुल (अथवा शुक्ल आस्पद) के थे, और उन के भाई का नाम चंद्रहास था। पुष्टिमार्गी हो जाने पर वे गोवर्धन और गोकुल में रहते थे और श्रीनाथ जी की सेवा किया करते थे। उन की सेविका रूपमंजरी से नंददास की मित्रता थी। गोसाईं विट्ठलनाथ (१५१५–१५८५ ई०) के शिष्य और सूरदास (१४८३–१५६३ ई०) के समकालीन[1] होने की बात को ध्यान में रख कर नंददास के समय के संबंध में प्रामाणिक रूप से केवल यही कहा जा सकता है कि वे ईसा की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान रहे होंगे।

रचनाएँ

नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा कराई गई हस्त-लिखित ग्रंथों संबंधी खोज की रिपोर्टों से नंददास द्वारा रचित निम्न १५ ग्रंथों का पता लगता है —

(१) 'अनेकार्थ मंजरी'[2],

(२) 'नाममाला'[3],

(३) 'नासिकेतपुराण भाषा'[4],

(४) 'दशमस्कंध'[5],

(५) 'पंचाध्याई'[6],

(६) 'भँवरगीत'[7],

---

[1] सूरदास भी 'अष्टछाप' के एक सदस्य माने जाते हैं। इस प्रकार नंददास कुछ समय तक सूरदास के समकालीन अवश्य रहे।

[2] खो० रि० सन् १९०२, नं० ५८; सन् १९०३, पृ० ८९; सन् १९०९–११, पृ० २९८; सन् १९२०–२२, पृ० ३१९ व ३२०

[3] खो० रि० सन् १९०३, पृ० ८९, सन् १९०९–११, पृ० २९७; सन् १९१७–१९, पृ० २६२; सन् १९२०–२२, पृ० ३१६–३१८ तथा ३१९

[4] खो० रि० सन् १९०९–११, पृ० २९७

[5] खो० रि० सन् १९०१, पृ० १७

[6] खो० रि० सन् १९०१, पृ० ५९; सन् १९०६–८, पृ० ३१२; सन् १९१७–१९, पृ० २६३

[7] खो० रि० सन् १९२०–२२, पृ० ३२१

(७) 'भागवत'[1];

(८) 'मानमजरी'[2];

(९) 'रसमजरी'[3];

(१०) 'रूपमजरी'[4];

(११) 'विरहमजरी'[5];

(१२) 'नाम-चिंतामणिमाला'[6],

(१३) 'जोगलीला'[7],

(१४) 'श्यामसगाई'[8], और

(१५) 'रुक्मिनीमगल'[9]।

गार्सा द तासी ने अपने ग्रथ में नददास के चौदह ग्रथो के नाम और विवरण दिए है। इन मे से दस तो खोज-रिपोर्टोंवाले १,२,४,५,६,८,९,१०,१३, व १५ न० के ग्रथ हैं। जिन ४ और नए ग्रथो का उल्लेख द तासी ने किया है उन के नाम निम्न हैं —

(१) 'सुदामाचरित्र',

(२) 'प्रबोध-चद्रोदय नाटक',

(३) 'गोवर्धनलीला',

(४) 'रासमजरी'।

खोज के ग्रथ न० ३,७,११,१२ व १४ के नाम उस की पुस्तक मे मौजूद नही है।[10]

---

[1] खो० रि० सन् १९०६–८, पृ० ३१२

[2] खो० रि० सन् १९०२, नं० २०९; सन् १९०९–११, पृ० २९८

[3] खो० रि० सन् १९०९–११, पृ० २९९

[4] खो० रि० सन् १९०६–८, पृ० ३०१

[5] खो० रि० सन् १९०९–११, पृ० २९९

[6] खो० रि० सन् १९०६–८, पृ० ३१२

[7] खो० रि० सन् १९०६–८, पृ० ३१२

[8] खो० रि० सन् १९०६–८, पृ० ३१२

[9] खो० रि० सन् १९१२–१४, पृ० १५२

[10] द तासी ने 'रासपंचाध्याई' के मदनपाल-द्वारा संपादित और कलकत्ते में बाबूराय के मंत्रालय में मुद्रित एक सस्करण को देखा था। इस में ५४ पृष्ठ थे। इसी प्रकार

ठाकुर शिवसिंह ने 'सरोज' में नददास के ७ ग्रथो के नाम दिए है। इन मे से ऊपर कहे गए ग्रथो के अतिरिक्त 'दानलीला' और 'मानलीला' नामक दो नए ग्रथो के नाम मिलते है।[१] इसी प्रकार मिश्रबधुविनोद में भी नददास के दो अन्य ग्रथो का उल्लेख है। इन के नाम ज्ञानमजरी और विज्ञानार्थ प्रकाशिका' है। 'विज्ञानार्थ प्रकाशिका' सस्कृत ग्रथ की ब्रजभाषा टीका बतलाई गई है।[२] 'सुकविसरोज' के सपादक ने नददास क एक और नवीन ग्रथ हितोपदेश का उल्लेख किया है।[३]

इस प्रकार कुल मिला कर नददास रचित २४ ग्रथो का पता चलता है।[४] इन में से छ ग्रथ मुद्रित हो चुके है। अनकार्थमजरी, 'नाममाला', 'रासपचाध्याई, और भँवर-गीत नामक चार ग्रथ तो पुस्तक के रूप मे प्राप्त है, किंतु 'रुक्मिनी-मगल'[५] और 'स्याम सगाई'[६] मुद्रित तो हुए है परतु पुस्तक के रूप में प्राप्त नही है।

'अनेकाथमजरी' और 'नाममाला' के दो सस्करणो को उन्हो ने स्वय देखा था। इन का एक सस्करण खिदिरपुर से सन् १८१४ में सयुक्त-रूप से प्रकाशित हुआ था और दूसरा हीराचद द्वारा सपादित 'ब्रजभाषा-काव्य सग्रह' के अतर्गत बबई से सन् १८६५ में प्रकाशित हुआ था। इन तीनो ग्रथो तथा शेष अन्य ११ ग्रथो को द तासी ने एक साथ सगृहीत रूप में डाक्टर स्प्रेंजर के पुस्तकालय में देखा था। समस्त चौदह ग्रथो का यह सग्रह ५७६ पृष्ठो में समाप्त हुआ था, और इसे करीमुद्दीन ने सगृहीत किया था। देखिए 'इस्त्वार दे ला लितेरात्यूर हेंदुए हेंदुस्तानी,' द्वितीय सस्करण, भाग २, पृष्ठ ४४५–४४७

[१] 'शिवसिंहसरोज' (सातवाँ सस्करण, सन् १९२६), नवलकिशोर प्रेस, पृ० ४४३

[२] 'मिश्रबधुविनोद,' द्वितीय सस्करण, स०, १९८३, भाग १, पृ० २४८ व २४९

[३] 'सुकविसरोज', भाग २, पृ० ३७

[४] इन में से १९ ग्रथो की हस्तलिखित प्रतियों को श्री जवाहरलाल चौबे कुँआवाली गली, मथुरा ने सग्रह किया है। इन के नाम इस प्रकार है —

(१) 'भागवत', (२) 'रासपचाध्याई,' (३) 'भँवरगीत', (४) 'रुक्मिनी-मगल' (५) 'दानलीला', (६) 'मानलीला', (७) 'रसमजरी', (८) 'रूपमजरी', (९) 'विरहमजरी', (१०) 'नाममजरी', (११) 'ज्ञानमजरी', (१२) 'नामचिंता-मणिमाला', (१३) 'अनेकार्थ', (१४) 'नाममाला', (१५) 'स्यामसगाई', (१६) 'हितोपदेश', (१७) 'नासिकेतपुराण' '(गद्य ग्रथ) (देखिए 'माधुरी', वर्ष ८, भाग २, सख्या ५, पृ० ६३४), (१८) 'सुदामाचरित्र' तथा (१९) 'पदावली' (देखिए— 'विशालभारत', दिसबर सन् १९३१ पृ० ७३०)

[५] 'विशाल भारत', जनवरी सन् १९२९, पृ० १२६–१३०

[६] वही, दिसबर सन् १९३१, पृ० ६५४–६५६

ऊपर दिए गए ग्रथो के अतिरिक्त नददास द्वारा रस तथा रीति-ग्रथ लिखने तथा कृष्णलीला-सबधी फुटकर पदो[१] की एव कवित्तो[२] की रचना करने का उल्लेख मिलता है, परतु वे न तो इस समय उपलब्ध है और न उन का पता चलता है। नवबर सन् १९३० में, नददास के ग्रथो की खोज में मैं ने मथुरा-वृदावन की यात्रा की थी। उसी समय मथुरा के गोकुलनाथ जी के मदिर में मैं ने 'वर्षोत्सव के कीर्तन' नाम का एक पुराना सग्रह-ग्रथ देखा था।[३] इस में पुष्टिमार्ग में मनाए जानेवाले साल भर के उत्सवो के सबध में विविध कवियो के पदो का सग्रह है। इस में नददास के कृष्णलीला-सबधी अनेक पद मुझे दिखाई दिए।[४] इस के अतिरिक्त इस में नददास-कृत एक पद मुझे रामचरित-सबधी भी दिखाई दिया। उस का आदि और अत इस प्रकार दिया हुआ है—

आदि—

राग मारू ॥ जब कूधो हनुमान उदधि जानकी सुधि लेन को।

---

[१] 'लीलापद रस-रीति-ग्रथ-रचना में नागर' (नाभादास, 'भक्तमाल', पृ० ६७८ प्रथम सस्करण, नवलकिशोर प्रेस)

[२] 'रमन सदा अदभुतहुते, करन कवित्त सुठार।' (भुवसर्वस्व', पृ० १९५, दोहा न० ७८, भारतजीवन प्रेस)

[३] पत्र स० ३५९, प्रति पृष्ठ २४ पक्ति, आकार १२″ × ९″, नागरी लिपि; छोटे अक्षर। आरभ का एक पत्र नहीं है।

[४] इसी यात्रा में मुझे श्री जवाहरलाल चौबे कुंआवाली गली, मथुरा, के यहाँ इसी प्रकार का एक और सग्रह-ग्रथ दिखलाई पडा। नददास का एक पद इस में से उदाहरण-स्वरूप यहाँ दिया जाता है —

नददास को पद ॥ राग जैं जैं वती ॥
माई आज गोकुल ग्राम कैसो रह्यो फूलि कें ॥
ग्रह फूले दीसैं अति सपति समूल के ॥१॥
फूलो फूली बरषा होत झर लायो भूमि कें ॥
फूलो घटा आई घर हर घूमि कें ॥२॥
फूलो फूल्यो पुत्र दैंय लीयो उर लूमि कें ॥
फूली हैं जसोदा माय ढोटा मुख चूमि कें ॥३॥
देवता अगिनित फूले धात पाइ होमि कें ॥
....
मालिन बाधैं वदनमाला घर घर डोलि कें ॥
पाटबर पहरावैं अधिक अमोल कें ॥५॥
फूले हैं भडार सब द्वारें दीयें खोलि कें ॥
नद दान देत फूले नददास बोलि कें ॥६॥

अत—

श्री रामचद्र पद प्रताप जग में जस जाको ॥
नददास सुरनर मुनि केतिक भूले ताको ॥[1]

बहुत सभव है कि नददास के जिन चौबीस ग्रथो का उल्लेख ऊपर किया गया है, उन में से दो एक किसी अन्य कवि की रचना हों, और वे भ्रमवश नददास के मान लिए गए हो। गार्सां द तासी द्वारा उल्लिखित 'प्रबोध-चद्रोदय नाटक' कदाचित् नददास-कृत न होगा क्योकि इस नाम का नाटक नवाज कवि के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी सभावना यह भी है कि एक ही ग्रथ की गणना विभिन्न नामो से दो बार हो गई हो। इन ग्रथो में से कुछ विशेष महत्व रखते हैं। प्रकाशित ग्रथो में सब से प्रसिद्ध तथा उत्कृष्ट 'रासपचाध्याई' और भँवरगीत' हैं। अप्रकाशित ग्रथो में 'नासिकेतपुराण' ब्रजभाषा गद्य में होने के कारण विशेष उल्लेखनीय है और 'विज्ञानार्थ-प्रकाशिका भी सस्कृत ग्रथ की ब्रजभाषा टीका है। 'अनकार्थमजरी' और 'नाममाला' की विशेषता यह है कि ये हिंदी साहित्य मे सर्व प्रथम कोष-ग्रथ है। इस से पूर्व केवल खुसरो की 'खालिकबारी' को ही हम इस कोटि में गिन सकते है। वैसे तो अधिकाश ग्रथो का विषय भागवत में वर्णित कृष्ण और गोपियो का सयोगात्मक एव वियोगात्मक शृगार तथा कृष्णचरित्र से ही सबध रखनेवाले कुछ अन्य प्रसग हैं। सभी ग्रथ आकार-प्रकार में छोटे जान पडते है। नददास ने 'रास-पचाध्याई'[2] तथा 'दशमस्कध भागवत'[3] में इस बात का सकेत किया है कि वे अपने इन

---

[1] राम-सबधी इस पद से किसी हद तक '२५२ वार्ता' के इस कथन की पुष्टि होती है कि नददास ने समस्त भागवत का भाषा में उल्था करने का विचार किया, किंतु ब्राह्मणों द्वारा इस के विरुद्ध विट्ठलनाथ जी से विनती किए जाने पर उन की आज्ञानुसार नददास ने इस विचार को त्याग दिया। (देखिए 'अष्टछाप', श्री धीरेंद्र वर्मा-सकलित, पृष्ठ ९९)

[2] परम रसिक इक मित्र मोहि तिन आज्ञा दीनी।
ताही ते यह कथा यथा मति भाषा कीनी ॥२०॥
('रासपचाध्याई', पृ० २, छद २० बालमुकुद गुप्त-द्वारा सपादित, भारतमित्र प्रेस से १९०४ में प्रकाशित सस्करण)

[3] श्री जवाहरलाल चौबे, मथुरा के यहाँ 'दशमस्कध भाषा' नाम का हस्तलिखित ग्रथ मैंने देखा था। इस की पत्र स० १८७ है और प्रति पृष्ठ में १५ पक्तियाँ हैं। आकार

ग्रथो की रचना अपने एक रसिक मित्र के आदेशानुसार उन के पढने के लिए कर रहे हैं।[१] कथा की दृष्टि से नददास के ग्रथ मौलिक न ठहरेंगे, यद्यपि काव्य-व्यजना और कल्पनाएँ नददास की निजी है। ग्रथो की भाषा सस्कृत की पुट लिए हुए विशुद्ध व्रजभाषा है। और उस में एक विशेष प्रकार की सरलता और माधुर्य है। नददास ने वैसे तो पदो के अतिरिक्त अधिकतर दोहा, चौपाई और रोला छदो का प्रयोग किया है परतु उन का विशेष छद रोला ही है और उस के लिखने मे वे खास तौर से सफल हुए है। नददास की कविता में शब्दो का चुनाव और उन का एक दूसरे के साथ पिरोना इस कला में उन का अत्यत प्रवीण होना बतलाता है। शब्दो के सहारे वे उपस्थित विषय का सजीव चित्र खडा कर देते है। काव्य की सरलता उस की लय, प्रवाह, और माधुर्य को देखते हुए वे वास्तव मे हिंदी साहित्य के जयदेव है।

१२"×६"। ग्रंथ एकोनत्रिंश अध्याय तक ही है। इस की प्रारंभिक पंक्तियो में इन 'रसिक मित्र' का उल्लेख इस प्रकार है।

परम विचित्र मित्र इक रहै।
कृस्न चरित्र सुन्यौ सो चहै॥
तिन कह्यौ दसम स्कंध जु आहि।
भाषा करि कछु बरनहु ताहि॥
सब्द संस्कृत के है जैसे।
मो पै समझि परै नहि तैसे॥

[१] बहुत संभव है कि नंददास के ये 'रसिक मित्र' श्रीनाथ जी की सेविका रूपमंजरी ही हो जिन के संबंध में 'श्रीनाथ जी के प्राकटच की वार्ता' में यह कहा गया है कि वे नंददास की मित्र थीं, और उन के नाम से नददास ने अपने 'रूपमंजरी' नामक ग्रंथ की रचना की।

चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[लेखक—श्रीयुत मुकन्दीलाल, बी॰ ए॰ (आक्सन), बैरिस्टर-एट्-ला]

[२९]

अजबराम का विद्रोह

मन्त्रियो का आतंक और विद्रोह जयकृत शाह के भाग्य में लिखा था। डोभाल (कृपाराम) और खड़ूडी (नित्यानंद) के षड्यंत्रो से पीछा छुटा तो घमडसिंह और अजबराम नेगी की घनिष्टता हुई। जयकृत शाह के सिर पर राज्य का भार बाल्यावस्था ही में पडने से मन्त्रिगण राज्य-शक्ति को अपने हाथ में रखना चाहते थे, मोलाराम इस रगमच पर बैठ कर खूब तमाशा देखता और समय-समय पर अपने सत्परामर्श से इन राजसत्ता के प्यासे मन्त्रि-दलो की सहायता करता। गढनरेश जयकृत शाह को कई बार मोलाराम ने इन दुष्टो के हाथो से बचाया। गढवाल में कृपाराम और नित्यानद के प्रभुत्व के बाद घमडसिंह का आधिपत्य हुआ। अजबराम तटस्थ हो गया। किंतु वह राज्य के बाहर तटस्थ भाव दिखा कर, जयकृत शाह पर आक्रमण की तैयारी कर रहा था।

मन्त्रियो के षड्यन्त्र

अजबराम की श्रीनगर पर चढाई

अजबराम श्रीनगरहि आये।
घमडसिंह बाहरहि रहाये॥
डेरा कियो उफल्डा माही।
बाध मोरचा बैठ्यो ताही॥

अजबराम ने सहर दबायो।
सबै फौज लै संग महि आयो॥

उफल्डा पुराने श्रीनगर से पश्चिम दिशा में प्राय एक मील पर है। वहाँ अजबसिंह ने अपना मोर्चा बाँधा। इधर राजा जयकृत शाह की सेना ने राजधानी (श्रीनगर) को सुरक्षित कर लिया।

जयकृत शाह के सेनापति घमंडसिंह की सेना के—

बोझा बागहि बलिया बैठे।
केवल गद्दी सग दुबैठे॥
ढुमकी लछमण जाइ दबाई।
घमंडसिह के सौंही जाई॥
बिजैराम हरदम हबेली।
और फौज सब आगे पेली॥

इस तरह अजबसिंह और जयकृत शाह के सेना-नायक घमंडसिंह की सेना का सामना हुआ।

वार पार से तुपकैं चटकी।
मानौं दामिनि घन सौं मटकी॥
तीन पहर निसि ही विताई।
घमंडसिह फिर दियो भजाई॥

घमंडसिंह के परास्त होने का समाचार देहरादून में केदारसिंह को मिला। वह अजबराम के भय से भाग गया। अब अजबराम के लिए मैदान साफ हो गया।

अजबराम नें तब हमें, लीन्यो पास बुलाय।
श्रीविलास नौटयाल हम, दिये डोभाल मिलाय॥
अजबराम नेगी तब कह्यो।
हमहूँ तुमारो बदलो ल्यो॥

अजबराम ने मोलाराम से कहा अब मुझे राजा से मिला दो और राजा से कहो कि मैं उस की सेवा करने को तैयार हूँ। मोलाराम ने राजा से अजबराम का सदेश कहा।

अजबराम का जयकृत शाह को संदेश

तुमसों छीन पमदा लीने।
हम इह सौंप आफ पें दीने ॥
इनको हमरी करो सहाई।
अजबराम इह अरज पठाई ॥

यह सुन कर जयकृत शाह प्रसन्न हुआ और अजबराम को सवेरे दरबार में आने को कहा। जयकृत शाह ने दरबार में अजबराम के स्वागत की तैयारी की।

मजलस में सब मंत्रि बुलाये।
गोलदार सब ही सग आये ॥
सकल सिपाह को मुजरा लीयो।
सब ने आन सलामहि कीन्यो ॥

जयकृत शाह ने अजबराम और उस के सहकारी विद्रोहियों को क्षमा प्रदान की। राज्य-कार्य चलने लगा। किंतु सिपाहियों की तनख्वाह राजा पूरी न दे सका, सिपाहियों में असंतोष फैला। इस असंतोष से अजबराम ने लाभ उठाना चाहा।

अजबराम का दूसरा विद्रोह

अजबराम लालच महि आये।
गोलदार सबहीं बहकाये ॥
सब सिपाह में जोरा कीना।
घनु गद्दी का घेरा दीना ॥
अजबराम तब लयो बुलाई।
महाराम कौंसल ठहराई ॥

राजा ने कहा अजबराम तुम हमारे पुराने नौकर हो। अब ऐसी तदबीर करो—

जासों राज रहे सो कीजे।
जुगत जगत सों सब को दीजे ॥
अजबराम लेगी कह्यो, हमको देहु सलाण।[1]
सवालाख हमरी तलब, तब होवे दरम्यान ॥

---

[1] सलाण वर्तमान लैन्सडौन सब डिविजन अर्थात् गढ़वाल जिले का यह हिस्सा है जो देश अर्थात् जिला बिजनौर, देहरादून, और सहारनपुर से मिला है।

सवालाख दो तलब हमारी ।।
औ सलाण की फौजहिदारी ।।

महाराज ने कहा तुम को हम देहरादून का फौजदार बना कर वहाँ भेजते हैं।

करो दूण की तुम फौजदारी ।
इह सलाण तो है सरकारी ।।
याके दाम सिरकारहि आवें ।
राजा राणी सबही पावें ।।
कछु भंडार कछु खाँहि खवासनि ।
कछु बस्तर हो आसन बासनि ।।
इह मरजादा है चलि आई ।
हमसो इह मेटी नहिं जाई ।।
घमडसिंह केदारसिंह, तुमहूँ दिये निकाल ।
तिनको खायल[1] मैं तुमें, हमहू करे बहाल ।।
चालिस कोस की दून हमारी ।
सो हम करें सपुरद तुमारी ।।
पुस्तापुस्त लौं बैठे खावो ।
दुसमन बढ़े तौ मार हटावो ।।

अजवराम इस पर राजी न हुआ और घर जाकर राजा के विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगा। उस ने बिदनू बुटोला द्वारा कुँवर पराक्रम को लिख भेजा कि—

तुमको हमहूँ राज बैठावें ।
जो सलाण जागीरहि पावें ।।

कुँवर पराक्रम इस पर राजी हो गया और सलाण की जागीर का पट्टा अजवराम के नाम लिख कर बिदनू बुटोला के हाथ भेज दिया।

अजवराम फौज लेकर दरबार में आया और उस ने कहा—

---

[1] जागीर ।

तीन दिवस के बीच महि, तलब देहु निबटाय।
जो तुम अब चेतो नहीं, राज उलट हो जाय॥
महाराज सुनि सोच महि आये।
श्रीबिलास भवानद बुलाये॥

जयकृत शाह ने उन को अजबराम के विद्रोह का हाल सुनाया। सुन कर श्री-बिलास और भवानद घबरा गए और राजा को—

राजा के प्रति मोला राम की सेवा और सहायता

प्रति उत्तर कछु देत न आये।
हमको तबहीं पास बुलाये॥
पास बुलाइ हमें फरमायो।
कठन महा इह कालहि आयो॥
अजबराम बिपरीत ठैराई।
राज लेन को बाढ्यो आई॥

अजबराम के डर के मारे—

मत्री बाहर निकसत नाहीं।
निकसे कोइ तो पकडे वाहीं॥
तीन दिवस आयुर्बल हमरी।
यामें अकल चले कछु तुमरी॥
तो हमको कछु मत्र बताओ।
अबके हमरो राज बचाओ॥

राजा के करुणामय वचन सुन कर मोलाराम ने कहा—

धीरज धरे विपत्त महि, छिमा हि संपद माहि।
मोलराम अरजी करैं, ता सम दूजो नाहि॥
तीन दिवस जुगती नहि जानो।
महाराज तुम भय मत मानौं॥
आमल दोय घडी को भारी।
उलट पुलट करि डारे सारी॥

आजहि रात सब काज बनावें।
धींग पं धींग दूसरा लावै॥
जान बचे तो माल बहुतेरो।
हमरे कहे सों माल बखेरो॥
दस हजार की थैली आवें।
तो सब आपस माहि भिडावें॥

जयकृत शाह ने दस हज़ार रुपया मँगवा कर मोलाराम के सिपुर्द कर दिया। मोलाराम ने राज्य उच्चाधिकारी, दीवान, सेनापति और लेखवार को अपने पास बुलाया। उन से कहा तुम सिपाहियों को समझाओ कि सब का वेतन दिया जावेगा। उक्त राज-कर्मचारियों ने—

उनहूँ जाय गुलदार समझाये।
आधीरात गुलदार ले आये॥
दस हजार हम तिनको दीने।
वानन सें परसन्नहि कीने॥
कमर बँधाय गुपत हि लाये।
महल नृपति के आन बैठाये॥
चार तरफ मजबूती कीनी।
अजबराम तब पाछे चीनी॥

मोलाराम ने बाग़ी सेना को अपनी तरफ कर के चारो तरफ़ से राजधानी (श्रीनगर) को सुरक्षित कर लिया। अजबराम और जिंराम घबरा कर राजा की शरण आए। जयकृत शाह ने अजबराम से कहा हम को तुम्हारी निमकहरामी पसंद नहीं—

अजबराम की हार

तुम सलाण फौजदारी चाहो।
पाछे पाछे राज दबाओ॥
अपनी तलब ले हमको काढ़ो।
ऐसो तुमको गरब ही बाढ़ो॥

यह सुन कर अजबराम और बिजैराम दोनो भयभीत हो कर आधी रात मे भाग गए। और धनु गदी को भी अपने साथ ले गए। जो राजविद्रोही सैनिक श्रीनगर में रह गए थे वे मरवा दिए गए। और

राज करन महाराजहिं लागे।
केवल बलिया रहे जो आगे॥
नेगी सोभनसिंह सिंहारे।
उच्छवसिंह दिवानहि मारे॥
भवानंद औ श्रीविलास हि।
सर्वोपि भये मत्री खास हि॥

कुछ समय के बाद ये दोनो मत्री भवानद और श्रीबिलास घमडी हो गए और राजा के आज्ञाकारी नही रहे। राजा ने उन को भी निकाल दिया। यह समाचार सुन कर अजबराम ने फिर से श्रीनगर पर आक्रमण किया। अजबराम ने घमडसिंह को भी अपनी तरफ कर लिया। दोनो ने मिल कर राजा को दबा लिया। अब राजा के पास कोई बलवान मत्री नही रहा। जयकृत शाह को बिवश हो कर अजबराम और घमडसिंह को अपनाना पडा। अजबराम—

अजबराम का तृतीय आक्रमण

फौज ले फिर गढ़ माँहि आये।
घमंडसिंह ही फेरि बुलाये॥
महाराज ही जपत जो कीन्ही।
अपने गांउ ठांव सब लीनो॥
अजबराम फौजदार बनाये।
घमंडसिंह मुखतार कहाये॥
बिजेराम गुलदारी लीनी।
....
मुलक बाँटि सबही नैं लीना।
जैकृतसाह को काबू कीना॥

अजबराम का आतक

बस्तर भोजन बैठे खावें ।
हुकम चलावन कछू न पावें ॥

अजबराम ने जयकृत शाह को इस तरह एक प्रकार से अपना कैदी बना लिया था। राज्य-शक्ति अपने हाथ में ले ली थी। जयकृत शाह ने चाहा कि वह अपने पड़ोसी सिरमौर (नाहन) के राजा की सहायता से अजबराम को परास्त करे। इस लिए जयकृत शाह ने फिर मोलाराम की शरण ली। राजा मोलाराम के पास उस की चित्रशाला में स्वयं आया।

[३०]

सिरमौर के राजा जयप्रकाश की सहायता

मोलाराम की चित्रशाला में जा कर जयकृत शाह उस की सहायता माँगता है—

महाराज अति दुखित भयो ।
चित्रसाल माँहि हमको कह्यो ॥
मोलाराम काम तजि जावो ।
चित्रसाल नाहक हि बनावो ॥
चित्रसाल लिखि तुम क्या पायो ।
हमको दुष्टन आन दबायो ॥
याको कुछ उदिम ठहरावो ।
हमरी अपनी जान बचाओ ॥

तब हमहूँ बिनती करी, महाराज सुन लेहु ।
हम उदिम याको करें, जो तुम आज्ञा देहु ॥

हुक्म होय तो नाहण जावें ।
राजा सहित फौज ले आवें ॥
महाराज तब यह फरमाई ।
तुम मत छाडो हमरें ताहीं ॥

नाहण को धनिराम पठावें।
तुम जो कहो ताहि सिखलावें॥
याही सभा को छंद बनावो।
अक्कलबरिसों ताहि बुलावो॥
तव हम कोन्यो इहै सवैया॥
लगे तीर नहिं लगे रुपैया॥

मोलाराम ने पद्य मे नाहण के राजा के पास जयकृत शाह की विज्ञप्ति भेजी।

जगत प्रकाश से जयकृत शाह की विज्ञप्ति

मोलाराम ने इसी विषय पर एक चित्र बना कर सिरमौर के राजा जगत प्रकाश के पास धनीराम के हाथ भेजा। जयकृत शाह की ओर से मोलाराम ने राजा जगत प्रकाश के लिए लिखा—

जगप्रकास तुम भानुसम, हमहूं तम किय ग्रास।
ग्राह गह्यो ज्यों गजहि कौं, घमंडसिंह दिय त्रास॥

सूर पै सूर सावत सावंत पै,
भीर मे भीर पै वीर पधारें।
साह को साह विसाह करै,
जो गिरे वह काम सों फेर सुधारें॥
रीत सबै अपने कुल की,
कवि मोलाराम न कोउ बिसारे।
कीच के बीच में हाथी फंसै,
तब हाथी को हाथ दे हाथी निकारे॥

इहै छन्द हम दियो बनाई।
चित्र सहित लिखि दियो पठाई॥

चित्रांकण के लिए यह कितना अच्छा शब्दचित्र है। संभव है यह चित्र अब भी सिरमौर के दरबार में हो। चित्रकला व कविता में जो स्वाभाविक घनिष्ट संबध है उस का प्रमाण मोलाराम की कविता व चित्रकारी है।

उक्त चित्र और पद्य-संदेश को—

धनीराम लेता को गयो।

उस को पढ़ कर—

सिरमौर का राजा जगत प्रकाश जयकृत शाह की सहायता को आया

राजा नाहण को खुश भयो॥
महाबीर रस सुनतहि छायो।
सकल समाज फौज ले आयो॥

जगत प्रकाश फौरन अपनी सेना को साथ ले गढ़वाल के राजा की सहायता को आया। जगत प्रकाश—

जगत प्रकाश की बागियों पर विजय

सकल समाज फौज ले आयो।
बिजैराम नेगी चढ़ धायो॥
कपरोली महि पड़ी लड़ाई।
भार्‌यो बिजैराम कौं आई॥
घमर्डसिंह यह सुनत भगायो।
पाछे ताके कटक दौड़ायो॥
घेर घार वह दियो भगाई।
जैकृतसाह जू लियो छुड़ाई॥
प्रद्युमन प्राक्रम कुवरहि भागे।
वहँ कुमाऊ जाय हि लागे॥
जगप्रकास श्रीनगरहि आये।
जैकृतसाह जू राज बैठाये॥

प्रद्युम्न और पराक्रम जयकृत शाह के छोटे भाई अजबराम, बिजैराम और घमर्डसिंह के परास्त होने पर भाग कर कुमाऊँ चले गए।

जगत प्रकाश का उचित परामर्श

जगत प्रकाश समझता था कि ये दोनों कुँवर कुमाऊँ के मन्त्रियों की सहायता से जयकृत शाह को हटा कर एक भाई (प्रद्युम्न) गढ़वाल के सिंहासन पर बैठेगा और दूसरा (पराक्रम) कुमाऊँ के राजसिंहासन पर बैठेगा। वह यह भी जानता था कि ये दोनों कुँवर गढ़वाली और कुमाऊँनी मन्त्रियों के हाथ के कठपुतले बने रहेंगे। इस लिए जगत प्रकाश ने जयकृत शाह

से कहा कि चलिए अभी कुमाऊँ पर आक्रमण कर तुम्हारा रास्ता साफ करें और तव तुम निर्भय हो कर राज्य करना।

इस लिए—

जैकीर्तिसाह सौं कही, जगत प्रकास सलाह।
चलो हमारे सग तुम कुर्मांचल दै दाह ॥

कुर्मांचलि नित तुमें सतावें।
उनको हमहू जाय खपावें ॥
चलो फौज ले सग हमारें।
कुर्मांचल सब उलटहि डारें ॥

जगत प्रकाश की कुमाऊँ पर आक्रमण करने की सम्मति

जगत प्रकाश ने कहा अगर मैं इस समय कुमाऊँ पर आक्रमण कर तुम्हारे शत्रुओ को परास्त न करूँ, तो कुमाऊँ के मन्त्रिगण जो गढवाल से बदला लेना चाहते हैं, वे प्रद्युम्न और पराक्रम को ले कर आयेंगे और तुम से तुम्हारा राज्य छीन लेंगे। उस समय मैं तुम्हारी सहायता के लिए यहाँ नही होऊँगा।

जो हम इत सौं घर को जावें।
प्रद्युमन प्राक्रम ले वह आवें ॥
तुम्हें काढि वह राजहि लैंहं।
फेरि यहाँ हम नाहीं अइहं ॥
जगप्रकास यह कही जवानी।
गढ़ मन्त्रिन हूँ नैं नहिं मानी ॥

गढवाल के मन्त्रियो ने सिरमौर के राजा का कहा नही माना

गढवाल के मन्त्रियो ने जयकृत शाह को बहका दिया और कहा कि जगत प्रकाश की सहायता से कुमाऊँ को परास्त करने पर जगत प्रकाश का सुयश सारे ससार में फैल जायेगा और लडाई के खर्च मे अर्थात्—

तलब माहि दोहु राजहिं जावें।
फेर तुहारे हाथ न आवें ॥
हसी होय जग माहिं तुहारी।
इह मसलत महाराज हमारी ॥

जयकृत शाह ने मंत्रियो का कहना माना और कुमाऊँ पर आक्रमण करने का विचार छोड दिया। सिरमौर के राजा जगत प्रकाश को विदा के वक्त—

जगत प्रकाश की विदाई

जीगा कलगी जडे जडाये।
भूषण वस्त्र सर्वाहि पहिराये ॥
मुक्तमाल गल डालहि दीनी।
माल जगीर भेंट ही कीनी ॥
चालिस कोस की माल[1] दे, बिदा करी सब फौज।
सवा लाख धन लेइ कं, करते चले जो मौज ॥
जगप्रकास नाहण मांहि आये।
गढ़ मंत्रिन ने शत्रु बुलाये ॥

[३१]

जयकृत शाह का अंतिम समय

अजबराम, घमडसिंह जैसे बागी मंत्रियो से जगत प्रकाश की सहायता से जयकृत शाह ने अपना पिंड छुडाया। किंतु उस के भाग्य में तो मंत्रियों के विद्रोह और षड्यंत्र लिखे थे। गढवाल के राजाओ के इतिहास में जितना दुःख राजा व प्रजा को स्वार्थी मंत्रियो के द्वारा, जयकृत शाह के पांच वर्ष के राज्य में मिला, उतना जयकृत शाह के पूर्वजो के ५० वर्ष के राज्य-शासन में भी नही मिला। कृपाराम से पीछा छुटा तो नित्यानंद ने अपना आतंक फैलाया। फिर घमडसिंह ने आ घेरा। घमडसिंह के पश्चात् देवीदत्त, घनीराम और श्रीविलास का तूती बोलने लगा। उस के बाद अजबराम और विजयराम ने खुल्लमखुल्ला राजा से युद्ध किया। उन से छुटकारा पाया तो अब मंत्रि-मडली दूसरा षड्यंत्र रचने लगी। वे कुमाऊँवालो को गढवाल पर आक्रमण करने की सलाह देने लगे। और कुँवर प्रद्युम्न और पराक्रम, जयकृत शाह के छोटे भाइयो को कूर्मांचलियो की सहायता

जयकृत शाह के मंत्रियों का नया षड्यंत्र

[1] गढ़वाल में तराई को माल कहते हैं अर्थात् पर्वत-श्रृंखला जहाँ समाप्त होती है और जहाँ से देश (मैदान) शुरू होता है उस भूमि को माल कहते हैं।

से गढवाल राज्य पर हाथ फेरने के लिए भडकाने लगे। इधर तो जयकृत शाह को नवरात्रो में देवलगढ की देवी की पूजा करने में लगा दिया और उधर—

तहां कुमाई कुंवर बुलायो।
दसमी कौं महाराज मंगायो ॥
लाखन तहां दर्व ही छूट्यो।
कुरमांचल की फौज ने लूट्यो ॥
जयकृत साह जू गये भगाई।
मंत्री मिले कुंवर कौं आई ॥
कुंवर फौज ले सहर में आयो।
सिरीनगर सब सहर लुटायो ॥
प्रजा लोक कोइ मिले न आई।
दीनो अपने महल जलाई ॥
तीन बरस गढ़ माँहि रहाये।
पीछे फेर कुमाऊं धाये ॥
जयकृत साह जू डोलत रहे।
धनीराम फिर नाहण गये ॥
केती अरज करी तहं रह्यो।

प्रद्युम्न शाह और पराक्रम का आक्रमण

....

जगत परकास तऊ नहिं आये।
कह्यो कुमाऊं तब नहिं धाये ॥
हमहूं तुम सो तबही कही।
जो हमने सब सोई भई ॥
बार बार हम कैसे आवें।
सत्रु हमारे संघ लखावें ॥
जो हम फौज लेइ गढ़ धावें।
दुसमन हमरो राज दबावें ॥

जगत प्रकाश उतना ही दूरदर्शी और बुद्धिमान राजा था जितना कि वह बलवान था। वह गढ़वाल के मंत्रियों के बहकाने में नहीं आया। घनीराम निराश हो कर जयकृत शाह के पास वापस आया और कहा—

बिना माल फौज नहिं आवें।
बातन सों कोइ नाहि पत्यावें।।

राजा ने कहा कि अब तुम मेरे मंत्रिगण उद्योग करो और अपनी शक्ति का परिचय कराओ। तुम लोगों ने धन बहुत संचय कर रक्खा है, यह सुन कर घनीराम ने सेना को अपने काबू में कर राजा को घेर लिया—

तीन दिवस लों कायल कीने।
राजा परजा बहु दुख दीने।।

जयकृत शाह ने—

जयकृत शाह का शरीरान्त

तब जड़ाउ संदूक मंगायो।
ताकों दे निज प्राण बचायो।।

राजा—

अहंकार करिके बौराये।
रैका से देवप्रागहि आये।।
देवप्राग हरि दरसन कीन्यो।
चौथे दिवस प्राण तह दीन्यो।।
सती चार राजा की भई।
श्राप कुवर मंत्रिन दे गई।।
इह कही नृप के सगहि जली।
सूरज मंडल भेद हि चली।
देवप्राग भंडार लुटायो।
जिन पायो तिन ही ने छिपायो।।

मोलाराम अपन काव्य में यह नहीं लिखता है कि जयकृत शाह की मृत्यु कैसे हुई। श्री हरिकृष्ण रतूड़ी भी इस के विषय में कुछ नहीं लिखते हैं। न गढ़वाल के गजे-

टियर मे ही इस के विषय में कुछ लिखा है। यह देखते हुए कि जयकृत शाह चारो ओर बागियो से घिरा हुआ था, मत्री एक के बाद दूसरा षड्यत्र उस के विरुद्ध रच रहे थे, उस के भाई प्रद्युम्न और परानम उस के खिलाफ हो गए थे, राज्य छोड कर उसे प्राणरक्षा के लिए इधर-उधर भागना पड रहा था, राज्य उस से छीना जा चुका था, सभवत जयकृत शाह ने आत्महत्या की। जयकृत शाह की मृत्यु २५ वर्ष की अवस्था में १८ गते कार्तिक सवत् १८४३ (सन् १७८५) में हुई।

जयकृत शाह का आत्मघात

गढवाल में सती-प्रथा प्रचलित थी, राज्य-वश और राजघराने से सबध रखने वाले तथा पुराने गढवाली छोटे-छोटे राजाओ के वशजो में कभी-कभी सती हुआ करती थी।[1] जयकृत शाह की रानी अपना और राजा के पास जो धन व आभूषण थे वह सब दान कर के अपने बालक पुत्र सुदर्शन को मत्रियो को सौंप कर जयकृत शाह के साथ स्वर्ग को सिधारी। अस्तु राजा व रानी दोनो ने आत्महत्या कर दुष्ट मत्रियो के षड्यत्रो से अपना पिंड छुडाया। जयकृत शाह की मृत्यु (जो २५ वर्ष की अवस्था में हुई) व उन की रानी के देहात के कारण स्वार्थी राज्य-कर्मचारी थे।

रानी

[२२]

प्रद्युम्न शाह (सन् १७८६-१८०४ ई०)

गढ़वाल के गजेटियर के अनुसार जयकृत शाह की मृत्यु पर सब से छोटे भाई पराक्रम शाह ने गढवाल के राजमुकुट को अपने शिर पर रख लिया था। प्रद्युम्न शाह अलमोडे मे ७ वर्ष राज्य करने के बाद जयकृत शाह की मृत्यु का समाचार सुन कर श्रीनगर आया और गढवाल के

प्रद्युम्न और पराक्रम

---

[1] सतियों के मंदिर, जिन को वास्तव में छोटे-छोटे स्मारक या चौरे कहना चाहिए अब तक कई मौजूद है, अब तक हमें सती का आखिरी उल्लेख यही सन् १७८५ का मिला है। मालूम होता है कि इस के बाद सती की प्रथा बंद हो गई थी। लैंसडौन और कोटद्वार से १५ मील के फासले पर डाडामंडी जो पौड़ी-श्रीनगर की आम सड़क पर है, वहां दो छोटे नालो के मिलान पर तीन सतियो के मदिर अब भी मौजूद हैं। जयकृत शाह की सती रानी का मंदिर देवप्रयाग में विद्यमान है।

राजसिंहासन पर बैठा, और कुमाऊँ के राजसिंहासन पर बैठने के लिए पराक्रम शाह को भेज दिया।[1]

प्रद्युम्न और पराक्रम डोटी की लाडली रानी से उत्पन्न थे। इस के विषय में मोलाराम लिखते हैं—

बडो प्यार डोटी की रानी।
कहन में छोटी अति मनमानी॥

और उस के अनुरोध पर ललित शाह प्रद्युम्न शाह को अपना उत्तराधिकारी बनाने का वचन दे गए थे। किंतु जयकृत शाह के ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण उसी को मंत्रियो ने ललित शाह की मृत्यु के बाद गढवाल के राजसिंहासन पर बैठाया। प्रद्युम्न शाह को गढवाल का राजसिंहासन ललित शाह की इच्छानुसार उस की मृत्यु के बाद मिलता।

प्रद्युम्न शाह को कुमाऊँ का राज्य कैसे मिला?

किंतु ललित शाह के जीवन-काल मे ही उसे प्रद्युम्न शाह के लिए कुमाऊँ का राज्य अनायास ही मिल गया। हर्षदेव और जयानद जोशियो के आग्रह पर ललित शाह ने प्रद्युम्न शाह को कुमाऊँ का राजा नियत किया।

शुभ दिन नीको छाटि के लीन्यो।
राजतिलक तब कुवर को कीन्यो॥
प्रदुमन चद तहू नाम धरायो।
कुरुमाचलि को नृपति ठैरायो॥

इस विषय में ऐटकिंसन लिखता है कि मोहनसिंह (मोहनचद) जो अत्याचार कुमाऊँ में कर रहा था उस को देख कर ललित शाह दु खी हुआ और उस ने अपनी सेना लेकर कुमाऊँ की प्रजा की सहायता के लिए प्रस्थान किया। "लोहवा के रास्ते ललित शाह एक बहुत बडी सेना प्रेमपति कुमारिया सेनापति को साथ लेकर द्वारा आया। मोहनसिंह ने अपने भाई लालसिंह को गढवालियो का सामना करने के लिए भेजा। मोहनसिंह ने हर्षदेव को बुलवाया और उसे विज्ञप्ति की कि कुमाऊँ के पुराने दुश्मनो के

[1] 'गढ़वाल गजेटियर', पृ० १२३

साथ लडने के लिए जाओ और इस के पारितोषिक में तुम को तुम्हारा दीवान-पद और जागीर वापस दे दी जायेगी। हर्षदेव ने बाहरी मन से अपनी स्वीकृति प्रकट की। इतने में खबर आ गई कि कुमाऊँनी सेना गढवालियो ने बग्वाली पोख पर बहुत बुरी तरह से (सन् १७७९ मे) परास्त कर दी। यह समाचार सुन कर मोहनसिंह रगोली काली हो कर भाग कर लखनऊ गया और वहाँ से रामपुर पहुँचा। उस का भाई लालसिंह और उस के अन्य अनुयायी भी वही पहुँच गए। मोहनसिंह चाहता था कि हर्षदेव भी उस के साथ जाय। लेकिन उस ने इन्कार किया। ललित शाह ने हर्षदेव को अपने पास बुलाया। और उस के परामर्श के अनुसार अपने बेटे प्रद्युम्न को प्रद्युम्नचद का नाम दे कर चद राजाओ के राजसिंहासन पर बैठा कर अलमोडे का राजा नियत किया।"[१]

[३२]

प्रद्युम्न शाह का कुमाऊँ में राज्य (१७७९-१७८६)

प्रद्युम्न शाह ने अलमोडे (कुमाऊँ) मे ७ वर्ष (सन् १७७९–८६) राज्य किया। ऐटकिंसन के अनुसार प्रद्युम्न शाह ने हर्षदेव, जयानद और गगाधर जोशियो को राज्य के बडे-बडे पदो पर नियत किया। ऐटकिंसन का खयाल है कि प्रद्युम्न शाह अलमोडे में बहुत अच्छी तरह से राज्य करता, किंतु अलमोडे के लोग राज्य-क्रांति के अभ्यस्त हो गए थे। इस लिए वहाँ सुशासन का चिरस्थाई होना आसान नही रहा।

जब ललित शाह की मृत्यु के बाद सन् १७८० ई० में जयकृत शाह गढवाल के राजसिंहासन पर बैठा तो उस ने कहा कि मै बडा भाई हूँ। इस लिए गढवाल के राजा के सामने तुम छोटे भाई प्रद्युम्न शाह कुमाऊँ के राजा को सिर नवाना पडेगा। प्रद्युम्न शाह इस पर राजी नही हुआ। उस ने कहा कि 'कुमाऊँ ने गढवाल के आधिपत्य को कभी स्वीकार नही किया है। मै कुमाऊँ के राजसिंहासन के उच्चासन को नीचा नही होने दूँगा।' इस पर दोनो भाइयो के बीच अनबन हो गई।

भाइयों में अपने-अपने राज्य के गौरव के लिए लड़ाई

---

[१] ऐटकिंसन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', जिल्द ३, पृ० ६०१–२

इसी बीच मोहनसिंह १४०० नागे फकीरो के एक जत्थे को इलाहाबाद से प्रद्युम्न शाह से लडने के लिए लाया। उस ने नागे फकीरो से कहा था कि अल्मोडे को जीतने पर तुम उसे लूट लेना। ये नागे अपने चार महतो के साथ कोसी और स्याल नदियो के सगम तक आ पहुँचे थे। प्रद्युम्न शाह की कुमाऊँनी सेना ने चरलख पर नागो का सामना किया। ७०० नागे रणभूमि में काम आए। बाकी ७०० बचे हुए नागे भाग कर चले गए। तब से कुमाऊँ में एक कहावत प्रसिद्ध है "जोगी का बाबू को कटक क्या घरियो छियो।"

अलमोडे पर नागों की चढाई

जयकृत शाह और प्रद्युम्न शाह के बीच की अनबन बढती गई। पुराना वैमनस्य जो गढवाल और कुमाऊँ के बीच में था उस की चिनगारियाँ अब भी मौजूद थी। जयकृत शाह के मत्रियो ने उसे भडकाया। जयकृत शाह ने कहा कि चूँकि वह बडा भाई है इस लिए वह दोनो राज्यो (गढवाल और कुमाऊँ) का अधिकारी है। हर्षदेव अपने साथ एक सेना लेकर जयकृत शाह से मिलने गया। जयकृत शाह ने उस से मिलने से इन्कार किया, और हर्षदेव पर आक्रमण कर दिया। हर्षदेव के साथ सेना बहुत थी, इस लिए उस ने जयकृत शाह को हरा दिया। जयकृत शाह भाग गया। कुमाऊँनी फौज ने जयकृत शाह का पीछा किया और रास्ते में जितने गाँव पडे उन को लूटा और जला दिया। देवलगढ के मदिर को भी लूटा। और गढवाल की राजधानी श्रीनगर पर अधिकार कर लिया। जयकृत शाह के श्रीनगर को छोड अलकनदा के पार वर्तमान टेहरी गढवाल में जाने पर पराक्रम ने गढवाल के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। प्रद्युम्न शाह ने चाहा कि वह स्वय गढवाल का राजा बने और पराक्रम के सिपुर्द कुमाऊँ का राज्य कर देवे। पराक्रम पहले तो इस बात पर राजी नही हुआ। परतु पीछे प्रद्युम्न शाह का कहना मान गया। गढवाल की राजगद्दी पर प्रद्युम्न शाह ने कब्जा किया और पराक्रम शाह अलमोडे में राज्य करने चला गया।

गढवाल पर जोशियों का धावा

मोलाराम और ऐटकिसन दोनो के अनुसार प्रद्युम्न शाह ने प्रद्युम्न चद के नाम

से कुमाऊँ में ७ वर्ष (सन् १७७९--१७८६) तक राज्य किया। वास्तव मे प्रद्युम्न शाह अलमोडे के मत्रियो के हाथ का कठपुतला था। उन को खुश रखने के लिए प्रद्युम्न शाह ने अलमोडेवालो को जागीरें दी। सन् १७८१ में कृष्णानद जोशी के वश को, सन् १७८२ में वेणीराम उपरेती के वश को और सन् १७८४ मे खोघर तथा बालकृष्ण जोशी के वश को जागीरें मिली, जिन के दानपत्र मौजूद हैं।

अलमोडे में प्रद्युम्न शाह की जागीरें

जयकृत शाह की मृत्यु के बाद जब प्रद्युम्न चद कुमाऊँ के राजसिंहासन को छोड कर गढवाल की गद्दी पर जा बैठा तब पराक्रम शाह अलमोडे पर राज्य करने को आया। वह गढवाल से अपने साथ, कुमाऊँ राज्य के शत्रु मोहनसिंह और लालसिंह से कुमाऊँ को बचाने के लिए, गढवाली सेना लाया और उस को नैथाणा के किले में, (जो पट्टी दोरातला में है) नदराम, मोहनसिंह और लालसिंह की फौज से लडना पडा। हर्षदेव कुछ सिपाहियो को लेकर वहाँ पर पराक्रम शाह की बाट देख रहा था। ये कुमाऊँनी सिपाही जी लगा कर नही लडे। और उन मे से कुछ भाग भी गए। क्योकि उन का पराक्रम के विषय मे खयाल था कि वह अलमोडे के बजाय श्रीनगर को ज्यादा चाहता है। अस्तु मोहनसिंह की जीत हुई। हर्षदेव भाग कर देश चला गया (सन् १७८६ ई०) और मालूम होता है कि पराक्रम शाह यहाँ से वापस गढवाल को गया और जैसा कि हम ऊपर मोला-राम के शब्दो में बता चुके है पराक्रम शाह ने कुछ गढवाली मत्रियो को अपनी तरफ कर के प्रद्युम्न शाह से कुछ समय के लिए राज्यसिंहासन छीन लिया। इस बात को ऐटकिंसन भी दर्शाता है, कि जब मोहनसिंह ने सन् १७८६ में हर्षदेव और पराक्रम शाह को पराजय किया, तब उस ने पराक्रम शाह से यह समझौता किया कि तुम गढवाल में राज्य करो और हम कुमाऊँ मे राज्य करेंगे। इन दोनो के बीच एक सधि भी हुई कही जाती है, जिस के अनुसार गढ़वाल और कुमाऊँ की सरहद कायम कर दी गई थी। मालूम होता है कि यही कारण है कि जब हर्षदेव ने मोहनसिंह के विरुद्ध लडने के लिए गढ़वाल के राजा की सहायता माँगी तो उस ने नही दी। और तब हर्षदेव ने देश से आकर मोहनसिंह और लालसिंह का सामना किया। उन को परास्त कर लालसिंह को क्षमा प्रदान की, और मोहनसिंह को मार डाला (सन् १७८८)। मोहनसिंह का लडका महेंद्रसिंह भाग कर

पराक्रम का अलमोडे में राज्य और आधिपत्य

रामपुर चला गया। हर्षदेव अलमोडे में आया और वहाँ से उस ने प्रद्युम्न शाह को लिखा कि यहाँ का राजसिंहासन खाली है, तुम फिर आ कर कुमाऊँ में राज्य करो। किंतु प्रद्युम्न शाह इस बात पर राजी नहीं हुआ। लालसिंह और मोहनसिंह के अन्य अनुयायी और सहायकों ने अलमोडे पर हमला किया, जोशीदल को परास्त किया, और भागते हुए हर्षदेव का पीछा गढवाल में उल्कागढ तक किया। उल्कागढ में प्रद्युम्न शाह ने हर्षदेव की सहायता के लिए एक गढवाली फौज भेजी। पराक्रम शाह जो मोहनसिंह का मददगार था उस ने अपने भाई प्रद्युम्न शाह के विरुद्ध लालसिंह की मदद के लिए गढवाली सिपाही भेजे। इस लिए हर्षदेव सफल न हुआ। वह श्रीनगर प्रद्युम्न शाह के पास चला गया। पराक्रम शाह को लालसिंह ने एक लाख रुपया सालाना कर देना स्वीकार किया, और इस के बदले पराक्रम शाह मोहनसिंह के पुत्र महेंद्रसिंह को अलमोडे के राजसिंहासन पर रखने के लिए राजी हो गया। इधर तो प्रद्युम्न शाह ने महेंद्रसिंह के शत्रु को श्रीनगर में शरण दी, उधर उस के छोटे भाई पराक्रम ने स्वयं अलमोडे जा कर महेंद्रसिंह को महेंद्रचंद बना कर कुमाऊँ का राजा नियत किया, और स्वयं श्रीनगर वापस आ गया और हर्षदेव को वहाँ से भगा दिया। इस तरह गढवाल के राजा प्रद्युम्न शाह और पराक्रम शाह का राज्य जो कुमाऊँ में शुरू हुआ था उस का पराक्रम शाह ने स्वयं सन् १७८८ में अंत कर दिया।

[३४]

प्रद्युम्न शाह का गढवाल में राज्य (१७८६-१८०४)

मोलाराम के काव्यानुसार जयकृत शाह के देवप्रयाग में प्राण त्याग करने पर गढवाल राज्य के मंत्रियों ने, प्रद्युम्न शाह जिस की अवस्था उस वक्त २१ वर्ष की थी, और जो उस समय कुमाऊँ में राज्य कर रहा था, उस के लिए अल्मोडे पत्र भेजा। प्रद्युम्न शाह, जिस को अलमोडे में चंद राजाओं के उत्तराधिकारी नियत होने के कारण प्रद्युम्न चंद कहते थे, अलमोडे से हर्षदेव जोशी को साथ लेकर श्रीनगर आया। अर्थात्—

प्रद्युम्न शाह जयकृत शाह का उत्तराधिकारी नियत हुआ

स्वर्गवास जब जयकृत भये।
मंत्रिन लिखी चिट्ठी दये॥

अलमोड़े से—

प्रद्युमन प्राक्रम सुनतहि आये।
हरखदेव जोशी संग लाये॥
प्रद्युमनसाह् कों राज बैठायो।
अजबराम नेगी हि मरायो॥
गढ़मंत्री मिलि मंत्र ठैरायो।
हरखदेव इह भलो न आयो॥
कुरमांचली छलो अन्यायो।
सब ने मिलि के दयो धपाई॥

गढ़मंत्री आपसहि में, राखन लगे सिपाहि।
प्रद्युमन प्राक्रमसाह् कौं, दीना फूट गिराहि॥

कुंवर आपनो हुकम चलावे।
राजा कौं खातर नहि लावे॥
मंत्री मिले कुंवर संग जाई।
आपस दीने वुह भिड़ाई॥

दोनो राजाओ (प्रद्युम्न शाह और कुँवर पराक्रम शाह) की हुकूमत चलने लगी।

राजमंत्रि राजा को चाहें।
कुंवर मंत्रि राजा को रिसाहें॥
कुंवर मंत्रि सकल्याणी भये।
राजमंत्रि हवे रामा रहे॥
रामा धरणी दोऊ भाई।
जात खंडूड़ी उमर जवाई॥
सीसराम सिवराम सहोदर।
ज्यों रावण के मंत्रि महोदर॥

राजकाज सब कुंवर कौं दीन्यो ।
राजा हुकम जपत कर लीन्यो ।।
राजमंत्रि तब भये किनारे ।
गये[1] सु राजपुत्र के द्वारे ।।
राजपुत्र को दियो सिखाई ।
पिता तुहारे लिये दबाई ।।
तुमहूं अब कछु होस सिंभालो ।
हमरे संग बाहर तुम चालो ।।
बाहर चलि हम करें लड़ाई ।
तुमकों राज देंइ बैठाई ।।
साह सुदरसन तिन को नामा ।
तिनसों मंत्र कियो इह रामा ।।
कुवर सुनत इह बाहर आये ।
रामा पति निज द्वार बिठाये ।।
लगे मोरचा सहर में सारे ।
सिरीनगर और रजहिं द्वारे ।।
भगे लोक सबही अकुलाई ।
चचा भतीजे लगी लड़ाई ।।
राजा कुवर ने कीन्यो काबू ।
बाहर वे छत्री नर बाबू ।।
चहू गिरद सौं चले बदूकें ।
मानों घन महि केका कूकें ।।
पथर कला बाजे घन गाजें ।
चमकें बाला बिजली लाजें ।।

राजा (प्रद्युम्न शाह) और कुँवर (सुदर्शन शाह) की लड़ाई

---

[1] सुदर्शन शाह, जिस को जयकृत शाह की रानी सती होते समय मंत्रियों के पास छोड़ गई थी ।

बिचली फल गढ़ पड़ी लड़ाई ।
निकसे बाहर दोनों भाई ।।

महाराज ले कुंवर ही, उतरे गंगा पार ।
साह सुदरसन फौज ले, रहे जो गंगा वार ।।

मालूम होता है कि सुदर्शन शाह का पक्ष बलवान था। प्रद्युम्न शाह और पराक्रम शाह से लोग खुश नहीं थे। प्रजा की सहानुभूति युवा सुदर्शन शाह के साथ थी। इस परिस्थिति को देख प्रद्युम्न शाह और पराक्रम शाह श्रीनगर राजधानी को छोड़ गंगा (अलकनंदा) के उस पार चले गए और तब—

वार पार सौं फौजें आवें ।
करें लड़ाई लड़ भिड़ जावें ।।
केते दिवसहि लड़ते भये ।
पूरब पाप उदय ह्वै गये ।।
कटे मरे जो लोक हजारो ।
सिरीनगर औ धारा धारो ।।

देवनागरी लिपि-सुधार

[लेखक—डाक्टर बाबूराम सक्सेना, एम्० ए०, डी० लिट्०]

लिपि का उद्देश्य भाषा की ध्वनियों को अंकित करना है। इस के द्वारा वक्ता (लेखक) की अनुपस्थिति में भी उस का अभिप्राय प्रकट किया जा सकता है। इसी कारण सभ्यता के अन्य साधनों में लिपि-कला भी अपना विशेष महत्व रखती है।

लिपि-कला का आविष्कार कब, कहाँ, और कैसे हुआ, इस विषय में विद्वानों का एक मत नहीं है। भारतवर्ष में लिपि-बद्ध प्रथम लेख सम्राट् अशोक के हैं। इन लेखों की तिथि प्राय: २५० ई० पू० के इधर-उधर समझी जाती है। यह लेख दो लिपियों में मिलते हैं—खरोष्ठी तथा ब्राह्मी में। इन में से खरोष्ठी दाहिनी ओर से बाईं ओर को और ब्राह्मी बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। खरोष्ठी केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश में, शहबाजगढी और मानसेहरा के शिलालेखों में प्रयुक्त पाई गई है, अन्य लेखों में सर्वत्र ब्राह्मी है।

अशोक के लेखों के पश्चात् प्राय: सभी पुराने लेख ब्राह्मी अथवा उस से प्रादुर्भूत लिपियों में ही लिखे हुए मिले हैं। गुप्त सम्राटों के समय तक ब्राह्मी के दो रूप प्रचलित हो गए थे, एक उत्तरी दूसरा दक्खिनी। उत्तरी रूप का एक रूपांतर देवनागरी लिपि है। वर्तमान देवनागरी लिपि का कोई न कोई रूप प्राय: ईसवी आठवीं शताब्दी से मिलता है, और ईसवी बारहवीं शताब्दी से इस का रूप प्राय: स्थिर-सा हो गया है।

रूप स्थिर होने पर भी यह नहीं है कि इस में कोई परिवर्तन नहीं होते रहे हैं। अभी गत सौ दो सौ वर्षों की ही हस्तलिखित पुस्तकों के अवलोकन मात्र से ही पता चलता है कि 'अ' में मात्राएँ लगा कर 'इ', 'उ', 'ए' आदि स्वरों का बोध होता था, 'य' को 'य' बनाने के लिए उस के नीचे केवल बिंदी लगा दी जाती थी, अन्यथा उस से 'ज' का बोध

का आधिपत्य है, होते रहेंगे, पर निकट भविष्य में रोमन इस देश में भारतीय भाषाओं को अंकित करने के लिए स्थान स्थिर कर सकेगी यह दुराशा है। देवनागरी का व्यवहार प्राय सभी प्रांतों में संस्कृत लिखने के लिए और भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा हिंदी और प्रांतीय भाषा मराठी लिखने के लिए पहले से ही है। विद्वानों का विचार है कि यदि इस की त्रुटियों को दूर कर दिया जावे तो संभव है इस के अधिक पृष्ठपोषक हो जावें। आशा की जाती है कि यह किसी समय भविष्य में सुयोग पाने पर अखिल-भारतीय लिपि का पद प्राप्त कर सकेगी। कुछ भी हो, यदि त्रुटियाँ दूर की जा सकें तो उन्हें अवश्य दूर कर देना चाहिए।

इन पंक्तियों के लेखक ने जनवरी १९३२ (पृ० १-१४) में 'देवनागरी लिपि तथा हिंदी अक्षर-विन्यास' शीर्षक एक लेख दिया था, और उस में हिंदी भाषा की दृष्टि से कुछ प्रस्ताव जनता के सामने उपस्थित कर अनुरोध किया था कि लिपि तथा अक्षर-विन्यास संबंधी "प्रश्नों पर समुचित विचार कर लिया जावे और सर्व-सम्मति से कुछ निर्णय कर लिया जावे।" देवनागरी लिपि के सुधार के प्रश्न को अब केवल हिंदी भाषा की दृष्टि से ही नहीं पर अखिल भारत की संस्कृतोद्भूत भाषाओं तथा संस्कृत को आदरणीय माननेवाली तामिल, तेलगू आदि भाषाओं की दृष्टि से सुलझाना है। प्रसंगवश यदि कोई अवैज्ञानिक बात अपनी लिपि में हो तो उसे भी इसी समय दूर कर देने का प्रयत्न आवश्यक है। इस दृष्टि से साहित्य-सम्मेलन की उपसमिति के प्रस्तावों पर विचार करना वांछनीय है।

(१) समिति का निर्णय है कि देवनागरी-लिपि के अक्षरों पर शिरोरेखा आवश्यक नहीं है। इस लिए समिति ने सिफारिश की है कि लिखने में शिरोरेखा वैकल्पिक हो और छापने में प्रेस वाले उसे हटाने की कोशिश करें।

शिरोरेखा देवनागरी लिपि में है, गुजराती, बंगाली आदि में नहीं है। इस के खींचने से कुछ समय का अपव्यय भी होता है। देवनागरी लिपि में भी यह ग्यारहवीं शताब्दी से इधर की पोथियों में मिलती है, इस से पूर्व केवल अक्षरों के ऊपर नोकें रहती थीं, इन्हीं को आजकल 'सेरिफ' कहते हैं। समिति का प्रस्ताव 'सेरिफ' रखने का है ही। शिरोरेखा-विहीन अक्षर देखने में भद्दे लगेंगे या नहीं यह रुचि-विभिन्नता की बात है। कोई सीधी रेखा खींचते हैं, कोई जंजीरदार और कोई खींचते ही नहीं, यह तीन विकल्प

आज भी लिखने में उपस्थित हैं। समय की बचत की दृष्टि से शिरोरेखा को हटा देना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। कुछ अक्षरो में शिरोरेखा के रूप के कारण ही आजकल देवनागरी मे भेद माना जाता है, यथा 'ध' और 'घ' तथा 'म' और 'भ' में। ऐसे अक्षरो में भेद रखने के लिए 'ध' और 'भ' को जरा ऊपर से उठा कर लिख सकते है (देखिए चित्र १)।

चित्र-१

ध = ध , घ - घ , भ = भ, म = म

(२) समिति का प्रस्ताव है कि 'इ' की मात्रा जो आजकल व्यजन के पूर्व (यथा 'कि', 'हि', 'ति') लगाई जाती है वह व्यजन के उपरात लगाई जावे। यह प्रस्ताव इस वैज्ञानिक नियम के अनुसार है कि ध्वनियाँ उच्चारण-क्रम से अकित की जावें। पर 'इ' और 'ई' की मात्राओ ('ि' और 'ी') में भेद प्राय स्थानभेद के कारण है। यदि दोनो व्यजन के उपरात लगेंगी तो दोनो में भ्रम हो जाना सभव है। अतएव 'इ' की मात्रा का क्या रूप हो यह निश्चय करना चाहिए।

(३) इस समय स्वरो के मूल-रूप कुछ और उन की मात्राएँ कुछ है। उदाहरण के लिए 'इ' और 'ि', 'ए' और 'े' में कुछ समता नही दिखाई पडती। व्यजनो का एक मूल-रूप 'क', 'ग' आदि है, इसी प्रकार समिति का प्रस्ताव है कि समस्त स्वरो का एक मूल-रूप ('अ') रक्खा जावे और उसी में मात्राएँ जोड कर विभिन्न स्वरो का बोध कराया जावे। इस प्रकार चित्र न० २ में अकित स्वर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ के स्थान पर माने जावें। इस प्रस्ताव को मान लेने से दो लाभ होगे—एक तो विभिन्न

चित्र-२

अ आ अि अी अु अू अृ अे अै अो अौ

कु कू कृ के कै कं कं

स्वरो और उन की मात्राओ मे समानता आ जावेगी, दूसरे 'इ', 'ई', 'उ', 'ऊ', 'ऋ', 'ए', 'ऐ' इन सात स्वरो की आकृतियो के बहिष्कार से कुछ सरलता भी हो जावेगी।

(४) कुछ भाषाओ मे ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' व्यवहार में आते है; दक्षिण

की लिपियों में इन के लिए चिन्ह हैं। देवनागरी में भी चित्र न० ३ में प्रदर्शित चिन्ह स्वीकार कर लिए जाने का प्रस्ताव मान्य होना चाहिए। यदि अन्य भाषाओं में और ध्वनियाँ हों तो उन के लिए चिन्ह निर्धारित हो जाने चाहिए।

चित्र-३

स्वर ऍ , मात्रा ॅ

स्वर ऑ , मात्रा ॉ

(५) समिति का यह प्रस्ताव कि "युक्ताक्षरों में भी सब व्यंजन और स्वर उच्चारण के क्रम से लिखे जावें, रेफ भी उच्चारण के क्रम से दो अक्षरों के बीच में आ जाए" सर्वमान्य होना चाहिए। इस समय रेफ को उसके उपरांत आने वाले व्यंजन पर अथवा उस के भी उपरांत वाले स्वर (मात्रा रूप) के ऊपर लिखने की प्रथा है, यथा, 'धर्म', 'कर्ता' आदि। यह प्रथा छोड़नी चाहिए। उच्चारण क्रम से 'कर्ता' को 'कर्‍ता' और 'धर्म' को 'धर्‍म' लिखना चाहिए, कुछ दिनों तक यह रूप खटकेंगे पर शीघ्र ही नेत्रों को इन का अभ्यास हो जावेगा। इस नियम के अनुसार जो-जो मात्राएँ व्यंजनों के ऊपर-नीचे लगती है, यथा 'कु', 'के' आदि में वे व्यंजन के ज़रा आगे हटा कर लगाई जावें पर लगाई ऊपर नीचे ही जावे। इस के स्वरूप का उदाहरण चित्र २ में दिया है।

समिति ने ॐ, श्री और ज्ञ के रूप में कोई परिवर्तन इस कारण से नहीं किया कि यह अक्षर पवित्र माने गए हैं।

(६) अनुस्वार और चंद्रबिंदु में बराबर गड़बड़ पड़ती रही है, बहुधा अनुस्वार से चंद्रबिंदु का ग्रहण होता है, जैसे कहा = कहाँ। समिति का प्रस्ताव है कि दोनों ध्वनियों में भेद स्पष्ट रखने के लिए अनुस्वार को '॰' और चंद्रबिंदु को 'ँ' से अंकित किया जावे। संस्कृत आदि में आवश्यकता के अनुसार जहाँ हिंदी आदि आधुनिक भाषाओं में अनुस्वार का व्यवहार होना है, वहाँ तदनुकूल पंचमाक्षर (ङ, ञ, ण, न, म) का प्रयोग करना वैज्ञानिक होगा, यथा हिंदी कलंक, संस्कृत कलङ्क।

इस विषय में समिति के प्रस्ताव का कुछ अंश में संशोधन करना आवश्यक प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, हिंदी में 'कपटी' से 'कम्पटी' का बोध न हो 'कन्पटी' का

हो इस लिए तवर्ग और पवर्ग के व्यजनो के पूर्व पचमाक्षर ('न्' अथवा 'म्') लिखना अनिवार्य होना चाहिए, अन्या के साथ अनुस्वार का प्रयोग रह सकता है[१]।

(७) "अक्षर के नीचे बाईं ओर यदि बिंदी लगाई जावे तो उस का अभिप्राय यह होगा कि उस अक्षर की ध्वनि उस की मूल ध्वनि से भिन्न है। उस ध्वनि का निर्णय *प्रचलन के अनुसार होगा।*" इस प्रकार *चित्र ४ में अंकित सभी ध्वनियो का निर्माण हो* सकेगा। इन में से कुछ फारसी, कुछ अगरेजी और कुछ ग्रामीण बोलियो की है।

चित्र-४

क़, ख़, ग़, ज़, ऍ, फ़, ड़, ढ़, ऑ, द, फ, ब़

(८) समिति ने प्रचलित सभी विराम चिन्ह, यथा अर्धविराम ';', प्रश्नसूचक '?', भावसूचक '!', उद्धरण-सूचक "   " तथा '   ', आदि स्वीकार कर लिए हैं केवल पूर्ण विराम के लिए खडी पाई '।' रक्खी है।

समिति को इस प्रस्ताव पर भी विचार करना चाहिए कि नए पैराग्राफ अथवा नए वाक्य के प्रथम अक्षर का आकार कुछ बडा होवे। यह लिखाई में सभव नही। पर छपाई में सरलता से काम में लाया जा सकता है और उपयोगी सिद्ध होगा।

(९) देवनागरी में अक कई रूपो में लिखे जाते है। चित्र ५ में निर्दिष्ट रूपो को स्टैंडर्ड मानने की सिफारिश समिति द्वारा की गई है।

चित्र-५

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०

अन्य प्रचलित रूप १, ३, ५, ५, ६, ७, ८, ९ आदि

(१०) वर्तमान 'ख' का भ्रम 'रव' से हो जाता है, 'खाना' को 'रवाना' पढ सकते हैं। इस लिए 'ख' का रूप क्या रक्खा जावे यह प्रश्न है। समिति ने कोई रूप निर्धारित नही किया है, परामर्श मांगा है। कुछ लोगो का प्रस्ताव था कि *गुजराती 'ख' ले लिया*

---

[१] देखिए 'देवनागरी लिपि तथा हिंदी अक्षर-विन्यास', पृष्ठ ९

जावे। पर सभवत यह अच्छा होगा कि पुराने 'ष' की मध्य अतर रेखा को चित्र न० ६ के अनुसार दूसरी ओर से खीच कर प्रयोग में लाया जावे। 'ष' पुरानी पोथियो में 'ख' के स्थान पर वरावर मिलता है। 'ष' का प्रयोग भी विरले ही शब्दो में होता है इस कारण भ्रम की भी अधिक सभावना नही। सयुक्ताक्षर में भी केवल आडी पाई हटाने से कार्य चल जावेगा।

चित्र-६

प, ष्युक ष

(११) अन्य अक्षरो मे भी जहाँ विकल्प है, यथा 'ल', 'ळ', 'ञ', 'श' आदि में समिति ने कुछ रूपो को स्टैंडर्ड मानने की सिफारिश की है। हिंदी के 'ल' और 'श' को पसद किया है और वबई के 'अ' और 'झ' को तथा 'क्ष' को। 'क्ष' रूप गणित के लिए परिमित कर दिया है।

(१२) समिति ने यह भी सिफारिश की है कि जिन प्रातीय भाषाओ में 'ॠ' और 'ॡ' नही आते उन में वे पढाने में व्यवहार में न आवें। हिंदी में 'ऋ' (ह्रस्व) का उच्चारण ठीक ('रि') होता है। इस लिए हिंदी,के लिए आवश्यक है कि हिंदी शब्दो में 'ऋ' के स्थान पर 'रि' (जैसे 'रिण') लिखे और 'ऋ' को हिंदी वर्णमाला से निकाल दें। इसी प्रकार 'ष' और विसर्ग को हटा कर उन के स्थान पर 'श' और 'ह' का प्रयोग श्रेयस्कर होगा। सस्कृत की बात दूसरी है।

(१३) देवनागरी में सयुक्ताक्षर बडे जटिल है। इन को सुगम करने के लिए समिति ने प्रशंसनीय नियम निर्धारित किए है। जिस अक्षर के अत में आडी पाई है उस के सयुक्त रूप से वह हटा दी जावे यथा 'ग', 'र', 'प', 'ट' आदि, जहाँ ऐसी सुविधा नही है वहाँ सयोजक चिन्ह (‿) शृखला की एक कडिया के रूप में लगाया जावे। शब्द के अत में स्वर-विहीनता दिखाना आवश्यक हो तो प्रचलित हल् चिन्ह '्' ही रक्खा जावे। रेफ का '˚' रूप स्वीकार हुआ। इन नियमो को कार्य में परिणत करने से सयुक्ताक्षरो की भारी जटिलता दूर हो जावेगी।

समिति की सम्मति के अनुसार अक्षरों के जो रूप होंगे वे चित्र ७ में दिए जाते

चित्र-७

अ आ अि अी अु अू अृ (अॄ अॢ)

अे अै ओ औ (अॅ ऑ)

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व ळ

श ष स ह त्र (क्ष) त्र ॐ श्री

संयुक्ताक्षर -

क्र = ; प्र = ; त्र = ; हृ =

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

, । ? ! ‘ ’ “ ” ...

है। *इन लिपि चिन्हों में लिख कर एक पैराग्राफ भी (चित्र ८) उपस्थित किया जाता* है। इस समय भले ही यह आँखों को अटपटा मालूम हो पर भविष्य में यही अच्छा लगने लगेगा।

इन प्रस्तावों को कार्य में परिणत करने से टाइप-राइटर, छापे की मशीनों, लाइनो टाइप मशीन आदि की प्राय सभी कठिनाइयाँ दूर हो जावेंगी। अपनी लिपि के पर्याप्त *चिन्ह हट जावेंगे और हिंदी का लिखना और भी सरल हो जावेगा। देखने से यह प्रस्ताव* क्रांतिकारी जान पड़ते हैं पर वास्तव में ऐसा है नहीं। क्रांतिकारी तो ऐसा प्रस्ताव होगा कि वर्तमान चिन्हों को कम कर के केवल २५ तक रक्खे जावें और इस प्रकार रोमन की

बराबरी की जावे। प्रस्ताव तो केवल वर्तमान लिपि में छोटे-मोटे परिवर्तनों का है। इन परिवर्तनों को साहस कर के स्वीकार करना चाहिए। वर्तमान पीढ़ी को सम्भव है

चित्र-८

"अेक सज्जन ने जिनके कअी स्वजन क्वेटा के भूकम्प में मर गये हैं, अेक १७ वर्ष की युवती की दशा का वर्णन करते हुअे अेक बड़ा हृदयविदारक पत्र लिखा है। वह युवती अपना पति, दो महीने का अेक बच्चा, ससुर और देवर यानी ससुराल के सभी स्वजनों को क्वेटा के भूकम्प में गंवा बैठी है। पत्रलेखक सज्जन कहते हैं कि यह लड़की किसी तरह बच गअी, और जो कपड़े अुस वक़्त अुसके तन पर थे वही पहने हुअे यहां आअी है।"

अिस गद्यांश में प्रस्तावित चिह्नों में से केवल कुछेक का ही समावेश हो सका है।

इस के कारण कुछ असुविधा हो पर आनेवाली पीढ़ियों को कितना लाभ होगा उस का अनुमान कर के आगे कदम बढ़ाना चाहिए। इसी में कल्याण है।

मैथिलकविकुलचूड़ामणि महामहोपाध्याय
विद्यापति ठाकुर

[लेखक—डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०]

बालचन्द विज्जावइ भासा,
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा ।
ओ परमेसर सिर सोहइ,
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ ॥

(कीर्त्तिलता)

जन्मभूमि तथा वंशपरिचय

कविवर विद्यापति ठाकुर का जन्म मिथिला प्रांत में दरभंगा जिला के अंतर्गत जरैल परगना के बिसपी नामक ग्राम में हुआ था। यह ग्राम दरभंगे से उत्तर कमतौल बी० एन्० डब्ल्यू० रेलवे स्टेशन के बहुत ही समीप है। इस को लोग पहले गढविसपी भी कहा करते थे। सभव है यहाँ पूर्व में किसी राजा का गढ रहा हो। ऐसे अनेक गढ अभी भी मिथिला में खंडहर के समान पडे हैं। इन में खोज करने से अभी भी अनेक प्राचीन सिक्के आदि मिलते है। यही ग्राम विद्यापति के पूर्वजो का तथा विद्यापति का भी वासस्थान अनेक दिनो तक रहा। अभी कुछ ही दिन पूर्व इन के वंशज उक्त ग्राम को छोड कर मधुबनी सब डिवीजन के समीप सौराठ नामक ग्राम मे आ कर बस गए हैं।

विद्यापति के गुणो से लुब्ध महाराज मिथिलेश शिवसिंह ने इसी ग्राम को अपने राज्यकाल में कविवर को दान दे दिया था। यह दानपत्र ताबे के एक बडे पत्र मे खुदा हुआ है। इसी दानपत्र के बल पर विद्यापति के वंशजो ने १२५७ (फसली वर्ष) तक इस

ग्राम को अपने आयत्त में रखा था, बाद को अंगरेजी सरकार के सेटलमेंट-अफसरों ने दानपत्र को जाली समझ कर उन लोगों से ग्राम छीन लिया। प्राय इसी कारण विद्यापति के वंशज सौराठ चले आए। इस दानपत्र का लेख निम्नलिखित प्रकार है —

स्वस्ति श्रीगजरथेत्याद्विसमस्तप्रक्रियाविराजमान—श्रीमद्रामेश्वरीवरलब्धप्रसाद-भवानीभवभक्तिभावनापरायण—रूपनारायणमहाराजाधिराज—श्रीमच्छिवसिंहदेवपादा समरविजयिनो जरैलतप्पाया बिसपीग्रामवास्तव्यसकललोकान् भूकर्षकाश्च समादिशन्ति—ज्ञातमस्तु भवताम्। ग्रामोऽयमस्माभि सप्रक्रियाभिनवजयदेव—महाराजपण्डितठक्कुर—श्रीविद्यापतिभ्य शासनीकृत्य प्रदत्तोऽतो ग्रामकस्था यूयमेतेषा वचनकरीभूकर्षकादिकर्म्म करिष्यथेति लक्ष्मणसेन सम्वत् २९३ श्रावण सुदि ७ गुरौ।

श्लोकास्तु—

अब्दे लक्ष्मणसेनभूपतिमते वह्निग्रहद्वयङ्किते (२९३ ल० स०)
मासि श्रावणसज्ञके मुनितिथौ पक्षेऽवलक्षे गुरौ।
वाग्वत्या सरितस्तटे गजरथेत्याख्याप्रसिद्ध पुरे
दित्सोत्साहविवृद्धबाहुपुलक सभ्याय मध्येसभम् ॥१॥
प्रज्ञावान् प्रचुरोर्वरं पृथुतराभोग नदीमातृक
सारण्य ससरोवर च बिसपीनामानमासीमत ।
श्रीविद्यापतिशर्म्मणे सुकवये वाणीरसस्वादवित्
वीरश्रीशिवसिंहदेवनृपतिर्ग्राम ददे शासनम् ॥२॥
येन साहसमयेन शस्त्रिणा तुङ्गवाहवरपृष्ठवर्त्तिना।
अश्वपतिबलयोर्बल जित गज्जनाधिपतिगौडभूभुजाम ॥३॥
रौप्यकुम्भ इव यज्जलरेखा श्वेतपद्म इव शैवलवल्ली।
यस्य कीर्त्तिनवकेतककान्त्या म्लानिमेति विजितो हरिणाङ्क ॥४॥

द्विपनृपतिनाहिनी रुधिरवाहिनी कोटिभि
प्रतापतरुवृद्धये समरमेदिनी प्लाविता।
समस्तहरिदङ्गना चिकुरपाशवासक्षम
सितप्रसवपाण्डुरं जगति येन लब्धं यश ॥५॥

मतङ्गजरथप्रदः कनकदानकल्पद्रुमः
तुलापुरुषमद्भुतं निजधनैः पिता दापितः।
अखानि च महात्मना जगति येन भूमीभुजा
परापरपयोनिधिप्रथममंत्रपात्रं सरः॥६॥
नरपति कुलमान्यः कर्णशिक्षावदान्यः
परिचितपरमार्थो दानतुष्टार्थिसार्थः।
निजचरितपवित्रो देवसिंहस्य पुत्रः
स जयति शिवसिंहो वैरिनागेन्द्रसिंहः॥७॥

ग्रामे गृह्णन्त्यमुष्मिन् किमपि नृपतयोहिन्दवोऽन्ये तुरुष्काः
गोश्रोलं स्वाममार्सः सहितमनुदिनं भुञ्जते ते स्ववर्मम्।
ये चैनं ग्रामरत्नं नृपकररहितं पालयन्ति प्रतापैः
तेषा सत्कीर्त्तिगाथा दिशि दिशि सुचिरं गीयतां वन्दिवृन्दैः॥८॥

विद्यापति के पूर्वजों का परिचय हमें अनेक प्रकार से प्राप्त है। कुछ तो उन के ग्रंथों से ही तथा कुछ मिथिला में प्रचलित 'पंजीप्रबंध' से। इन के पूर्वज सभी धुरंधर विद्वान् थे। सभी ने ग्रंथ-रचना की है। प्राय ये लोग सभी मिथिला के भिन्न-भिन्न राजाओं के प्रधान कर्मचारी थे। विद्यापति के बीजीपुरुष विष्णुठाकुर थे। उन के पुत्र ठाकुर हरादित्य थे। इन के पुत्र कर्मादित्य थे। ये बड़े विद्वान् तथा कर्मठ थे। इन्हों ने ऋक्, यजु, तथा साम वेद का विशेष अध्ययन किया था, जिस के कारण इन्हें 'त्रिपाठी' की उपाधि मिली थी। बाबू श्रीनगेंद्रनाथ गुप्त का भी कहना है कि तिलकेश्वर नामक शिव के मठ में एक कीर्तिशिला है जिस पर कर्मादित्य का नाम खुदा हुआ है। यह राजमंत्री थे[1]। यह मिथिला के प्रथम ऐतिहासिक राजा कार्णाट-कुल-संभव नान्यदेव के मंत्री थे[2] जिन की स्त्री का नाम सौभाग्यदेवी था। इन्ही की आज्ञा से कर्मादित्य ने मिथिलास्थ प्रसिद्ध हावीडीह के ऊपर एक देवी का सिंहासन बनवाया था, जिस के पत्थर में खुदा हुआ है :—

---

[1] 'विद्यापति ठाकुरेर पदावली', भूमिका, पृ० १ (परिषद् ग्रन्थावली संस्करण)
[2] 'लिखनावली' की भूमिका, पृ० १

अब्दे नेत्रशशाङ्कपक्षगदिते (२१२) श्रीलक्ष्मणक्ष्मापतेः
मासि श्रावणसंज्ञके मुनितिथौ स्वात्यां गुरौ शोभने ।
हावीपट्टनसंज्ञके सुविदिते हैहट्टदेवीशिला
कर्म्मादित्यसुमन्त्रिणेह विहिता सौभाग्यदेव्याज्ञया[1] ॥

इसी से यह मालूम होता है कि लक्ष्मणसेन संवत् २१२ अर्थात् १३३१ खीस्ताब्द में कर्मादित्य वर्तमान थे। इन के दो पुत्र हुए—सांधिविग्रहिक देवादित्य (उपनाम प्रसिद्ध शिवादित्य) तथा राजवल्लभ भवादित्य। देवादित्य राजा हरिसिंह देव के प्रधान मंत्री थे। इन्हो नें बहुत से तालाब खोदवाए, अनेक यज्ञ दानादि भी किए[2]।

देवादित्य के सात पुत्र हुए—(१) भाडागारिक वीरेश्वर, (२) महावार्त्तिक नैबधिक धीरेश्वर, (३) महामहत्तक गणेश्वर, (४) भाडागारिक जटेश्वर, (५) स्थानान्तरिक हरदत्त, (६) मुद्राहस्तक लक्ष्मीश्वर, (७) तथा राजवल्लभ शुभदत्त। ये सातो भाई मिथिला के प्रसिद्ध राजा कार्णाट-कुलालंकार हरिसिंह देव की सभा के प्रधान सभ्य थे। ये सब भिन्न-भिन्न राजविभागो के अध्यक्ष थे, यह इन के उपाधियो ही से विदित होता है।

इन में सब से ज्येष्ठ वीरेश्वर ठाकुर थे। इन के बनाए हुए एकमात्र ग्रंथ 'छंदोगपद्धति' से लोग परिचित हैं। इस के आदि मे ग्रंथकार ने लिखा हैं—

देवादित्यकुले जातः ख्यातस्त्रैलोक्यसंसदि ।
पद्धतिं विदधे श्रीमान् श्रीमान् वीरेश्वरः स्वयम्[3] ॥

अंत में भी लिखा है—'इति सप्रक्रियमहावार्त्तिकनैबधिकठक्कुरश्रीवीरेश्वर-विरचिता छंदोगपद्धतिः समाप्ता[4] ॥

अपने पिता के समान वीरेश्वर भी राजसभा मे पूर्ण आदृत थे, और अपनी बुद्धि के बल शत्रुओ को हरा कर इन्हो ने राज्य को निष्कंटक बना दिया था। इन्हो ने बहिभत

---

[1] 'पुरुषपरीक्षा', टिप्पणी, पृ० २६३ (राज दरभंगा-प्रेस संस्करण)
[2] 'कृत्यरत्नाकर', श्लोक ७, ८, पृ० २–३
[3] मिथिला हस्तलिखित पुस्तकों की सूची, जिल्द १, पृ० १२२
[4] वही।

नामक ग्राम में एक बहुत विस्तृत तालाव खुदवाया और वही अपने रहने के योग्य एक सुदर भवन भी बनवाया था। इन्हो ने बहुत से महादान किए और दरिद्र तथा योग्य ब्राह्मणो को पूर्ण दान दिए। विद्वानो की मडली में सर्वदा इन की प्रशसा होती थी। यह दिगत-प्रसिद्ध धुरधर विद्वान् थे[1]। इन के रचित 'छदोगपद्धति' ही के सहारे अभी तक मिथिला में वैवाहिक सस्कार किया जाता है।

महावार्तिक नैबधिक वीरेश्वर ठाकुर भी अपने भाई के समान विद्वान् थे। ये भी राजविभाग के प्रधानो में गिने जाते थे। यद्यपि इन के बनाए हुए किसी भी ग्रथ का पता अभी तक नही लगा है तथापि इन के 'नैबधिक' उपाधि से यह स्पष्ट मालूम होता है कि इन्हो ने भी कोई धार्मिक निबध अवश्य रचा होगा, जिस के पाडित्य से मुग्ध हो कर राजा ने इन्हे भी नैबधिक तथा महावार्तिक उपाधिओ से भूषित किया था।

इन से छोटे महामहत्तक गणेश्वर ठाकुर थे। यह भी राजमत्री थे और लोक-

---

[1] (क) गुणाम्भोधेरस्मादजनि रजनो जानिरुदधे-
रिवाम्भोजाद्देवो द्रविण इव मन्त्रीदातिलकः।
नवं पीयूषाशोरमृतमिव, शक्तिप्रणयिनो
नयादर्यः श्लाघ्यादिव जगति वीरेश्वर इति॥
—'कृत्यरत्नाकर', श्लो० ९

(ख) लक्ष्मीभाजो द्विजेन्द्रानकृतकृतमतिर्यो महादानदानैः
प्रादत्तोच्चैस्तु रामप्रभृतिपुरवरं शासन श्रोत्रियेभ्यः।
वापीं चक्रेऽब्धिवद्यं दहिभतनगरे निर्जितारातिदुर्गः
प्रासादस्तेन तुङ्गो व्यरचि सुकृतिना शुद्धसोपानमार्गः॥
—'कृत्य०', श्लो० १०

(ग) यः सन्धिविग्रहविधौ बिविधानुभावः
शौर्य्योदयेन मिथिलाधिपराज्यभारम्।
निर्मत्सरं सुनयसञ्चितकोपजातं
सप्ताङ्गसङ्घटनसम्भृतमेव चक्रे॥
—'कृत्य०', श्लो० ११

(घ) प्रज्ञावता सदसि संसदि वाक्पटूनां
राज्ञा सभासु परिषत्स्वपि मन्त्रभाजाम्।
वित्तेऽर्थिनाञ्च कवितास्वपि सत्कवीना
वीरेश्वरः स्फुरति विश्वविलासकीर्त्तिः॥
—'कृत्य०', श्लो० १२

(ङ) मिथिला ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० १०८, ५०८

प्रिय होने के कारण लोगो से राजा के समान आदृत होते थे। प्राय इन्ही कारणो से लोग इन्हे महासामन्ताधिपति[1] तथा महाराजाधिराज[2] भी कहा करते थे। ये बडे धुरधर विद्वान् थे, इसी कारण इन्हे महामहोपाध्याय की उपाधि भी मिली थी[3]। ये आगमशास्त्र में बडे निपुण थे।[4] इन्हो ने अनेक ग्रथ लिखे, जिन में से (१) 'आह्निकोद्धार वाजसनयि'[5], (२) 'गगापत्तलक' (गगा नदी के सबध में)[6], (३) तथा 'सुगति-

---

[1] अभूद्देवादित्य सचिवतिलको मैथिलपते—
निजप्रज्ञाज्योतिर्दलितरिपुचक्रान्धतमस ।
समन्तादश्रान्तोल्लसितसुहृदर्कोत्पलमणौ
समुद्भूते यस्मिन् द्विजकुलसरोजैर्विकसितम् ॥१॥
अस्मान्महादानतडागयागभूदानदेवालयपूर्तविश्व
वीरेश्वरोऽजायत मन्त्रिराज क्ष्मापालचूडामणिचुम्बिताङ्घ्रि ।
लसन्महीपालकिरीटरत्नरोचिच्छटारञ्जितपादपद्म-
अस्यानुजन्मा गुणगौरवेण गणेश्वरो मन्त्रिमणिश्चकास्ति ॥२॥
सशोययप्रनिशमौर्वनिभप्रतापर्गाडावनीपरिवृढ सुरत्नानसिन्धु
धर्म्मावलम्बनरुर' करुणाद्रचेता यस्तीरभुक्तिमतुलामतुल प्रशास्ति ॥३॥
श्रीमानेष महामहत्तकमहाराजाधिराजो महा-
सामन्ताधिपतिर्विकस्वरयश पुष्पस्य जन्मद्रुम ।
चक्रे मैथिलनाथभूमिपतिभि सप्ताङ्गराज्यस्थिति
प्रौढानेकवशम्वदैकहृदयो दो स्तम्भसम्भावित ॥४॥
—'सुगतिसोपान'—मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ५०५–५०६

[2] वही।

[3] यह उपाधि यद्यपि आजकल सरकार की तरफ से मिलती है किंतु पूर्व में अध्यापक को 'उपाध्याय' कहते थे (इसी का अपभ्रंश आजकल 'ओझा' तथा 'झा' हो गया है), जब उपाध्याय के पढ़ाए हुए विद्यार्थी अध्यापक होकर उपाध्याय हो जाते थे तो उन के गुरु 'महोपाध्याय' कहलाने लगते थे, जैसे अनेककाव्य-टीकाकार मल्लिनाथ थे, एव उक्त उपाध्याय के शिष्य के शिष्य जब पढ़ाने लगते थे तब क्रमश परमगुरु 'महामहोपाध्याय', गुरु 'महोपाध्याय', तथा स्वय 'उपाध्याय' कहलाने लगते थे। यही विभाग प्राचीन काल में था। इस के अनुसार गणेश्वर रचित 'आह्निकोद्धार' के अत में लिखा है—'इति महामहोपाध्यायमहामहत्तकश्रीगणेश्वरविरचिते वाजसनेय्याह्निकोद्धार समाप्त'।
—मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ३६

[4] महामहत्तक' श्रीमानागमज्ञो गणेश्वर ।
—मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ३६

[5] मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ३६–३७

[6] वही, पृ० ८४–८६

सोपान' जिस में वैतरणीदान से ले कर सपिंडीकरण-पर्यंत की श्राद्ध-क्रिया का मार्ग बतलाया गया है।[१] इन्हें कविवर विद्यापति ठाकुर ने 'सांख्य सिद्धांतपारगामी' और 'दंडनीतिकुशल' बतलाया है।[२] ये बड़े चतुर थे। इन की चतुरता के संबंध में विद्यापति ने निम्नलिखित एक सच्ची घटना का उल्लेख किया है,[३] जिस का मैं अपने पाठकों के विनोदार्थ यहाँ उल्लेख करता हूँ—

देवगिरि स्थान में वामदेव नामक एक राजा रहते थे। ये मंत्री गणेश्वर के गुण-गान सुन कर क्षुब्ध हो गए और गणेश्वर के संरक्षक महाराज हरिसिंहदेव से इन्हों ने मैत्री कर ली जिस में भविष्य में हरिसिंहदेव के मित्र होने के कारण गणेश्वर इन की भी सहायता करें। एक समय राजा वामदेव ने एक पत्र द्वारा महाराज हरिसिंहदेव से उपहार-स्वरूप एक पंडित और एक मूर्ख की याचना की। मित्र का पत्र पा कर हरिसिंह चिंतित हो गए कि किस को किस को भेजूँ। राजा को चिंतित देख मंत्री गणेश्वर ने कहा कि महा-राज! आप चिंता न करें। यह पत्र केवल आप के मंत्री की (अर्थात् मेरी) बुद्धि की परीक्षार्थ भेजा गया है। यह तो विचारिए, देवगिरि नामक राज्य में कौन सी वस्तु दुर्लभ है। मूर्ख और विद्वान् सभी वहाँ भी अवश्य हैं। इस लिए आप इस पत्र के उत्तर में यह लिख दीजिए कि पंडित तो न मेरे राज्य में न आप के (अर्थात् देवगिरि) राज्य में देख पड़ते हैं। बुद्धि का फल तो आत्मज्ञान है इस लिए बुद्धिमान् पुरुष इन सांसारिक व्यवहार से तन्मय स्थानों में क्यों कर रहेंगे। ये तो प्राय काशी या अन्य किसी पुण्यतीर्थ में या किसी निर्जन पर्वत के कंदरों में समाधि में लीन मिलेंगे। अत इन्हीं स्थानों में पंडित के लिए खोज करनी चाहिए। मूर्ख तो सभी स्थानों में अनायास मिलते हैं। अतएव तुच्छ मूर्ख को भेज कर क्या लाभ होगा। मैं केवल मूर्ख को पहचानने के चिन्ह मात्र लिख भेजता हूँ—

सुन्दर कर सुन्दर चरण, दइव सुसम्पति पाव।
जनिकर निन्दा लोक में, से पुन मूर्ख कहाव॥

---

[१] मि० ह० पु० सूची, पृ० ५०५–५०६
[२] 'पुरुषपरीक्षा'—सुबुद्धिकथा, पृ० ६७ (दरभंगा संस्करण)
[३] वही।

पाओल मानुषजन्मकाँ, पुण्य न संचित भेल।
शुद्ध सुयश जनिकर न पुन, मूर्ख कोटि में गेल ॥

इस उत्तर को पा कर राजा और उन के सभासद गणेश्वर सहित हरिसिंह की बड़ाई करने लगे। इसी समय किसी कवि ने कहा था—

मन्त्रि गणेश्वर गुण सकल, जे गुणि गनथि उदार।
से समुद्र घट नाओ पर, श्रम बिनु उतरथि पार ॥
लौकिक वैदिक कार्ज में, यावत नहि विज्ञत्व।
तावत एहन हुनक कन, विधु सम मतो महत्व ॥

इन के अतिरिक्त वीरेश्वर के और जो चार भाई थे उन के संबंध में केवल इतना ही अभी ज्ञात है कि ये सब पूर्ण विद्वान् थे और हरिसिंहदेव के सभा के प्रधान गण्यमान पुरुष थे।

वीरेश्वर ठाकुर के दो पुत्र थे—रत्नाकर-ग्रंथों के रचयिता प्रसिद्ध चंडेश्वर तथा गोविंददत्त। इन में चंडेश्वर बड़े विद्वान् हुए। अपने पिता के बाद हरिसिंह के यह प्रधान मंत्री बनाए गए। इन के प्रयत्न से राजा हरिसिंहदेव ने नेपाल राज्य पर अपना आधिपत्य प्राप्त किया और पशुपतिनाथ महादेव के मंदिर तक पहुँचे। यह कहा जाता है कि नेपालियों से अतिरिक्त केवल यही प्रथम ब्राह्मण थे जिन्हों ने पशुपतिनाथ की पूजा की, तथा उन को स्पर्श किया।[1] इन्हों ने भी अनेक महादान किए तथा ब्राह्मणों को पूर्ण दान दिए। १३१५ ईस्वी में इन्हों ने वागवती नदी के किनारे सोने से 'तुलापुरुष' नामक महादान किया था।[2] अनेक शास्त्रों के यह विद्वान् थे। धर्मशास्त्र में तो इन के समान प्रायः कुछ

---

[1] (क) नेपाल गिरिदुर्गम भुजबलादुन्मूल्य तद्भूपतीन्,
सर्वान् राघववंशजान् रविरिपोस्तुल्यः प्रतापानलैः।
देवं विश्ववरप्रदं पशुपतिं सस्पृश्य योऽपूजयत्
केषां नैष धरातले स्तुतिपदं मन्त्रीन्द्रचण्डेश्वरः ॥

(ख) एष मैथिलमहीभुजा भुजद्वन्द्ववारितसमस्तवैरिणा।
धीविधायिनि कुलक्रमागते सन्धिविग्रहपदे पुरस्कृतः ॥

इन के अतिरिक्त और भी श्लोक 'कृत्यरत्नाकर' में देखिए।

[2] रसगुणभुजचन्द्रैः सम्मिते शाकवर्षे (१२३६)=१३१५ ईस्वी।
सहसि धवलपक्षे वाग्वतीसिन्धुतीरे।
अदितुलितमुच्चैरात्मना स्वर्णराशि
निधिरखिलगुणानामुत्त सामनाय:(?)॥
—'दानरत्नाकर', हस्त० न० २०६९, राजेन्द्रलाल मित्र की सूची।

दिनो कोई भी नही था। इन्हो ने सात प्रधान निबध लिखे—'व्यवहाररत्नाकर', 'कृत्यरत्नाकर', 'दानरत्नाकर', 'शुद्धिरत्नाकर', 'पूजारत्नाकर', 'विवादरत्नाकर', तथा 'गृहस्थरत्नाकर'। इन के अतिरिक्त 'राजनीतिरत्नाकर'[1] तथा 'शैवमानसोल्लास'[2] भी इन्ही के बनाए हुए ग्रथ है। ये ग्रथ सब मिथिला मे तो आदृत होते ही है किंतु अन्यत्र भी, यहाँ तक कि न्यायालयों मे भी पूर्ण सम्मानित होते हैं। चडेश्वर ने इतने बडे विद्वान् होने पर भी अपनी मातृभाषा मैथिली का अनादर कभी न किया। अपने रत्नाकरो में जहाँ कही उन्हे अपरिचित सस्कृत शब्दो का प्रयोग करना पडा तुरत उन्हो ने उसे समझाने के लिए उन शब्दो का अर्थ मैथिली में भी दिया है। ऐसे शब्द लगभग एक सौ से अधिक अभी तक मिले है[3]।

इन के छोटे भाई गोविददत्त के सबध म केवल इतना ही अभी मुझे मालूम है कि इन्हो ने 'गोविंदमानसोल्लास' नाम विष्णुभक्ति-सबधी एक पुस्तक लिखी थी। इन्हो ने अपने को गुणी अर्थात् विद्वान्, नयसागर तथा हरिकिंकर[4] बतलाया है।

गणेश्वर ठक्कुर के एकमात्र पुत्र रामदत्त ठाकुर थे। यह भी साधिविग्रहिक मत्री तथा राजपडित थे। इन के बनाए हुए अभी तीन ग्रथ मुझे मालूम है—(१) 'उपनयन-पद्धति', (२) 'विवाहादिपद्धति', तथा (३) शूद्रश्राद्धपद्धति'[5]। प्रथम दो ग्रथ तो अनेक बार मुद्रित हो चुके है। इन्ही के आधार पर आजकल मिथिला में उपनयनादि सस्कार होते हैं। यह भी महामहोपाध्याय[6] थे।

धीरेश्वर ठाकुर के भी दो पुत्र थे—कीर्त्ति ठाकुर तथा जयदत्त ठाकुर। इन

---

[1] 'बिहार ऐंड ओरिस्सा रिसर्च सोसाइटी जर्नल' में छपा हुआ है।
[2] मिथिला हस्तलिखित पुस्तक-सूची, जिल्द १, पृष्ठ ४५५–५६
[3] श्री उमेशमिश्र—'चडेश्वर ठाकुर ऐंड मैथिली'।
—एलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, जिल्द ४, पृ० ३५३–३५६
[4] तस्यात्मजेन गुणिना नयसागरेण
गोविन्ददत्तकृतिना हरिकिंकरेण।
येनामुना जनयता जनतानुराग
लोकत्रय धवलित विमलैर्यशोभि ॥
—'गोविन्दमानसोल्लास', हस्त०, मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० १०७–१०९
[5] मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ४५२
[6] वही।

के सबध की कथाएँ अभी भी अधकार में पडी हुई है। जयदत्त के भी दो पुत्र थे—गौरीपति तथा गणपति। गणपति ठाकुर बडे भाग्यवान् पडित थे। यह उस गणपति ठाकुर से जिन्हो ने भाट्टमतमीमासा का पूर्ण अध्ययन किया था[1] और जिन का बनाया हुआ केवल एकमात्र ग्रथ 'गगाभक्तितरगिणी' हम लोगो को मिला है, भिन्न है। क्योंकि उक्त ग्रथ मे विद्यापति की तथा इन से भी अभिनव विद्वानो की सम्मति पाई जाती है। यह मिथिलेश महाराज गणेश्वर के सभापडित थे।

गणपति ठाकुर के एकमात्र पुत्र मैथिलकविकुलचूडामणि महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर हुए[2]। इन का जन्म किस वर्ष में हुआ था, इस का अभी तक कोई विशेष प्रमाण नही मिला है। किंतु कतिपय घटनाओ के आधार पर, जिस का वर्णन नीचे किया जायगा, यह कहा जाता है कि २४१ लक्ष्मण सेन सवत् में इन का जन्म हुआ था।

जैसा कि आगे चल कर मालूम होगा विद्यापति का जीवन मिथिला के अनेक राजाओ के जीवन के साथ सबद्ध है और इन्ही राजाओ के समय आदि की आलोचना ही से विद्यापति के जीवन की घटनाएँ भी मालूम होती है। अत यहाँ पर सक्षेप मे मिथिला के उन राजाओ का क्रमिक उल्लेख करना अधिक आवश्यक है जिन के दरबार में कवि ने अपना सारा जीवन व्यतीत किया था।

विद्यापति-समकालीन मिथिला के राजाओं का अति संक्षिप्त विवरण

सब से प्रथम मिथिला के ऐतिहासिक राजा नान्यदेव थे। किसी कारण कार्णाट देश को छोड १०१९ शाके अर्थात् १०९७ ईस्वी में इन्हो ने सीतामढी रेलवे स्टेशन से

---

[1] सद्विद्याकुलयोर्विशेषमखिलं विज्ञाय नान्यो ददौ,
वृत्तिं यस्य पितामहाय मिथिलाभूमण्डलाखण्डल ।
श्रीधीरेश्वरसूनुरन्वहमसावभ्यस्य भाट्ट मत,
गगाभक्तितरगिणीं गणपतिर्ब्रूते सता प्रीतये ।।
—मि० हु० पु० सूची, जि० १, पृष्ठ ८८, तथा
गं० भ० त० पृ० १ (दरभगा सस्करण)

[2] 'जन्मदाता मोर गणपति ठाकुर, मिथिला देश करु वास।
पच गौडाधिप शिवसिंह भूपति, कृपाकरि लेल निज पास ।।' इत्यादि विद्यापति ने स्वयं कहा है।

कुछ आगे कोइली ग्राम के समीप सिमरांवगढ में अपनी राजधानी बनाई। इसी स्थान पर नान्यदेव तथा इन के वंशजों ने लगभग २२९ वर्ष राज्य किया। इस के बाद मिथिला का राज्य मैथिल ब्राह्मणों के आधिपत्य में आया।

ये मैथिल ब्राह्मण ओइनी ग्राम के उपार्जक थे और इसी लिए ये सब 'ओइनिवार' ब्राह्मण कहलाते थे। यह 'ओइनिवार' या 'ओइनी' वंश बहुत ही प्रसिद्ध था। इस वंश के लोग ब्राह्मण पंडित होते हुए भी युद्धक्षेत्र में शत्रुओं के साथ बड़ी वीरता से लड़ने वाले थे[१]। उन दिनों सुल्तान फीरोज शाह (१३५१-८८) के अधीन मिथिला का राज्य हो गया। सब से पहले ओइनी ग्रामोपार्जक नाह ठाकुर के अतिवृद्धप्रपौत्र राजपंडित सिद्ध कामेश्वर को राज्य दिया गया[२]। किंतु उन्हों ने राज्य को विघ्नस्वरूप मान इसे स्वीकार नहीं किया। अतः उन के ज्येष्ठ पुत्र भोगीश्वर ठाकुर को राज्य मिला[३]। इन्हों ने बड़े गौरव के साथ लगभग ३३ वर्ष मिथिला का राज्य किया। और सन् १३६० ईस्वी में राजा भोगीश्वर ठाकुर मर गए। यह सुल्तान के बड़े प्रिय थे।[४] इन की स्त्री का नाम पद्मा था[५]। महाराज कामेश्वर ठाकुर के द्वितीय पुत्र भवसिंह उपनाम भवेश्वरसिंह थे। भोगीश्वर के बाद इन के पुत्र गणेश्वर राजा हुए और कुछ राज्य का हिस्सा भवसिंह को भी मिला। इस लिए एक प्रकार से राज्य विभक्त हो कर इन दोनों के हाथ बंट गया और ये दोनों राजा बन बैठे।

---

[१] ओइनी वंस पसिद्ध जग को तसु करइ न सेव।
दुहु एक्कत्थ न पाविअइ भुअवइ अरु भूदेव।।
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[२] ताकुल केरा बड्डुपन कहवा कओन उपाए।
जज्जम्मिअ उप्पन्नमति कामेसर सन राए।।
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[३] तसु नन्दन भोगीसराअ वर भोग पुरन्दर
हुअ हुआसन तेजिकन्त कुसुमा उह सुन्दर।
जाचक सिद्धि केदार दान पञ्चम बलि जानल।।
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[४] पिअसख भणि पिअरोजसाह सुरतान समानल।
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[५] 'राउ भोगिसर गुन नागरा रे पदमादेवि रमान'।
—विद्यापति, गान ८०१ (नगेन्द्रनाथ गुप्त संस्करण)

राजा गणेश्वर नीतिनिपुण थे और राजा के सभी गुणों से युक्त थे। यह बड़े दानी, मानी, बली, यशस्वी तथा स्वरूपवान् थे[1]। इन्हों ने लगभग ११ वर्ष तक मिथिला का राज्य किया। इसी अवसर पर अगहन कृष्ण ५ मंगल, लक्ष्मण सेन संवत् २५२, (१३७१ ई०) को असलान नामी एक तुरुक ने राज्य के लोभ से गणेश्वर को पहले अपना विश्वास दिला कर अंत में मार डाला[2]। किंतु फिर भी असलान को राज्य नहीं मिल सका। गणेश्वर के तीन वीर पुत्र थे—वीरसिंह, कीर्तिसिंह और राजसिंह।[3] जौनपुरेश्वर इब्राहीम शाह की सहायता से मलिक असलान को मार भगा कर इन्हों ने फिर से मिथिला का राज्य अपने अधीन किया[4]। प्रायः वीरसिंह इसी लड़ाई में मारे गए और इसी लिए इब्राहीम शाह ने लड़ाई के बाद कीर्तिसिंह को राजा बनाया[5]। कीर्तिसिंह बड़े प्रतापी राजा हुए। इन्हीं का वर्णन कवि विद्यापति ने अपनी 'कीर्तिलता' में किया है।

---

[1]तासु तनअ नअ विनअ गुन गरुअ राए गएनेस।
जे पट्ठाइस दसओ दिस कित्तिकुसुम सदेस ॥
दान गरुअ गएनेस जेन जाचक मन रञ्जिअ।
मान गरुअ गएनेस जेन रिउ वट्टिम भञ्जिअ ॥
सत्ते गरुअ गएनेस जेन तुलिअओ आखण्डल।
कित्ति गरुअ गएनेस जेन धवलिअ महिमण्डल ॥
लावन्ने गरुअ गएनेस पुनु देक्खि सभासई पचसर।
भोगीस तनअ सुपसिद्ध जग गरुअ राए गएनेस वर ॥

—'कीर्तिलता', पल्लव १

[2]लक्खणसेन नरेश लिहिअ जवे पक्ख पंच वे।
तम्मह्नु मासहि पढम पक्ख पञ्चमी कहिअजे ॥
रज्जलुद्ध असलान बुद्धि विक्कम वले हारल।
पास वइसि विसवासि राए गएनेसर मारल ॥

—'कीर्तिलता', पल्लव २

[3]सिरि अहम सहोअर रासिंह

—'कीर्तिलता', पृ० ७५ (काशी ना० प्र० सभा संस्करण)

[4]महराअन्हि मल्लिके चप्पि लिऊँ।
असलान निआन हु पिट्ठि दिऊँ ॥

—'कीर्तिलता', पल्लव ४

[5]बन्धवजन उच्छाह कर तिरहुति पाइअ रूप।
पातिसाह जसु तिलक कर कित्तिसिंह भउँ भूप ॥

—'कीर्तिलता', पल्लव ४

न तो कीर्त्तिसिह के, न वीरसिह के, न राजसिह ही के कोई सतान हुई। अतएव मिथिला का राज्य कीर्त्तिसिह के पितामह-भ्रातृपुत्र देवसिह के अधिकार मे आया। देवसिह महाराज भवसिह की दूसरी स्त्री के पुत्र थे। भवसिह की तीन रानियाँ थी। प्रथम स्त्री से उदयसिह, द्वितीय से देवसिह तथा त्रिपुरासिह, तथा तीसरी से हरसिह। राजा भवसिह ने भी बडे पराक्रम के साथ राज्य किया। शत्रुओ को जीत कर, नाना प्रकार के यज्ञ कर, ब्राह्मणो को विविध दान दिया। अत मे वाग्वती नदी के पवित्र तट पर शिव मूर्त्ति के समीप भवसिह ने अपने शरीर को त्याग दिया। इन की दो रानियाँ इन के साथ सती हो गई[1]।

विद्यापति ने अपने 'शैवसर्वस्वसार' मे लिखा है कि राजा भवसिह का प्रताप इतना बढा-चढा था कि जितने छोटे-छोटे राजा उन दिनो थे, वे सब उन के चरण स्पर्श करते थे[2]। इस में कोई सदेह नही कि कवि ने अपने वर्णन मे अत्युक्ति की है तथापि बिना किसी अश के सत्य हुए अत्युक्ति भी नही की जा सकती।

उदयसिह निस्सतान मर गए। त्रिपुरासिह के दो पुत्र सर्वसिह तथा अर्जुनसिह हुए। इन के कोई सतान न हुई। हरसिह के चार पुत्र थे—नरसिह (उपनाम दर्पनारायण), रत्नेश्वरसिह, राजा रघुसिह (उपनाम विजयनारायण) तथा कुमार ब्रह्मसिह (उपनाम हरिनारायण)। इन मे केवल नरसिह का वश चला और अन्य तीनो निस्सतान ही परलोक चले गए।

इस लिए भवसिह के बाद देवसिह राज्य करने लगे। इन्हो ने अपना उपनाम 'गरुडनारायण' रक्खा था। इन्हो ने ओइनी राजधानी को छोड कर दरभगा के समीप

---

[1]भुक्त्वा राज्यसुखं विजित्य हरितो हत्वा रिपून् सगरे
हुत्वा चैव हुताशनं मखविधौ भृत्वा धनैरर्थिनः।
वाग्वत्यां भवदेवसिहनृपतिस्त्यक्त्वा शिवाग्रे वपुः
पूतो यस्य पितामहः स्वरगमद्दारद्वयालंकृतः॥

—'पुरुषपरीक्षा' के अंत में।

[2]गङ्गोत्तुङ्गतरङ्गितामलसत् कीर्तिच्छटाक्षालित-
क्षोणीक्ष्मातलसर्वपर्वतवरो धीरव्रतालङ्कृतः।
भूपालावलिमौलिमण्डलमणिप्रत्यर्चिताङ्घ्रिद्वया-
म्भोजश्रीभवसिहभूपतिरभूत् सर्वार्थिकल्पद्रुमः॥

देवकुली नाम की राजधानी अपने नाम पर बसाई[1]। इन्हो ने अनेक बडे-बडे तालाब बनवाए जिन में सब से बडा एक सकुरी बी० एन्-डब्ल्यू स्टेशन के पास है। याचक ब्राह्मणो को इन्हो ने ऐसे-ऐसे दान दिए, जो और दूसरा कोई नही दे सका था। सोने का तुला-पुरुष दान कर ब्राह्मणो को बाँट दिया था। हाथी, घोडे, रथ आदि का तो कहना ही क्या है[2]। अपने पूर्वजो की तरह यह भी बडे पराक्रमी तथा युद्ध में शत्रुओ को जीतने वाले थे[3]। यह बडे गुणी भी थे[4] और गुणवानो का आदर करते थे। इन के समय में विद्यापति ने 'भूपरिक्रमा' नामक ग्रथ लिखा था[5]। और भी कितने ग्रथ इन के आधिपत्य में रचे गए[6]। यह सभी के बडे प्रियपात्र राजा थे। ल० स० २९३, शाके १३२४, तथा १४०२ ईस्वी में चैत्र कृष्ण (तिथि ६) बृहस्पतिवार, ज्येष्ठा नक्षत्र में गगा जी के किनारे

---

[1] 'इडियन ऐंटिक्वेरी', पृ० ५७, जिल्द २८, १८९९, 'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७२

[2] (क) सक्कुरीपुरसरोवरकर्त्ता हेमहस्तिरथदानविदग्ध ।

—'पुरुषपरीक्षा' के अत में।

(ख) दत्त येन द्विजेभ्यो द्विरदमथमहादानमर्ध्यैरशस्य
का वार्त्ता त्वन्यदाने कनकमयतुलापूरुषो येन दत्त ।
यस्य क्रीडातडागस्तुलयति सतत शासने वारिराशि
देवोऽसौ देवसिह क्षितिपतितिलक कस्य न स्यान्नमस्य ॥

—*'शैवसर्वस्वसार' में विद्यापति।*

[3] (क) भाति यस्य जनको रणजेता देवसिहनृपति ।

—'पुरुषपरीक्षा' का अन्त ।

(ख) दृप्यद्दुर्वारवैरिद्विपकुलदलनाकण्ठकण्ठीरवश्री । इत्यादि

—'शैवसर्वस्वसार'।

[4] वही ।

[5] देवसिहनिदेशाच्च नैमियारण्यवासिन ।
शिवसिहस्य पितु सुतपोऽर्निवासिन ॥
पञ्चषष्टिदेशयुता पञ्चषष्टिकयान्विताम् ।
चतु खण्डसमायुक्तामाह विद्यापति कवि ॥

—'भूपरिक्रमा'–हिस्ट्री अव् तिरहुत, पृ० ७१

[6] श्यामनारायणसिह, 'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७१

इन्हों ने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की[१]। इन की स्त्री का नाम हासिनी देवी था। विद्यापति ने इन दोनों के नाम पर भी कविताएँ बनाईं[२]।

महाराज देवसिंह के दो पुत्र थे—शिवसिंह तथा पद्मसिंह। शिवसिंह ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण पिता के बाद राजा बने। इन्हों ने अपना उपनाम 'रूपनारायण' रक्खा था। देवकुली से हटाकर इन्हों ने राजधानी गजरथपुर उपनाम 'शिवसिंहपुर' में स्थापित की। इन का जन्म ल० स० २४३ अर्थात् १३६२ ईस्वी में हुआ, ऐसी लोगों की धारणा है। २९३ ल० स० में शिवसिंह राजगद्दी पर बैठे। विद्यापति ने लिखा है कि जिस समय देवसिंह की मृत्यु हुई उसी समय मुसलमानों ने इन के ऊपर आक्रमण किए। परन्तु शिवसिंह ने बड़ी वीरता के साथ दोनों काम सम्हाला। पिता की अंत्येष्टि क्रिया तथा यवनों को यमघर भेजना। यवन सेना पराजित हो कर भाग चली। सभी लोग आनंदित हुए और देवसिंह के शोक को भूल गए[३]। राजा शिवसिंह ने अपने पराक्रम से गौड़ देश तथा

---

[१] अनलरन्ध्रकर (२९३) लक्खण णरवइ सक समुद्द कर अगिनि ससी (१३२४)।
चैतकारि छठि जेठा मिलिओ वार बेहप्पइ जाउलसी ॥
देवसिंह जी पुहमी छड्डइ अद्धासन सुरराअ सरू।
. . . .
सतबले गंगा मिलित कलेवर देवसिंह सुरपुर चलिओ।
—विद्यापति।

[२] (क) देवसिंह नृपनागर रे, हासिनि देविकन्त
—'विद्यापति', प० सं० ३१ नगेन्द्रनाथ
(ख) हासिनिदेविपति देवसिंह नरपति गरुड़नारायण रङ्गे भुलली।
वही, २६९

[३]एक दिस यवन सकल दल चलिओ
एक दिस सओं जमराअ चरू।
दुहुए दलहिं मनोरथ पूरओ
गरुअ दाप शिवसिंह करू।
सुरतरुकुसुम घालि दिसि पुरेओ
दुन्दहि सुन्दर साद धरू।
वीरछत्र देखन को कारन
सुरगन सोभए गगन भरू।

गज्जन के राजाओं को पराजित किया[1]। ये बहुत सुंदर तथा साँवले रंग के थे[2]।

इन की अनेक स्त्रियाँ थीं—लक्ष्मणा देवी (प्रसिद्ध लखिमा देवी या ठकुराइनि), मधुमती देवी[3], सुखमा देवी[4], सोरम देवी[5], मेधा देवी[6] तथा रूपिणी देवी[7]। इन के नाम तो विद्यापति की कविताओं में पाए जाते हैं। मालूम नहीं कि और भी रही हों। एक विरह-संबंधी पद में विद्यापति ने कहा है—'राजा शिवसिंह मन दए सजनी,

---

आरम्भिअ अन्तेट्ठि महामख
राजसूअ असमेध जहाँ।
पण्डित घर आचार बखानिअ
याचक काँ घर दान कहाँ।
विज्जावइ कइवर एहु गावए
मानव मन आनन्द भओ।
सिंहासन सिवसिंह वइट्ठो
उच्छवें वइरस विसरियओ।

[1] क्षोणीभर्त्तुरमुष्य वैरिवनितावैदग्ध्यदीक्षागुरो-
रद्भूत शिवसिंहदेवनृपतिर्वीरावतंस सुत।
शौर्य्यावर्ज्जितगौडगज्जनमहीपालोपनम्रीकृता—
नैकोत्तुङ्गमतङ्गगजाश्वकनकच्छत्राभिरामोदय॥
— 'शैवसर्वस्वसार', विद्यापति।

[2] राजा सिवसिंह रूपनरायन सामसुन्दर काय।
—विद्यापति पद, पृ० ५५ (गंगानंदसिंह संस्करण)

[3] विद्यापति कविवर एहो गावए, नव जउवन नव कन्ता।
सिवसिंह राजा एहो रस जानए, मधुमति देवि सुकन्ता
—'विद्यापति पदावली', भूमिका, नगेंद्रनाथ संस्करण, पृ० १४

[4] भनहि विद्यापति अरे वरजउवति मेदिनि मदनसमाने।
लखिमा देवि पति रूपनरायन सुखमादेवि रमाने॥
—'विद्यापति पदावली', भूमिका।

[5] वूझ सिवसिंह ई रस रसमय सोरमदेवि समाज
—वि० प० पृ० १५३

यद्यपि यहाँ "समाज" से यह सम्बध ठीक नहीं मालूम होता है। राग० पृ० ९६

[6] मेधादेविपति रूपनराएन, सुकवि भनथि कण्ठहार रे
—नगेंद्रनाथ, पद सं० ६०

[7] विद्यापति भन एहो रस जान, राए सिवसिंह रुपिनिदेइ रमान
—'विद्यापति पदावली', भूमिका, नगेंद्रनाथ।

मोदवती देइ कंत[1]।' इस से 'मोदवती' भी शिवसिंह की स्त्री थी, यह मालूम पड़ता है। किंतु कोई-कोई इस को विद्यापति का पद होने में संदेह करते हैं, परन्तु इस से क्या?

इन मे से लखिमा देवी प्राय सब से बडी थी। इन्ही को राजा ने पट्टमहिषी बनाया था। अतएव सब कार्य में इन की प्रधानता देख पडती है। यह बडी पडिता थी। इन के रचित मैथिली में कोई पद्य है वा नही यह अभी नही कहा जा सकता, किंतु सस्कृत में तो अनेक है। पाठको के मनोरजन के लिए उन की कुछ कविताओ का उल्लेख यहाँ कर देना अनुचित न होगा।

लखिमा देवी की एक कन्या थी और उचित समय पर इन का विवाह भी हो गया था। जामाता किसी कारणवश बहुत दिनो तक अपनी पत्नी के पास नही आया यह समाचार किसी सखी के मुख से सुन लखिमा देवी ने जामाता के पास निम्नलिखित पद्य लिखवा कर भेज दिया—

> सन्तप्ता दशमध्वजस्य[2] गतिना संमूर्च्छिता निर्जले
> तुर्यं[3]द्वादश[4]वद्द्वितीय[5]मतिमन्नेकादशा[6]भस्तनी।
> सा षष्ठी[7] कटिपंचमी[8] च नवमभ्रू:[9] सप्तमी[10]वर्जिता
> प्राप्नोत्यष्टम[11]वेदनां त्वमधुना तूर्णं तृतीयो[12] भव॥

कहा जाता है एक समय लखिमा को देख कर किसी पंडित ने उनको सबोधन कर कहा—

> किं मां हि पश्यसि घटेन कटिस्थितेन
> चक्रेण चारुपरिमीलितलोचनेन।
> अन्यं हि पश्य पुरुषं तव कार्ययोग्यं
> नाहं घटांकितकटीं प्रमदां स्पृशामि॥

---

[1] पदावली सं० ६९४। नगेंद्रनाथ गुप्त का कहना है कि सिवसिंह की छः स्त्रियां थीं। परिषद्ग्रंथावली, पृ० ४१६

[2] इस श्लोक में जितने संख्यावाचक शब्द है उन से मेष आदि राशिओं की गणना यहाँ होती है। यथा—दशम=मकर; मकर + ध्वज=कामदेव। [3] तुर्यं=कर्क=केकड़ा। [4] द्वादश=मीन। [5] द्वितीय=वृष=पशु या मूर्ख। [6] एकादश=कुम्भ=घड़ा=कुम्भस्तनी। [7] षष्ठी=कन्या। [8] पंचमी=सिंह=सिंह के समान पतली कटिवाली। [9] नवम=धनुष। [10] सप्तमी=तुला। [11] अष्टम=वृश्चिक=वृश्चिक के डंस के वेदना के समान। [12] तृतीय=मिथुन=गृहस्योचित कर्म करो।

इस मिथ्या दोषारोपण से दुखी लखिमा ने कहा—

सत्यं ब्रवीमि मकरध्वजबाणमुग्ध[1]
नाहं त्वदर्थमनसा परिचिन्तयामि।
दासोऽद्य मे विघटितस्तव तुल्यरूपः
स त्वं भवेन्नहि भवेदिति मे वितर्कः॥

इन के अतिरिक्त और भी कुछ श्लोक लखिमा के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे—

चपलं तुरगं परिणर्तयतः
पथि पौरजनान् परिमर्दयतः।
नहि ते भुजभाग्यभवो विभवो
भगिनीभगभाग्यभवो विभवः॥

भङ्क्त्वा भोक्तुं न भुङ्क्ते कुटिलविषलता कोटिमिन्दोर्वितर्कात्
ताराकारातृषार्तः पिबति न पयसां विप्लुषं पत्रसंस्थाः।
छायामम्भोरुहाणामलिकुलशबलां वीक्ष्य सन्ध्यामसन्ध्यां
कान्ता विश्लेषभीरुर्दिनमपि रजनीं मन्यते चक्रवाकः[1]॥

और भी—

उत्कूजति श्वसिति मुह्यति याति तीरं
तीरात्तरुं तरुवरात् पुनरेति वापीम्।
वाप्यां न रज्यति न चात्ति मृणालखण्डं
चक्रः क्षपासु विरहे खलु चक्रवाक्या॥

आवेपते भ्रमति सर्पति मोहमेति
कान्तं विलोकयति कूजति दीनरूपम्।
अस्ते हि भानुमधिगच्छति चक्रवाकी
हा जीवितैरपि वरं मरणं वियोगे॥

---

[1] ये सब श्लोक मिथिला में प्रसिद्ध हैं। 'इंडियन ऐंटिक्वेरी'—१८८६, पृ० ३४८ में भी देखिए।

बाले विश्रामकाले तव वदनविधौ कान्तिपानीयपूरे
मग्न मे नेत्रयुग्म कुचकलशसमालम्बन प्राप्य तस्थौ।
तस्मान्नाभीहृदान्त सुललितत्रिवलिप्रान्तकान्त्यालसन्त
दूरादालोक्य भीत द्वयमपि कलश नैव हातु शशाक[1] ॥

इत्यादि अनेक श्लोक लक्ष्मणा देवी के बनाए हुए मिलते हैं। इस से यह स्पष्ट है कि वह स्वय परम विदुषी थी। इसी लिए विद्यापति की कविताओ पर मुग्ध रहा करती थी। इन्ही गुणो के कारण शिवसिह भी इन्ही से विशेष स्नेह रखते थे।

शिवसिह बाल्यकाल ही मे बडे पराक्रमी थे। उन्हे मुसल्मानो की अधीनता बचपन ही से अप्रिय थी। इस लिए एक बार देवसिह के राज्य-काल ही मे मुसल्मानो ने मिथिला पर चढाई की और देवसिह पराजित हो गए। किंतु फिर आधिपत्य स्वीकार करने पर देवसिह को राज्य मिल गया। परत मुसलमान शिवसिह ही को अनर्थमूल जान इन्हे दिल्ली ले गए। इस से सभी बडे दुखी रहने लगे। शिवसिह के परमप्रिय वयस्य कवि विद्यापति शिवसिह को छुडा लाने के उद्देश से दिल्ली को गए। वहाँ जा कर बादशाह से अपना परिचय निवेदन किया और कहा कि—मैं न देखी हुई चीज़ का भी देखी हुई के समान वर्णन कर सकता हूँ। तुरत यवनो ने इस की परीक्षा आरभ कर दी। बिना देखे हुए एक सद्य स्नाता का वर्णन करने की आज्ञा पा कर विद्यापति ने कहा—

कामिनि करए सनाने
हेरितहि हृदय हनए पँचवाने।
चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा।
कुचजुग चारु चकेवा
निअ कुल आनि मिलाओल कोनें देवा।
तें सकाओे भुजपासे
बाँधि धएल उडि जाएत अकासे।

[1] ये श्लोक 'विद्याकर-साहस्री' नामक अमुद्रित मिथिला-कवितावली से लिए गए हैं। लखिमा के बनाए हुए ऐसे बहुत से श्लोक और भी हैं।

तितल वसन तनु लागए
मुनिहुक मानस मनमथ जागए।
भनइ विद्यापति गावए
गुनमति धनि पुनमत जनि पावए।।

किंतु सुल्तान को इस से पूरा संतोष न हुआ। विद्यापति की दूसरी परीक्षा हुई। एक दिन एक काठ की सद्दूक में विद्यापति बंद कर एक कुएँ के भीतर डोरी से लटका दिए गए। और आदेश मिला कि कुएँ के ऊपर भाग में जो कुछ होता हो उस का वर्णन करो। इसी अवसर पर एक सुंदरी दासी कुएँ पर आ कर किसी कार्य के लिए झुक कर अपने मुँह से आग फूंक रही थी। झट विद्यापति ने कविता बनाई—

सुन्दरि निहुरि फुकु आगि।
तोहर कमल[1] भमर[2] मोर देखल
मदन ऊठल जागि।
जौं तोहे भामिनि भवन जएवह
ऐवह कोनह बेला
जौं ई सकट सञों जौ बांचत
होयत लोचन मेला।

इतना सुनते ही बादशाह को विद्यापति के वचनों पर पूरा विश्वास हो गया और कविता के माधुर्य से मुग्ध हो कर उन्हों ने तुरंत विद्यापति ही को नहीं किंतु शिवसिंह को भी मुक्त कर दिया। स्वाभाविक कवियों में ऐसी अद्भुत शक्ति अधिकतर पाई जाती है।

फिर क्या था ? विद्यापति ने अति प्रसन्न हो कर ऊपर कही हुई कविता की पूर्त्ति इस प्रकार की—

भन विद्यापति चाहथि जे विधि[3]
करथि से से लीला।
राजा सिवसिंह बन्धन मोचल
तखन सुकवि जीला।।

---

[1] कुच। [2] नेत्र। [3] विधाता या ईश्वर।

इस प्रकार मुक्त हो कर शिवसिंह अपने घर आए। शिवसिंह स्वयं बड़े गुणी थे और गुणवानों का पूर्ण आदर करते थे। इन की दानशीलता अभी भी मिथिला में अविच्छिन्न रूप में प्रख्यात है[1]। मिथिला के रजवाड़ों में तुला-पुरुष दान करने की प्रथा बहुत प्राचीन थी और बड़े लोग इसे आवश्यक भी समझते थे। इस लिए शिवसिंह ने भी अपने पिता से सुवर्ण का तुलादान करवाया[2]। देवों के मंदिर इन्हों ने बनवाए तथा इन्हों ने अनेक बड़े-बड़े तालाब खुदवाए जिस के संबंध में मिथिला में प्रसिद्ध कथन है—

पोखरि रजोखरि आओर सब पोखरा
राजा सिवसिंह आओर सब छोकरा।

इन्हीं की आज्ञा से विद्यापति ने 'पुरुषपरीक्षा' तथा 'कीर्तिपताका' नामक ग्रंथ लिखे। राजकुमार ही की अवस्था में शिवसिंह राजा के समान लोगों से आदर पाते थे, तथा यह भी उसी प्रकार प्रजावर्ग का पालन पोषण करते थे।

जब ल० सं० २९३ में देवसिंह मरे और शिवसिंह ने सर्वथा राज्यभार अपने हाथ में लिया, उसी समय पूर्व ही से अप्रसन्न दिल्लीश्वर ने मिथिला पर चढ़ाई कर दी। किंतु शीघ्र ही शिवसिंह ने यवन सेना को मार भगाया। और आचार-विचार के साथ यज्ञ दानादि करते हुए शिवसिंह राज्य करने लगे। इन्हों ने अपने नाम पर सिक्के चलाए थे।[3]

ऐसा अवसर पा कर राजा अपने प्रिय कवि का पूर्ण सत्कार करना नहीं भूले। राज्यासन पर बैठते ही उन्हों ने विद्यापति को बिसपी ग्राम समर्पण किया जिस का वर्णन ऊपर हो चुका है। विद्यापति से राजा तथा उन की रानी लखिमा बहुत प्रसन्न रहती थीं। ये दोनों विद्यापति की कविता को प्रेम से सुनते थे और कवि के उत्साह को बढ़ाते थे।

---

[1] वीरेषु मान्यः सुधिया वरेण्यो विद्यावतामादिविलेखनीयः।
श्रीदेवसिंहक्षितिपालसूनुः जीयाच्चिरं श्रीशिवसिंहदेवः
—'पुरुषपरीक्षा', मङ्गलाचरण, पृ० १

[2] का धात्री त्वन्यदाने कनकमयतुलापूरुषो येन दत्तः।
— 'शैवसर्वस्वसार', विद्यापति।

[3] 'आर्किआलाजिकल सर्वे अव् इंडिया' का वार्षिक विवरण, १९१३-१४

यवन सेना हार तो गई थी किंतु दूसरी चढाई के लिए अवसर ढूँढ रही थी। लगभग ल० स० २९६ अर्थात् १४१४ ई० में फिर से युद्ध छिडा। शिवसिंह ने इस बार भी बडी वीरता दिखलाई, किंतु अत में यह हार गए। किसी का कहना है कि यह युद्ध क्षेत्र में मारे गए और कोई-कोई कहते है कि यह नेपाल के जगलो में छिप गए। जो कुछ हो, इस के बाद शिवसिंह की खबर किसी को नही है। इन की एकमात्र कन्या लखिमा से उत्पन्न हुई थी।

इस के बाद गजरथपुर की राजधानी उजड गई। कविवर विद्यापति लखिमा सहित अन्य राज-परिवार के साथ शिवसिंह के मित्र द्रोणवार (दोनवार) वशीय राजा पुरादित्य के यहाँ जनकपुर के समीप राज बनौली नामक स्थान में जाकर रहने लगे[1]। इन्ही की आज्ञा से विद्यापति ने २९९ ल० स० मे 'लिखनावली' लिखा था[2]।

मैथिल इतिहासवेत्ताओ का कहना है कि शिवसिंह के मरने पर रानी लखिमा ने १२ वर्ष तक स्वय राज्य किया। किंतु इस का प्रमाण अभी तक नही मिला। जिस विद्यापति ने इस समय के राजाओ के राज्यक्रम का उल्लेख किया है, वह भी लखिमा की राज्य-सबधी वार्ता का समर्थन नही करते। वस्तुस्थिति तो यही कहती है कि ये लोग यवनेश्वर के भय से पुरादित्य के यहाँ रक्षा के लिए रहते थे।

कहा जाता है कि इस के बाद राजा शिवसिंह के मत्री अमृतकर कायस्थ चद्रकर के पुत्र ने पटना जा कर बादशाह के मुख्य कर्मचारी से प्रार्थना-पूर्वक भिक्षा-स्वरूप में मिथिला का राज्य माँग लिया। और गजरथपुर को छोड जिला दरभंगा, परगना बछौर, क पदुमा नामक स्थान में, अपनी राजधानी बना कर शिवसिंह के छोटे भाई पद्मसिंह राज्य

---

[1] 'लिखनावली', भूमिका, पृ० २-३, 'पुरुषपरीक्षा', टिप्पणी, पृ० २६०

[2] सर्वादित्यतनूजस्य द्रोणवारमहीपते।
गिरिनारायणस्याज्ञा पुरादित्यस्य पालयन्॥
अल्पश्रुतापदेशाय कौतुकाय बहुश्रुताम्।
विद्यापतिस्सता प्रीत्यै करोति लिखनावलीम्॥

—'लिखनावली' के आदि श्लोक।

करने लगे[1]। पद्मसिंह बडे पराक्रमी,[2] दानी और यशस्वी थे। उन के गुणो में सभी लुब्ध रहा करते थे। मालूम होता है कि इन्हो ने बहुत थोडे वर्ष तक राज्य किया। इन के कोई भी संतान नही थी, इस लिए इन के मरने के बाद इन की धर्मपत्नी श्री विश्वास देवी ने बडी चतुरता से बहुत दिनो तक राज्य किया[3]। इन्हो ने जनकपुर ही के समीप विसौलि नामक ग्राम को अपने नाम पर बसाया और उसी को राजधानी स्थिर किया। यह पद्मसिंह की बडी प्रिय रानी थी[4]। बडी दाता और यशस्विनी थी। इन्हो ने अनेक बार तुला-पुरुषादि महादान किए[5]। विद्यापति ने 'शैवसर्वस्वसार', शैव० 'प्रमाणभूतपुराणसग्रह' तथा

---

[1] 'पुरुषपरीक्षा' टिप्पणी, पृ० २६०। इसी 'अमियकर' के नाम पर कवि विद्यापति ने एक पद भी बनाया है—'पदावली' स० ८६ (नगेन्द्रसिंह का सस्करण) देखिए।

[2] (क) सग्रामाङ्गणसीमभीमसदृशस्तस्यानुजस्सलसत्
दाने स्वल्पितकल्पवृक्षमहिमाऽसौ पद्मसिंहो नृप ।
कैलासोदरसोदरीयति शरद्राकाशशाकीयति
प्रालेयाचलशेखरीयति यशो यस्यारविन्दीयति ॥

(ख) विद्यामङ्गिरस सुतस्य विनयं रामस्य वृत्त मुने
शौर्य्यं सूर्यसुतस्य धैर्य्यभवने गाम्भीर्य्यमम्भोनिधे ।
दान दानवनन्दनस्य सकल सार समुच्चिन्वता
धात्रा यश्शरदिन्दुसुन्दरयशा क्षोणीपतिर्निर्म्मित ॥
—'शैवसर्वस्वसार', विद्यापति।

[3] दुग्धाम्भोधेरिव श्रीर्गुणगणसदृशे विश्वविख्यातवशे
सम्भूता पद्मसिंहक्षितिपतिदयिता धर्म्मकर्म्मैकसीमा।
पत्यु सिंहासनस्था पृथुमिथिलमहीमण्डल पालयन्ती
श्रीमद्विश्वासदेवी जगति विजयते चर्य्ययाऽरुन्धतीव ॥
—'शैवसर्वस्वसार'।

[4] विष्णो श्रीरिव पद्मसिंहनृपतेरेषापरा प्रेयसी ।
—'शैवसर्वस्वसार'।

[5] नैकोऽपि प्रथित प्रदानयशसो विश्वासदेव्या समो
दातार कति नाभवन् कति न वा सन्तीह भूमण्डले।
यस्या स्वर्णतुलामुखाखिलमहादानप्रदानाङ्गण—
स्वर्गग्राममृगीदृशामपि तुलाकोटिध्वनि श्रूयते ॥
—'शैवसर्वस्वसार'।

थी[1]। यह भी बड़ प्रतापी, शत्रुजेता तथा कीर्त्तिमान् राजा हुए[2]। धीरसिंह के दो पुत्र हुए—राघवसिंह तथा जगनारायणसिंह।

धीरसिंह के बाद उन के छोटे भाई भैरवसिंह राज्याधिकारी हुए। कहीं-कहीं भैरवसिंह का उपनाम हरिनारायण भी मिलता है[3]। यह भी बड़े पराक्रमी तथा यशस्वी राजा हुए। इन्हों ने पाँचों गौड़ राजाओं को पराजित किया था[4]। इन के समय में भी अनेक संस्कृत ग्रंथ लिखे गए। पंडितों का आदर इन के यहाँ विशेष होता था। राजनीति में भी यह बड़े चतुर थे इसी कारण प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था[5]।

---

[1] परमभट्टारकेत्यादि-महाराजाधिराज-श्रीमल्लक्ष्मणसेनदेवीयैकविंशत्यधिकशतत्रयतमाके(ब्दे?) कार्त्तिकामावास्यायां शनौ समस्तप्रक्रियाविराजमानरिपुराजकसनारायण-शिवभक्तिपरायण-महाराजाधिराज-श्रीश्रीमद्धीरसिंहसभुज्यमानायां तीरभुक्तौ अलापुरतपाप्रतिबन्धसुन्दरीग्रामे वसता सदुपाध्यायश्रीसुधाकरात्मजेन छात्रश्रीरत्नेश्वरेण स्वार्थं परार्थञ्च लिखितमिदं सेतुदर्पणीपुस्तकमिति।

—'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७४

[2] विश्वख्याततनयस्तदीयतनयः प्रौढप्रतापोदयः
संग्रामाङ्गणलब्धवैरिविजयः कीर्त्याऽऽप्तलोकत्रयः।
मर्यादानिलयः प्रकामनिलयः प्रज्ञाप्रकर्षाश्रयः
श्रीमद्भूपतिधीरसिंहविजयी राजत्यमोघश्रियः॥

—विद्यापति, 'दुर्गाभक्तितरंगिणी', पृ० १

[3] (क) इति समस्तप्रक्रियाविराजमानरिपुराजकसनारायणभवभक्तिपरायणश्रीहरिनारायणपदसमलङ्कृतमहाराजाधिराजश्रीमदभैरवसिंहदेवनिदेशप्रोत्साहितवंजौलीग्रामवास्तव्यखौआलवंशप्रभवश्रीरुचिपतिमहोपाध्यायविरचितायामनर्घराघवटीकायां सप्तमोऽङ्कः।

—'मुरारिनाटकटीका', काव्यमालासंस्करण, पृ० ३२१

(ख) 'हिस्ट्री अव तिरहुत', पृ० ७५

[4] शौर्यावर्जितपञ्चगौडधरणीनाथोपनम्रीकृता-
नेकोत्तुङ्गतुरङ्गसङ्गतसितच्छत्राभिरामोदयः।
श्रीमद्भैरवसिंहदेवनृपतिर्यस्यानुजन्मा जय-
त्याचन्द्रार्कमखण्डकीर्त्तिसहितः श्रीरूपनारायणः॥

—'दुर्गाभक्तितरंगिणी', पृ० १

[5] (क) सूनुस्तस्य वसुन्धरापरिवृढस्यानन्दकन्दः क्षिते-
राधारो जगतामशेषविदुषां विश्रामकल्पद्रुमः।
दाने कर्णकथावलेपनिपुणः संसाररत्नाङ्कुरो
भूमीपालशिरोमणिर्विजयते श्रीभैरवेन्द्रो नृपः॥

—रुचिपति, 'अनर्घराघवटीका', पृ० २

विद्यापति ने इन्हीं की आज्ञा से 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' लिखा था[1]। रुचिपति ठाकुर ने 'अनर्घराघव' नाटक की टीका लिखी थी[2]।

भैरवसिंह के समय में वाचस्पतिमिश्र ने 'व्यवहारचिंतामणि', 'कृत्यमहार्णव' तथा 'महादाननिर्णय' लिखा; वर्द्धमानोपाध्याय ने 'दडविवेक'। ये दोनों इन के सभासद थे। वर्द्धमान तो धर्माधिकारी थे[3]। वाचस्पति ने लिखा है कि इन्हों ने सैकड़ो तालाब बनवाए, नगर, ग्राम, पत्तन आदि के दान इन्हों ने किए तथा तुलापुरुषदान भी किए[4]।

(ख) अर्थितप्रार्थितपूरकोऽपि रमतां स्वीये बलिर्मन्दिरे
नाकेऽनेकफलान्वितोऽपि स सुखेनास्तां च देवद्रुमः।
श्रीमान् सम्प्रति भैरवेन्द्रनृमणिः सर्वार्थचिन्तामणिः
जातो लोचनगोचरो यदि तदा किं तेन तेनापि वा॥
—वही।

(ग) यस्मिन् राजनि राजनीतिचतुरे पाथोधितीरावधि
प्रख्यातप्रचितप्रतापनिचये पृथ्वीमिमां शासति।
कोकं राजकरो न लोकनिकरं संतापयत्युग्रतो
विख्यातः सुदृशां महोत्सवविधौ कान्तेन पाणिग्रहः॥
—वही।

[1] देवीभक्तपरायणः श्रुतिमुखप्रारब्धपारायणः
सङ्ग्रामे रिपुराजकंसदलनप्रत्यक्षनारायणः।
विश्वेषां हितकाम्यया नृपवरोऽनुज्ञाप्य विद्यापतिं
श्रीदुर्गोत्सवपद्धतिं स तनुते दृष्ट्वा निबन्धस्थितिम्॥
—विद्यापति, 'दुर्गाभक्तितरंगिणी', पृ० १

[2] खौआलवंशजातस्तस्यादेशान्महोशस्य।
श्रीरुचिपतिरतिगूढ़ाः स्पष्टीकुरुते मुरारिकविवाचः॥
—'मुरारिनाटकटीका', पृ० २

[3] 'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७६

[4] (क) विधाय सरसीः शतं नगरपत्तनादीनदात्
विजित्य रिपुभूपतीनवोलयत्तुलापूरुषान्।
स एव नृपभैरवः समरसीम्नि पञ्चाननो
जयत्यविधिदारको जगति राजवृन्दारकः॥

(ख) श्रीवाचस्पतिधीरं सहकारितया समासाद्य।
श्रीभैरवेन्द्रनृपतिः स्वयं महादाननिर्णयं तन्यते॥

यह हस्तलिखित ग्रंथ नेपालराज दरबार में ल० सं० ३९२=१५११ ई० का लिखा हुआ है।

इन की दो स्त्रियाँ थीं एक का नाम जया देवी[1] था जिन के पुत्र महाराज पुरुषोत्तम उपनाम गरुडनारायण थे[2]। दूसरी स्त्री का नाम तो मुझे मालूम नहीं किन्तु उन के पुत्र रामभद्रसिंह उपनाम रूपनारायण थे। इन लोगों ने क्रमिक राज्य किया।

इधर धीरसिंह के दो पुत्र थे—राघवसिंह तथा जगन्नारायणसिंह। राघवसिंह की स्त्रियों का नाम मोदवती तथा सोनमति था[3]। इन्हों ने कब राज किया यह तो अभी किसी से प्रमाणित नहीं होता है किन्तु इतना कहा जा सकता है कि कविवर विद्यापति इन के भी राज्यकाल में जीवित थे और कवि ने इन के नाम का अपने कुछ पदों में उल्लेख किया है[4]। इसी प्रकार जगन्नारायणसिंह के प्राय पाँच पुत्र हुए। उन में से एक का नाम रुद्रनारायण था। विद्यापति ने कुछ पदों में एक राजा रुद्रसिंह का उल्लेख किया है,[5] इसी से यह भी अनुमान होता है कि वह रुद्रसिंह यही 'रुद्रनारायणसिंह' थे, क्योंकि तत्कालीन रुद्रसिंह नामक किसी भी अन्य राजा का परिचय आज तक मुझे नहीं मिला है।

राजा नरसिंहदेव की द्वितीय स्त्री हीरा देवी के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रसिंह भी बड़े प्रतापी राजा थे। इन्हों ने भी राज्य किया था यह इन के नाम के आगे बारबार 'नृप' शब्द के

---

[1] विष्णोर्व्यक्त पुरमिव शम्भोरिव देहवामार्धम्।
देवी सतामिरेषा जयति जयात्मामहादेवी ॥
—'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७६

[2] श्रीभैरवेन्द्रतरणीपतिधर्म्मपत्नी राजाधिराजपुरुषोत्तमदेवमाता ।
—वही।

[3] (क) मोदवती पति राघवसिंह मति कवि विद्यापति गाई।
—विद्या० पदा० गङ्गानन्दसिंह, पृ० २७२

(ख) भनइ विद्यापति बुझ रसमन्त, राघवसिंह सोनमतिदेविकन्त।
—विद्यापति पदावली, नगेन्द्रनाथ, पद सं० ७२४

[4] (क) भनहि विद्यापति सुनु परमान।
बुझ नृपराघव नव पचवान ॥
—वि० पद०, स० ७०० (नगेंद्रनाथ)

(ख) फुटनोट स० ३ (क, ख)—ऊपर।

[5] (क) कवि विद्यापति भान, मानिनि जीवन जान।
नृप रुद्रसिंह वर, मेदिनि कल्पतरु॥
—वि० पद०, पृ० २४४ (गंगानन्दसिंह)

(ख) रुद्रसिंह नरपति वरदायक, विद्यापति कवि भणित गुणे।
—वही, पृ० ३१२

प्रयोग देखने से ज्ञान होता है।[१] सभव है कि इन्हो ने मिथिला राज्य के कुछ भाग पर ही राज्य किया हो। इन की भी स्त्री का नाम लखिमा था।[२] इन के दरबार में भी अनेक विद्वान् थे जिन में मिसरु मिश्र का प्रधान नाम है। इन्हो ने 'विवादचद्र' तथा 'पदार्थचद्र' नामक ग्रथ बनाए[३]। इन के यहाँ भी मैथिली कवि थे जिन में 'भानु' के नाम के पद देख पड़ते है[४]।

विद्यापति से सबध रखनेवाले मिथिला के राजाओ की सक्षिप्त इतिवृत्ति हमें मैथिलो के बनाए हुए अनेक ग्रथो से मिलती है। थोड़ा सा परिश्रम किया जाय तो इन सभो के यथार्थ राज्यकाल का भी परिचय लग सकता है। कुछ दिग्दर्शन तो ऊपर कराया गया किंतु पूरी चेष्टा अभी बाकी ही है। फिर कभी आगे देखा जायगा। इस आधार पर यह कहा जाता है कि विद्यापति का जीवनकाल राजाओ के सभा में अनेक प्रकार के प्रकाड विद्वानो के साथ व्यतीत हुआ था। इस लिए विद्यापति ने यद्यपि मैथिली भाषा की उन्नति ही में अपना प्रधान समय लगाया, तथापि शास्त्रो का भी पूरा व्यवसाय रक्खा था। आजकल के भाषा-कवियो की तरह कोरे भाषा-कवि ही वह नही थे। इस के फलस्वरूप उन्हो ने कितने अच्छे-अच्छे सस्कृत के ग्रथ बनाए जिन का अति सक्षिप्त परिचय आगे दिया जायगा। मैथिलो के लिए यह कोई नवीन बात नही है, वे तो पूर्व में और अभी भी कोरे भाषा-कवि न हुए और न है।

---

[१] चद्रसिहनृपतेः —'विवादचद्र' के आरभ में।
पुनः 'श्रीचद्रसिहनृपते.' —'पदार्थचद्र' के प्रारभ में।

[२] (क) श्रीमल्लखिमादेवी तस्य चद्रसिहनृपतेर्दयितस्य।
मिसरुमिश्रद्वारा रचयति विवादचद्राभिरामम् ॥
—'विवादचद्र' के आरंभ में।

(ख) श्रीचद्रसिहनृपतेर्दयिता लखिमामहादेवी।
रचयति पदार्थचद्र मिसरुमिश्रोपदेशेन ॥
—'पदार्थचंद्र' के आदि में।

[३] फुटनोट न० २ ऊपर।

[४] चद्रसिह नरेस जीवओ, भानु जम्पए रे ॥
—वि० पदा०, सं० ३२२ (नगेंद्रनाथ)

यद्यपि गुप्त जी ने इसे विद्यापति की कविता बतलाया है किंतु मुझे ठीक नहीं जँचता, इस लिए मैंने इसे 'भानु' नामक कवि का बनाया हुआ समझा है।

इसी के आधार पर अब विद्यापति के जीवनकाल का भी कुछ निर्णय हो सकता है। ऊपर कहा गया है कि सभवत २४१ ल० स० अर्थात् १३६० ईस्वी में इन का जन्म हुआ था। इस के प्रमाण में यह कहा जाता है कि इन के पिता गणपति ठाकुर महाराज गणेश्वरसिंह के राजसभासद थे और राजसभा में अपने पुत्र विद्यापति को ले जाया करते थे। महाराज गणेश्वर की मृत्यु २५२ ल० स० में हुई थी। अत विद्यापति उस समय अनत १० या ११ वर्ष की अवस्था के अवश्य रहे होंगे जिस में उन का राजदरबार में आना जाना हो सकता था। दूसरी बात यह है कि विद्यापति के प्रधान आश्रयदाता शिवसिंह का जन्म २४३ ल० स० में हुआ और ५० वर्ष की अवस्था में राज्यगद्दी पर बैठे यह माना जाता है और यह भी लोगो की धारणा है कि कवि विद्यापति उन से दो वर्ष मात्र बड़े थे। तीसरी बात यह है कि विद्यापति ने कीर्त्तिलता में अपने को खेलन कवि[1] कहा है इस लिए वह अवश्य कीर्त्तिसिंह या वीरसिंह की दृष्टि म अल्प वयस के साथ-साथ खेलने के लायक रहे होंगे। इन सभी बातो से यही अनुमान होता है कि विद्यापति २५२ ल० स० में लगभग १० या ११ वर्ष के थे। विद्यापति ने कीर्त्तिसिंह के सुनने के लिए 'कीर्त्तिलता' काव्य की रचना की थी[2]। अब यदि यह कहा जाय कि विद्यापति 'कीर्त्तिलता' की रचना के समय अवश्य कम से कम लगभग बीस वर्ष के रहे होंगे, क्योकि इस अवस्था से बहुत पूर्व वयस में 'कीर्त्तिलता' के समान काव्य की रचना करने की शक्ति नही रही होगी, तब भी यही मालूम होता है कि विद्यापति २४१ ल० स० या उस के लगभग उत्पन्न हुए थे या इस से भी पहले हुए हो तो कोई आश्चर्य नहीं। २४१ ल० स० के बाद के तो कदापि नही हो सकते। अत उक्त बातो को विचार कर मैं ने भी इन्हे उसी समय में रक्खा है।

इसी प्रकार इन के मृत्यु-समय का भी कुछ ठीक पता नही लगता है। ऊपर कहा

---

[1] एव सङ्गरसाहसप्रमथनप्रालब्धलब्धोदया
पुष्णाति श्रियमाशशाङ्कतरणी श्रीकीर्त्तिसिंहो नृप।
माधुर्यप्रसवस्थली गुरुयशोविस्तारशिक्षासखी
यावद्विश्वमिदञ्च खेलनकवेर्विद्यापतेर्भारती ॥
— 'कीर्त्तिलता' का अतिम श्लोक।

[2] श्रोतुर्ज्ञातुर्वदान्यस्य कीर्त्तिसिंहमहीपते।
करोतु कवितु काव्य भव्य विद्यापति कवि ॥
— 'कीर्त्तिलता', पल्लव १

जा चुका है कि विद्यापति ने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' महाराज भैरवसिंह के समय में बनाया था और ३२१ ल० स० अर्थात् १४४० ई० में धीरसिंह जीवित ही थे। इस लिए ३२१ के बाद भैरवसिंह आए होंगे। कम से कम अब १० वर्ष और व्यतीत हो गया होगा। अतएव यह कहा जा सकता है कि ३३१ के लगभग विद्यापति ने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' लिखी थी। इस के बाद ही इन की मृत्यु हुई होगी।

दूसरी तरफ देखें तो यह मालूम होता है कि विद्यापति ने न केवल धीरसिंह के पुत्र राघव का नाम अपने पदो मे लिया है किंतु धीरसिंह के पौत्र तथा जगन्नारायणसिंह के पुत्र रुद्र (नारायण) सिंह का भी। अब यदि समय का हिस्सा लगाया जाय तो धीरसिंह के बाद कम से कम २० वर्ष तो और अवश्य मानना होगा। अर्थात् रुद्र (नारायण) सिंह लगभग ३४१ में अवश्य जीवित थे। विद्यापति ने इन के नाम पर भी कविता बनाई है। अत ३४१ के बाद विद्यापति की मृत्यु हुई होगी।

एक और भी बात विचारणीय है। वाचस्पति मिश्र भैरवेंद्रसिंह के सभासद, विद्वान् और विद्यापति के समकालीन थे। वाचस्पति मिश्र का समय १४७५[1] ईस्वी तक होना माना जाता है अतएव विद्यापति को भी उसी समय तक या उस के लगभग रखना ही पडेगा। इन सब बातो को विचार कर यह कहा जा सकता है कि विद्यापति लगभग ३५६ ल० स० अर्थात् १४७५ ईस्वी में अवश्य जीवित रहे होंगे। अतएव जब तक कोई इस से भी विशेष प्रामाणिक बात नही मिलती तब तक विद्यापति का जन्म २४१ ल० सं० (१३६८ ईस्वी) मे तथा मृत्यु ३५६ ल० स० (१४७५) के बाद में हुई यह माना जा सकता है। इस प्रकार विद्यापति १०० वर्ष से भी अधिक दिनो तक अवश्य जीवित रहे होंगे।

शिवसिंह के स्वप्न के सबध में इतना ही कहना उचित मालूम होता है, कि ऐसा कोई प्रमाण नही है कि स्वप्न-फल बहुत ही शीघ्र मिले। कुछ तो स्वप्न मिथ्या भी होते हैं। यदि फलवान् भी हुए तो कब, यह नहीं कहा जा सकता।

और भी एक विचारणीय बात मन में आती है। स्वप्नवाली कविता—

सपन देखल हम सिवसिंह भूप
बतिस बरिस पर सामर रूप।

---

[1] 'प्रिंस अव् वेल्स् सरस्वती भवन स्टडीज', ग्रंथ ३, पृ० १५२

बहुत देखल गुरुजन प्राचीन
आब भेलहुं हम आयु विहीन।
सिमटु सिमटु निज लोचन नीर
ककरहु काल न राखथि थीर।
विद्यापति सुगतिक प्रस्ताव
त्यागि के करुना रसक स्वभाव।

के अंतिम दो पंक्तिओ से यह मालूम होता है, कि विद्यापति ने अब तक (अर्थात् २९६+३२=३२८ ल० स०=१४४७ ई०) केवल शृंगाररस में ही अपना समय लगाया था। किंतु शृंगार ही से सुगति नही मिल सक्ती यह जान कर इस के बाद कवि ने मोक्षमार्ग के निमित्त अपनी कवित्व-शक्ति की शरण ली और मोक्षदाता शिव के ही भजनो में अवशिष्ट समय लगाया। इसी समय इन्हो ने गंगा जी (जिन का शिव से घनिष्ठ संबंध है) की भी कविताएँ बनाईं।

इन्ही दिनो की कुछ विरक्ति की कविताऐं भी बडी रोचक है तथा इन से यह भी मालूम होता है, कि कवि ने शृंगारिक रचना ही में अधिक समय लगाया था।

माधव, हम परिनाम निरासा।
तुहु जगतारन दीन दयामय अतए तोहर विसवासा।
आध जनम हम नींद गमायनु जरा सिसु कत दिन गेला।
निधवन रमनि रभसरंग मातनु तोहे भजब कओन बेला।[१]

बाद को भी हम विस्तृत स्वरूप में कहेंगे और अभी भी संक्षेप में यह कहते है कि जितनी कविताएँ राधाकृष्ण को लेकर कवि ने बनाईं प्राय सभी शृंगारिक हैं और कवि ने संसार के स्त्री पुरुष को राधाकृष्ण के नाम से अन्योक्ति-रूप में मिथिला देशीय सब प्रकार के मनुष्यो के उचित आचार-विचार तथा व्यवहार के अनुकूल शृंगारिक मात्र सभी बातो का संग्रह अपने पदो में किया है। राधाकृष्ण के नाममात्र से यह कभी न समझना चाहिए कि लेखक केवल भक्तिरस की चरम काष्ठा पर पहुँच जीव ब्रह्म के ऐक्य ही को शृंगारिक

[१] यह कविता मैं ने कुमार गंगानदसिंह के संस्करण से उद्धृत की है।

शब्दो में कह रहा है। हमें उन भावो को कवि के प्रत्येक शब्दो को ले कर मनन करना चाहिए कि किस उद्देश्य से कवि ने लिखा है। इस से मैं यह कभी नही कहता कि विद्यापति के मन में हरि भगवान् की भक्ति न थी या किन्ही एक या दो कविताओ में उन्हो ने भगवान् के यथार्थ स्वरूप को लक्ष्य न किया हो किंतु प्राय कर के सभी कविताएँ एकमात्र लौकिक प्रेम के ही अग-प्रत्यग स्वरूप है।

इसी बात को कवि ने उक्त पदो में सूचित भी किया है। कहते है कि हे माधव ! मेरा अत भविष्य शून्यमय, निरास अभी देख पडता है। क्यो कि जीवन का आधा समय तो मैं ने आँख मूँद कर सासारिक बातो ही में व्यतीत किया अर्थात् भगवान् का भजन मैं ने नही किया। कुछ समय तो बालकपन ही में गया और कुछ वृद्धावस्था ने खाया, अवशिष्ट में मैं शृगाररस के पीछे पागल था। बताओ ! अब मैं तुम्हारा कब भजन करूँ। अब तो समय नही है। परतु भगवन् ! एकमात्र आशा यह है कि तुम दीनो के प्रति दयामय हो, ससार से दुखिओ का उद्धार करनेवाले हो। इसी लिए तुम्हारा विश्वास है कि मुझ पर भी दया करोगे और ससार से मुक्ति दोगे।

इसी भावना को कवि ने वृद्धावस्था के यथार्थ रचनाओ में स्पष्ट किया है —

ए हरि वन्दो तुअ पद नाय।
तुअ पद परिहरि पाप पयोनिधि पारक कओन उपाय॥
जावत जनम नहिं तुअ पद सेविनु जुवती मतिमय मेलि।
अमृत तजि किए हलाहल पीअनु सम्पद अपदहि भेलि॥

इस प्रकार का पश्चात्ताप वह कभी नही करते, यदि जब से उन्हो ने रचना आरभ की तब से केवल भगवान् की भक्ति ही में डूबे रहते और सच्चिदानद-सागर ही में डूब-डूब कर कवितारूपी मोतिओ को बाहर बिखेरते रहे होते। यह तो स्पष्ट मालूम होता है कि कवि ने अपने जीवन के अधिकाश समय को ससार ही के सुख-दुख में लगाया और अब पश्चात्ताप कर रहे है। भक्त को आरभ में पश्चात्ताप होता है और होना सभव भी है किंतु यदि वह सालो भक्ति समुद्र में डूबा रहे तो पश्चात्ताप बाद को होना असभव ही मालूम होता है।

(अपूर्ण)